



SA-06



वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

वेद, उपनिषद् तथा भारतीय दर्शन



©_mZ_hndra Wbn {díd{útb, HshoQm

dbX, Ch{ZEX² Wbn ^máVr` XecZ

mr>H\$ {ZnOUg{V

AÜ` j

àncga (Saf.) ZaeXMM

H\$V

dOnZ_hnka lwn {dic{durb, H\$Qm

g`moH\$ / g`ydlH\$ E\$S gfi

ànc. (Saf.) Jbedubgwa

ran@v (gfiH\$)

dOnZ_hnka lwn {dic{durb, H\$Qm
(aOfwZ)

Saf. jVnMvAr

gmH\$ - Amn© (A\$KQ-(dhu)

dOnZ_hnka lwn {dic{durb, H\$Qm
(aOfwZ)

gfi

1 **Saf. gfmogdr**
n@jAmn©, gfiH\$-(dhu)
O`Zman U`ing {dic{durb, On@wa
{Zae\$
dOnZ_hnka lwn {dic{durb`
j@r` H\$D`O`wa (aOfwZ)

3 **ànc. -g/H\$ra`A**
Amn©E\$ AÜ`j, gfiH\$-(dhu)
Jw@v {dic{durb, Ah_XmK

4 **Saf. an@vM@so**
gAmn©, gfiH\$Vgn{E`-(dhu)
an`x` gfiH\$/gfiZ
(m{ZV {dic{durb) O`wa n[aga, O`wa

2 **Saf. g@e@e@e@e**
gAmn©, gfiH\$-(dhu)
O`Zman U`ing {dic{durb, On@wa

5 **Saf. àndvMvAr**
gAmn©, gfiH\$-(dhu)
O`Zman U`ing {dic{durb, On@wa

g@mKZ E\$S mr> k@Z

g@mK\$

ànc. -zNAKdib

Amn©, gfiH\$-(dhu)

aOfwZ {dic{durb, O`wa (aO.)

k@H\$

1 **Saf. @yan** H\$E@1, 2, 3, 4
Ch@mn©
{Cm {ejn E\$ a{eJU gfiMZ (DIET)
On@wa

3 **Saf. N@ghaRqS** H\$E@9, 10
j@r` H\$@gmH\$, -m@AÜ`ZH\$E
O`Zman U`ing {dic{durb`
On@wa

2 **Saf. avrXMM** H\$E@5, 6, 7, 8
AZK@H\$, w\$ru@m@nR`²
an`x` gfiH\$V gfiMZ (m{ZV {dic{durb)
Z@{Ar

AHŠIK[HŠ EŠ àeng{ZHŠ i`dVn

à. (Saf.) Zae XMM
HšmV
d©nZ hda lwn {d(d)ub, Hšom

à. (Saf.) E. HŠ. KŠa(b)im
{ZaŠ
gššn {d(a)J

imDŠ imb
àar
mR>` gnJr CŠmZ EŠ {d(a)J

mR>HŠ CŠmZ

imDŠ imb
gmHŠ CŠmZ Aššar
d©nZ hda lwn {d(d)ub, Hšom

CŠmZ : AJŋV 2010 ISBN No.: 13/978-81-8496-240-6

g(e)š(a)g(j) : BgnJr HŠ {Hš r AŠ HŠ d©nZ hda lwn {d(d)ub, HšomHŠ {b(VAšw{VHŠ {-zn {Hš r šn_|
"({ nknŠ' (MŠšw) HŠ ūan mAVmrvZ àwHšZohšAw{VZthš
Hšom, d_lw {d(d)ub, Hšom ūan d©nZ hda lwn {d(d)ub, HšomHŠ {bò wšV EŠ àš(šw.
Xr Sm šš {pQ>Jàg, Ōwa ūan 50 à{vš wšw



द्विचर इन्द्रात्मनो (द्विचर, हिन्दु)

अक्षर (अक्षर)

द्विचर, द्विचर² इन्द्रात्मनो

अक्षर	अक्षर (अक्षर)	पृष्ठ संख्या
द्विचर		
अक्षर 1	द्विचर ² (अक्षर ²)	1-34
अक्षर 2	द्विचर ² (अक्षर ²)	35-55
अक्षर 3	द्विचर ² , द्विचर ² (अक्षर ²)	56-75
द्विचर²		
अक्षर 4	द्विचर ² , द्विचर ² (अक्षर ²)	76-86
अक्षर 5	द्विचर ² , द्विचर ² (अक्षर ²)	87-112
अक्षर 6	द्विचर ² , द्विचर ² (अक्षर ²)	113-122
अक्षर 7	द्विचर ² , द्विचर ² (अक्षर ²)	123-133
द्विचर²		
अक्षर 8	द्विचर ²	134-147
अक्षर 9	द्विचर ² द्विचर ² (अक्षर ²)	148-161
अक्षर 10	द्विचर ² द्विचर ² (अक्षर ²)	162-168

वेद : ऋग्वेद से चयनित सूक्त

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 अग्नि सूक्त (1.1)
- 1.3 विष्णु सूक्त (1.54)
- 1.4 इन्द्र सूक्त (2.12)
- 1.5 हिरण्यगर्भ सूक्त (10.121)
- 1.6 संज्ञान सूक्त (10.191)
- 1.7 सारांश
- 1.8 शब्दावली
- 1.9 बोध प्रश्न
- 1.10 उपयोगी पुस्तकें
- 1.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययनोपरान्त शिक्षार्थी निम्न जानकारियों से परिचित हो सकेंगे।

1. शिक्षार्थी ऋग्वेद की ऋचाओं से परिचित हो सकेंगे।
2. शिक्षार्थी ऋग्वेद में निहित विषय वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
3. शिक्षार्थी अग्नि, विष्णु, इन्द्र, हिरण्यगर्भ एवं संज्ञान सूक्तों के मंत्रों का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
4. इन सूक्तों के ससंदर्भ अनुवाद तथा सूक्तों में आये विशिष्ट शब्दों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

वेद का महत्त्व हमारे देश में ही नहीं अपितु विश्व में भी है। भारतीय परम्परा वेदों को अपौरुषेय मानती रही है। वैदिक-साहित्य में ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन रचना है तथा महत्त्वपूर्ण भी है। भारतीय ऋषियों ने जो अनुभव किया, उसका संकलन, वेदों में भी मिलता है।

जिस पर मनन किया जाए उसे मन्त्र कहते हैं। सामान्य अर्थ में इस प्रकार भी कहा जाता है कि जो किसी देवता की स्तुति के लिए प्रयुक्त हो उसे मन्त्र कहते हैं। मन्त्र को ऋक् या ऋचा भी कहा जाता है। ऋग्वेद मंत्रों का संकलन है, जो ऋषियों ने किया है, किन्तु यह किसी एक व्यक्ति का कार्य नहीं है, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा मनन किया हुआ सारतत्त्व ही संकलित किया जाता है।

परम्परा के अनुसार ऋग्वेद की बहुत सी शाखाएँ मानी जाती हैं, किन्तु बहुत सा साहित्य नष्ट हो चुका है अतः शाखाएँ भी लुप्त हो गईं। व्याकरणाचार्य पंतजलि ने ऋग्वेद की शाखाओं का वर्णन किया है—

‘एकविंशतिधाबाह्यर्चम्।’

भर्तृहरि के अनुसार ऋग्वेद की 15 शाखाएँ थीं। भगवतदत्त वैदिक 27 शाखाओं का उल्लेख करते हैं।

भागवत महापुराण में एक उल्लेख आया है कि महर्षि व्यास ने अपने शिष्यों को वेद पढाया। इसके बाद इनके शिष्य प्रशिष्यों ने वेद का बहुत प्रचार किया। 'चरणव्यूह' के अनुसार ऋग्वेद की मात्र 5 शाखाएँ थीं— शाकल, वाष्कल, शाखायन, माण्डूकायन। इनमें से आज शाकल शाखा उपलब्ध है। वाष्कल शाखा अपने आप में अपूर्ण है। शाकल शाखा के कुल 1017 सूक्त पाए जाते हैं। यदि बाल्यखिल के 11 सूक्त मिला दिये जाए तो उनकी संख्या 102 हो जाती है। इस प्रकार ऋग्वेद में कुल 102 सूक्त होते हैं।

ऋग्वेद के निर्धारित सूक्तों के मंत्रों का ससन्दर्भ अनुवाद एवं विशिष्ट शब्दों की टिप्पणी

1.2 अग्नि-सूक्त (1.1)

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।

होतारं रत्नधातमम् ॥ 1 ॥

अन्वय — यज्ञस्य पुरोहितम्, देवम्, ऋत्विजम्, होतारम्, रत्नधातमम् अग्निम् ईले।

संदर्भ — प्रस्तुत मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त अग्नि-सूक्तम् से अवतरित है। इसके देवता अग्नि हैं तथा ऋषि विश्वामित्र हैं। इस मंत्र में गायत्री छन्द है। ऋषि ने इस मन्त्र में अग्नि देवता के वैशिष्ट्य का वर्णन किया है—

अनुवाद — यजमान की कामनाओं को पूरा करने वाले, यज्ञ के पुरोहित, दान आदि गुणों से सम्पन्न, देवताओं के ऋत्विक् एवं होता, रत्नों अर्थात् यज्ञ के परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाले श्रेष्ठ पदार्थों को धारण करने वाले अग्नि देवता की मैं विश्वामित्र स्तुति करता हूँ।

टिप्पणी —

- (i) अग्निम् — 'इण्' धातु से निष्पन्न 'अयन' शब्द से 'अ' का, 'दह' धातु से निष्पन्न 'दग्ध' शब्द से 'ग्' का और 'नी' धातु को ह्रस्व करके 'नि' का ग्रहण कर 'अग्नि' शब्द निष्पन्न होता है। अतः इस शब्द में तीन भाव सन्निहित हैं— गतिशील, जलाने वाला तथा सन्मार्ग पर ले जाने वाला। एक अन्य व्युत्पत्ति 'अग्नि' धातु से 'नि' प्रत्यय करके मानी गई है।
- (ii) ईले — 'ईल् स्तुतौ' धातु, लट्लकार, उत्तम पुरुष एकवचन।
- (iii) पुरोहितम् — पुरस्+धा+क्त। 'धा' को 'हि' आदेश होता है।
- (iv) यज्ञस्य — यज् + नङ्। षष्ठी विभक्ति एकवचन का रूप।
- (v) रत्नधातमम् — रत्नानां धाता = रत्न + धा + क्विप् = रत्नधा। तमप् प्रत्यय जोड़ने पर 'रत्नधातमम्' बनता है।
- (vi) मैकडोनल ने 'ईले' का अर्थ 'महत्त्व का गान करता हूँ' (Magnify) किया है। यास्क ने इस शब्द का अर्थ 'प्रार्थना करता हूँ' किया है।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।

स देवां एह वक्षति ॥ 2 ॥

अन्वय — अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्यः उत नूतनैः। स इह देवान् आवक्षति।

शब्दार्थ — पूर्वेभिः = प्राचीन। ऋषिभिः = ऋषियों के द्वारा। ईड्य = स्तुति किया जाता है। उत = और। नूतनैः = नवीन। इह = इस यज्ञ में। आवक्षति = प्राप्त करायें।

संदर्भ — प्रस्तुत मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त 'अग्नि-सूक्त' है। इसके देवता अग्नि, ऋषि विश्वामित्र तथा छन्द गायत्री है। अग्नि देवता की स्तुति प्राचीन व नवीन ऋषियों द्वारा की जाती है। वह यज्ञ में देवताओं को लाने वाला है, इस बात का वर्णन प्रस्तुत मन्त्र में करते हुए ऋषि विश्वामित्र कहते हैं कि —

अनुवाद— यह अग्नि देवता प्राचीन भृगु, अंगिरा आदि ऋषियों द्वारा स्तुति किया जाता है तथा अब नवीन हम विश्वामित्र आदि ऋषियों द्वारा भी स्तुति किया जाता है। वह अग्नि इस यज्ञ में देवताओं को प्राप्त (उपलब्ध) कराए।

टिप्पणी—

- (i) पूर्वभि— यह वैदिक रूप है। लौकिक रूप 'पूर्वः' है।
- (ii) ईड्य — ईड् + यत्।
- (iii) वक्षति — 'वह्' धातु से लोट् लकार के अर्थ में लट् लकार तथा छान्दस 'य' का लोप। कतिपय विद्वान 'लोट् लकार का रूप मानते हैं।
- (iv) 'उत्' का प्रयोग यहाँ समुच्चय के अर्थ में हुआ है।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे।

यशसं वीरवत्तमम् ।।3।।

अन्वय — अग्निना दिवेदिवे एव पोषम् यशसम् वीरवत्तमम् रयिम् अश्नवत्।।

शब्दार्थ — दिवेदिवे — प्रतिदिन। पोषम् — पोषण को प्राप्त होने वाले। यशसम्— यश को प्राप्त होने वाले। वीरवत्तमम्— पुत्र, भृत्य आदि वीरों से अत्यधिक युक्त। रयिम्— धन को। अश्नवत्— प्राप्त करता है।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के अग्नि सूक्त से उद्धृत है। यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त है। इसके देवता अग्नि, ऋषि विश्वामित्र तथा छन्द गायत्री है। अग्नि से यजमान क्या प्राप्त करता है— यह इस मन्त्र में ऋषि ने प्रतिपादित किया है—

अनुवाद— स्तुति किये जाते हुए अग्नि से यह यजमान प्रतिदिन ही निरन्तर पोषण को प्राप्त होने वाले, दान आदि के द्वारा यश को प्राप्त होने वाले तथा पुत्र, भृत्य आदि वीरों से अत्यधिक युक्त धन को प्राप्त करता है।

टिप्पणी—

- (i) दिवे दिवे — दिव शब्द से सप्तमी का एकवचन। 'नित्यवीप्सयोः सूत्र से यहाँ द्वित्व हुआ है।
- (ii) अश्नवत् — अश् धातु, लोट् लकार, 'तिय्' के 'इ' का लोप और 'अट्' का आगम।
- (iii) पोषम् — पुष् + छञ् प्रत्यय — पोषा।
- (iv) यशसम् — यशः अस्य अस्ति अर्थ में 'अच्' प्रत्यय। यशस् + अच् — यशस।
- (v) मैकडोनल ने 'यशसम्' का अर्थ 'कीर्तिकारक या प्रकाश कारक' (Glorious) किया है।
- (vi) गायत्री छन्द में 24 अक्षर होते हैं, 8-8 अक्षर के तीन चरण होते हैं।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं, विश्वतः परिभूरसि।

स इन्द्र देवेषु गच्छति ।।4।।

अन्वय — अग्ने। यम् अध्वरम् यज्ञम् विश्वतः परिभूः असि स इत् देवेषु गच्छति।

शब्दार्थ — अध्वरम्— हिंसा से रहित यज्ञ को। विश्वतः — सभी दिशाओं में। परिभूः असि — व्याप्त कर रहे हो। स इत् — वही यज्ञ। देवेषु — देवताओं को भी। गच्छति — प्राप्त होता है।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त 'अग्नि-सूक्त' से उद्धृत है। इस मंत्र में विश्वामित्र ऋषि ने अग्नि के निमित्त सभी दिशाओं में किये जाने वाले यज्ञों का वर्णन किया गया है।

अनुवाद— हे अग्ने। तुम जिस हिंसा से रहित यज्ञ को सभी दिशाओं में प्राप्त कर रहे हो, वही यज्ञ

देवताओं को भी तृप्ति के लिए प्राप्त होता है।

टिप्पणी—

(i) अध्वरम् — न विद्यते ध्वरः हिंसा यत्र स अध्वरः।

(ii) विश्वतः — विश्व : तसिल्।

(iii) मैक्डोनल ने 'यज्ञ' का अर्थ पूजन (worship) और 'अध्वर' का अर्थ 'यज्ञ' (Sacrifice) किया है।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।

देवो देवेभिरागमत् ॥ 5 ॥

अन्वय — होता, कविक्रतुः सत्यः चित्रश्रवस्तमः देवः अग्निः देवेभिः आगमत् ॥।

शब्दार्थ — होता— होम को निष्पन्न करने वाला। कविक्रतुः — अतीत तथा अनागत कर्मों को जानने वाला। सत्यः मिथ्या से रहित। चित्राश्रवस्तमः — विविध प्रकार की कीर्ति से युक्त। देवेभिः — अन्य देवों के साथ। आगमत् — आये।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम अग्नि-सूक्तम् से उद्धृत है। इसके देवता अग्नि, ऋषि विश्वामित्र है। इसमें गायत्री छन्द है। ऋषि ने अग्नि देवता को अन्य देवताओं के साथ यज्ञ में आमन्त्रित किया है —

अनुवाद—होम को निष्पन्न करने वाला, अतीत और अनागत यज्ञ आदि कर्मों को जानने वाला, मिथ्या से रहित, विविध प्रकार की कीर्ति से युक्त होता हुआ, दिव्य गुणों से सम्पन्न यह अग्नि देवता अन्य देवताओं के साथ यज्ञ में आए।

टिप्पणी—

(i) कविक्रतु — कविः क्रतु यस्य सः (बहुव्रीहि समास) अथवा कविश्चासौ क्रतुः (कर्मधारय समास)।

(ii) चित्रश्रवस्तम — श्रूयते इव श्रवः कीर्तिः। चित्रं श्रवः यस्य स चित्रश्रवः। चित्रश्रव + तमप् — चित्रश्रवस्तमः।

(iii) आगमत् — आगच्छतु अर्थ में लोट् लकार का वैदिक रूप।

(iv) सत्य — सत्सु साधु अर्थ में निपातनात् निष्पन्न।

(v) मैक्डोनल ने 'होता' का अर्थ 'आह्वान करने वाला' (Invoker) और 'कविक्रतु' का अर्थ 'बुद्धि से युक्त बुद्धिमान' (of wise intelligence) किया है।

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।

तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥ 6 ॥

अन्वय — अङ्ग अग्ने! यत् त्वम् दाशुषे भद्रम् करिष्यसि, तव तत् इत्। अङ्गिरः सत्यम् ॥।

शब्दार्थ —अङ्ग— हे, अरे! दाशुषे— हवि का दान करने वाले यजमान के लिए। भद्रम्— कल्याण करने वाले पदार्थ। करिष्यसि— प्रदान करोगे। अङ्गिरः — अङ्गिरा मुनि को जन्म देने वाले।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम 'अग्नि-सूक्त' से उद्धृत है। इसके देवता अग्नि, ऋषि विश्वामित्र तथा छन्द गायत्री है। इसमें विश्वामित्र ऋषि ने अग्नि के वैशिष्ट्य का वर्णन किया है, उसे अङ्गिरा मुनि को जन्म देने वाला तथा यजमान का कल्याण करने वाला बतलाया है —

अनुवाद— हे अग्ने! जो भी तुम हवि का दान करने वाले यजमान के लिए धन, गृह, प्रजा, पशु आदि कल्याण करने वाले पदार्थ प्रदान करोगे, वे सब तुम्हारे ही हैं। हे अङ्गिरा मुनि को जन्म देने वाले अग्नि-देवता!

यह बात सत्य ही है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

टिप्पणी—

- (i) दाशुषे — यह चतुर्थी विभक्ति के एकवचन का रूप है। 'दाशृदाने' धातु से 'क्वसु' प्रत्यय लगने पर यह शब्द बनता है।
- (ii) अङ्गिर — 'गत्यर्थक अगि' धातु से औणादिक 'इरच्' प्रत्यय के योग से यह शब्द बना है।
- (iii) मैकडोनल ने 'दाशुषे' का अर्थ 'पूजन करने वाले के लिए' (For the worshiper) किया है। छन्द की पूर्ति के लिए प्रथम पाद में 'त्वम्' को 'तुवम्' पढ़ना चाहिए।

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।

नमो भरन्त एमसि ॥ 7 ॥

अन्वय — अग्ने। वयम् दिवेदिवे दोषावस्तः धिया नमः भरन्तः उप त्वा आ इमसि ॥

शब्दार्थ — दिवेदिवे— प्रतिदिन। दोषावस्तः — रातदिन। धिया — उत्तम बुद्धि से। नमो भरन्तः — नमस्कार करते हुए। एमसि — आते हैं।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अग्नि-सूक्त से उद्धृत है। यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त है। इसके देवता अग्नि तथा ऋषि विश्वामित्र हैं। ऋषि अग्नि-देवता को सम्बोधित करते हुए कह रहे हैं —

अनुवाद— हे अग्नि देव! हम यज्ञ के अनुष्ठाता प्रतिदिन और दिन-रात उत्तम बुद्धि से नमस्कार करते हुए तुम्हारे समीप आते हैं।

टिप्पणी—

- (i) दोषावस्तम् — दोषा च वस्तः च दोषावस्तम्। द्वन्द्व समास।
- (ii) भरन्त — भृ + शतृ — भरत्, प्रथमा विभक्ति का बहुवचन।
- (iii) इमसि — 'इण् गतौ' धातु से लट् लकार, उत्तम पुरुष बहुवचन।
- (iv) मैकडोनल ने 'दोषावस्तः' को अग्नि का विशेषण मानकर सम्बोधन वाचक कहा है तथा इसका अर्थ किया है। Illuminer of gloom.

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।

वर्धमानं स्वे दमे ॥ 8 ॥

अन्वय — राजन्तम्, अध्वराणाम् गोपाम्, ऋतस्य दीदिविम्, स्वे दमे वर्धमानम् ॥

शब्दार्थ — राजन्तम्— प्रकाशमान होते हुए। अध्वराणाम्— हिंसा रहित यज्ञों के। गोपाम्— रक्षक। ऋतस्य— सत्य कर्म फलों के। दीदिविम्— पुनः पुनः प्रकाशित करने वाले। वर्धमानम्— बढ़ाने वाले। स्वे— अपने। दमे— घर, यज्ञशाला में।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त अग्नि सूक्त से अवतरित है। इसमें ऋषि विश्वामित्र ने अग्नि के विशेषणों का उल्लेख करते हुए उसके समीप जाने की बात कही है—

अनुवाद— प्रकाशमान होते हुए, हिंसा रहित यज्ञों के रक्षक, सत्य कर्मफलों को पुनः पुनः प्रकाशित करने वाले तथा अपने गृह यज्ञशाला में बढ़ने वाले (अग्नि के समीप हम जाते हैं)।

टिप्पणी —

- (i) दीदिविम् — यङ् लुगन्त 'दिव्' धातु से 'कि' प्रत्यय करने पर बना रूप।
- (ii) मैकडोनल ने 'अध्वराणाम्' का सम्बन्ध 'राजन्तम्' के साथ करके 'यज्ञों पर शासन करने वाला'

(Ruling over the sacrifices) अर्थ किया है। उसने 'ऋतस्य दीदिविम् गोपाम्' का अर्थ किया है—
'Shining guardian of order'

स नः पितेव सूनवे, अग्ने सूपायनो भव।

सचस्वा नः स्वस्तये ॥ 9 ॥

अन्वय — सः अग्ने। सूनवे पिता इव न सूपायनः भव। नः स्वस्तये सचस्व।

शब्दार्थ — सूनवे— पुत्र के लिए। सूपायनः—सुप्राप्य, कल्याण करने वाला। सचस्व— साथ रहो।
स्वस्तये— कल्याण के लिए।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अग्नि-सूक्त का अन्तिम मंत्र है। यह सूक्त ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त है। इसके देवता अग्नि, ऋषि विश्वामित्र तथा छन्द गायत्री है। इसमें ऋषि विश्वामित्र ने अग्नि देव से यजमान के लिए सुप्राप्य एवं कल्याणकारी बनने की कामना की है—

अनुवाद— हे अग्नि देव! जिस प्रकार पिता पुत्र के लिए सुप्राप्य और कल्याण करने वाला होता है, उसी प्रकार तुम भी हमारे लिए सुप्राप्य बनो तथा हमारे कल्याण के लिए हमारे साथ रहो।

टिप्पणी—

(i) सूपायनः — शोभनः उपायनः यस्य सः। सु+उप+इ (इण्) + ल्युट् (अन)।

(ii) सचस्व — 'ष च्' धातु, लोट् लकार, मध्यम पुरुष, एकवचन। 'ऋचि तू नू' से यह दीर्घ हुआ है।

(iii) मैकडोनल ने 'सचस्व' का अर्थ 'साथ रहना' (Abide with) किया है।

1.3 विष्णुः — सूक्तम् (1.154)

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं

यः पार्थिवानि विममे रजांसि।

यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं

विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ 1 ॥

अन्वय — (हे नराः) विष्णोः वीर्याणि नु कम् प्रवोचं, त्रेधा विचक्रमाणः यः पार्थिवानि रजांसि विममे, उरुगायः यः उत्तरं सधस्थं अस्कभायत्।

शब्दार्थ — विष्णोः—विष्णु के। वीर्याणि— पराक्रम का। नुकम्— शीघ्र। प्रवोचम्— वर्णन करता हूँ। त्रेधा— तीन प्रकार से। विचक्रमाणः— विचरण करते हुए। यः— जिस विष्णु ने। पार्थिवानि— पृथ्वी आदि। रजांसि— लोकों का। विममे— निर्माण किया, बनाया। उरुगायः— जन समूह द्वारा प्रशंसित। यः— जिस विष्णु ने। उत्तरं— अधिक ऊँचे। सधस्थम्— लोकों का। अस्कभायत्— बनाया है।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल से अवतरित है। यह प्रथम मण्डल का 154 वाँ सूक्त है। इसके देवता विष्णु, ऋषि दीर्घतमा तथा छन्द त्रिष्टुप् है। ऋषि ने इस मंत्र में विष्णु के पराक्रम का वर्णन किया है।

अनुवाद— मैं विष्णु के पराक्रम का शीघ्र वर्णन करता हूँ। तीन प्रकार से विचरण करते हुए जिस विष्णु ने पृथ्वी आदि लोकों का निर्माण किया है, जनसमूह द्वारा प्रशंसित जिस विष्णु ने अधिक ऊँचे लोकों को बनाया है।

टिप्पणी—

(i) विष्णोः— 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से 'विष् + नु'— विष्णु। विष्णो— षष्ठी विभक्ति के एकवचन का रूप है।

(ii) प्रवोचम्— 'प्र + वच्' धातु लङ् लकार, उत्तम पुरुष एकवचन।

(iii) पार्थिवानि— पृथिवी + अण्— पार्थिव। बहुवचन का रूप है।

- (iv) अस्कभायत् – ‘स्कम्भ’ धातु लङ् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन। यहाँ ‘श्ना’ को वैदिक ‘शायच्’ आदेश हुआ लोक में ‘अस्कम्भनात्’ रूप होगा।
- (v) विचक्रमाणः – वि + क्रम् धातु से लिट् के अर्थ में ‘कानच्’ प्रत्यय।
- (vi) उरुगाय– ‘उरुभिः गीयते’ अर्थ में ‘उरु + गै + अच्।’
- (vii) त्रेधा विचक्रमाण– का अर्थ पीटर्सन ने ‘तीन डगों में परिक्रमा करते हुए’ किया है।
- (viii) छन्द की पूर्ति के लिए ‘वीर्याणि’ का ‘वीरियाणि’ एवं ‘त्रेधा’ का ‘त्रयेधा’ उच्चारण करना चाहिए।

प्र तद्धिष्णु स्तवते वीर्येण

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्व-

धिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ 2 ॥

अन्वय – यस्य उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु विश्वा भुवनानि अधिक्षियन्ति तत् विष्णुः वीर्येण प्रस्तवते, भीमः कुचरः गिरिष्ठाः मृगः न॥

शब्दार्थ – यस्य– जिसके। उरुषु– विस्तीर्ण, बड़े। त्रिषु– तीन। विक्रमणेषु– पाद विन्यासों। विश्वा– सम्पूर्ण। भुवनानि– लोक। अधिक्षियन्ति– निवास करते हैं। तत्– वह विष्णु। वीर्येण– अपने पराक्रम के कारण। प्रस्तवते– प्रशंसा किया जाता है। भीमः – भयानक। कुचरः कुत्सित हिंसा आदि कार्य करने वाला। गिरिष्ठाः – पर्वतों में रहने वाला। मृगः – सिंह। न– जैसे।

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 154 वें विष्णु सूक्त से उद्धृत है। इसके देवता विष्णु, ऋषि दीर्घतमा तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इसमें विष्णु के वीर कार्यों के कारण उनकी प्रशंसा किये जाने का वर्णन किया गया है–

अनुवाद– जिस विष्णु के विस्तीर्ण लम्बे तीन डगों में सम्पूर्ण लोक आ जाते हैं या आश्रय लेकर निवास करते हैं, उस विष्णु की वीर कार्यों से स्तुति उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार भयानक, कुत्सित हिंसा आदि कार्य करने वाले, पर्वत आदि उन्नत प्रदेशों में रहने वाले सिंह आदि की स्तुति की जाती है।

टिप्पणी–

- (i) स्तवते – ‘स्तु’ धातु से कर्म कारक में लट् लकार, प्रथम पुरुष, एकवचन।
- (ii) कुचर – कु + चर् + ट।
- (iii) गिरिष्ठा – गिरिषु तिष्ठति अर्थ में – गिरि + स्था + क्विप्।
- (iv) विश्वा – प्रथम विभक्ति, बहुवचन। लोक में ‘विश्वानि’ रूप बनता है।
- (v) कुचर– इसके अर्थ के संदर्भ में मतभेद है। सायण ने इसका अर्थ ‘कुत्सित हिंसा आदि कर्म करने वाला’ किया है। पीटर्सन के अनुसार इसका अर्थ है– ‘स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करने वाला।’
- (vi) सायण के अनुसार ‘गिरिष्ठाः’ का अर्थ ‘उन्नत प्रदेश में रहने वाला’ है। पीटर्सन ओर मैकडानल ने इसका अर्थ ‘पर्वतों में विचरण करने वाला’ किया है।
- (vii) छन्द की दृष्टि से ‘वीर्येण’ को ‘वीरियेण’ तथा ‘विक्रमणेष्वधि’ को ‘विक्रमणेषु अधि’ पढ़ना चाहिए।

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म

गिरिक्षत उरुगायाय वृष्णे।

य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थ-

मेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः ॥ 3 ॥

अन्वय — गिरिक्षते उरुगायाय वृष्णे विष्णवे शूषम् मन्म एतु, यः एकः इत् त्रिभिः पदेभिः इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थं विममे ॥

शब्दार्थ — गिरिक्षते— पर्वत पर निवास करने वाले। उरुगायाय— विस्तृत कीर्ति वाले। वृष्णे— कामनाओं के वर्षक। विष्णवे— सर्वव्यापक विष्णु के लिए। शूषम्— बलयुक्त। मन्म— स्तोत्र। एतु— पहुँचे। यः — जिसने। एकः — अकेले। इत्— ही। त्रिभिः — तीन। पदेभिः — पदों के द्वारा। इदं दीर्घं— इस विस्तृत। प्रयतं— निश्चित। सधस्थम्— लोकत्रयी को। विममे— बनाया।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 154 वें विष्णु सूक्त से उद्धृत है। ऋषि को विश्वास है कि उसकी प्रार्थना सर्वव्यापक विष्णु के पास पहुँचती है—

अनुवाद— पर्वत पर निवास करने वाले, विस्तृत कीर्ति वाले, कामनाओं के वर्षक, सर्वव्यापक (विष्णु) के लिए मेरी बलवती प्रार्थना पहुँचे। जिसने बिना किसी की सहायता के अकेले ही तीन पदों में इस विस्तृत लोकत्रयी को बनाया या लोकत्रयी को तीन डगों में नाप लिया था।

टिप्पणी — एतु — इ + लोट् प्रथम पुरुष एक वचन। विममे— वि+मा+लिट् प्रथम पुरुष एकवचन।

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्य

क्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।

य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्याम्

एको दाधार भुवनानि विश्वा ॥ 4 ॥

अन्वय — अक्षीयमाणाः यस्य मधुना पदानि (मानवान्) स्वधया मदन्ति यः एकः (एव) (पृथिवी जल तेज) त्रिधातु पृथिवी उत द्यां विश्व भुवनानि च दाधार।

शब्दार्थ — यस्य— जिस विष्णु के। मधुना— मधुर अमृत से। पूर्णा— भरे हुए। त्रि पदानि— तीन पद। अक्षीयमाणा— क्षीण न होते हुए। स्वधया— अन्न के द्वारा। मदन्ति— आनन्दित करते हैं। यः एकः — जिस अकेले ने ही। द्यां— द्यु लोक को। त्रिधातु— तीन धातुओं। दाधार— धारण करता है।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के एक सौ चौपनवें सूक्त से उद्धृत है। इस सूक्त की छः ऋचाओं में भगवान विष्णु की महत्त्वाकांक्षाओं का स्तुति के रूप में वर्णन किया गया है। विष्णु की सबसे बड़ी विशेषता उसके तीन पाद निक्षेप है। विष्णु विस्तीर्ण, व्यापक तथा अप्रतिहत गतिवाले है। ऋषि उसकी स्तुति में कहता है।

अनुवाद— कभी समाप्त न होने वाले जिसके मधुपूर्ण तीन कदम मनुष्यों को अपनी शक्ति से आनन्दित करते हैं। जो अकेले है पृथिवी, जल और तेज रूप तीन धातुओं पृथिवी, आकाश और सम्पूर्ण लोकों को धारण करते है। (उस विष्णु के पास मेरी शक्तिशाली प्रार्थना पहुँचे)

टिप्पणी— इसमें विष्णु देवता, दीर्घतमा ऋषि एवं त्रिष्टुप् छन्द है।

व्याकरण— अ + क्षी + शानच् — अक्षीयमाणा, घृ + लङ् प्र.पु.ए.व.— दाधार, भू+ल्युट् — भुवन, मद् + लट् प्र.पु.व.व.— मदन्ति।

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां

नरो यत्र देवयवो मदन्ति।

उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था

विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥ 5 ॥

अन्वय — अस्य प्रियं तत्पाथः अभिअश्याम्, यत्र देवयवः नरः मदन्ति । उरुक्रमस्य विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः, इत्था स हि बन्धुः ।

शब्दार्थ — अस्य— इस विष्णु के । तत्पाथः — उस लोक को । अभि अश्याम् — प्राप्त करूँ, पहुँचूँ । देवयवः — विष्णु देवता के भक्त । मदन्ति— आनन्दपूर्वक रहते हैं । उरुक्रमस्य— परम पराक्रम वाले । परमे पदे— परम पद में, लोक में । मध्व— मधु का । उत्सः — झरना । इत्था — इस प्रकार । बन्धुः भाई है ।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 14वें सूक्त से लिया गया है । इस सूक्त की छः ऋचाओं में भगवान विष्णु की महत्वाकांक्षाओं का स्तुति के रूप में वर्णन किया गया है । विष्णु की सबसे बड़ी विशेषता उसके तीन पाद प्रक्षेप है । विष्णु विस्तीर्ण व्यापक तथा अप्रतिहत गति वाले है । ऋषि उनकी महिमा को स्तुति के रूप में व्यक्त करते हुए कहते है ।

अनुवाद— इस विष्णु के उस प्रिय लोक को प्राप्त करूँ, जहां पर देवताओं के इच्छुक मनुष्य आनन्द करते है । विशाल गति वाले विष्णु के श्रेष्ठ लोक में एक मधु का सरोवर है । इस प्रकार निश्चित ही वह सबका मित्र है ।

टिप्पणी—

(i) इसमें विष्णु देवता, दीर्घतमस ऋषि एवं त्रिष्टुप छन्द है ।

(ii) यत्र विष्णु के तृतीय पद में अर्थात् स्वर्ग में जहां पर कि पितरगण यज्ञ के साथ सोम रस का पान करते है ।

व्याकरण— अदस् ष.ए.व. — अस्य, देवयु का प्र.ब.व — देवयवः, दिव + क्वच्, मद् + लट् प्र.पु.ब.व. — मदन्ति, इदम् + था — इत्था, विष्णु ष.ए.व. — विष्णोः

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै

यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः ।

अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः

परम पदमवभाति भूरि ॥ 6 ॥

अन्वय — यत्र भूरिश्रृङ्गाः गावः अयासः, वाम् ता वास्तूनि गमध्यै उश्मसि । अत्र आह उरुगायस्य वृष्णः तत् परमम् पदम् भूरि अव भाति ।

शब्दार्थ — भूरिश्रृङ्गाः — बड़े ऊँचे सींगों वाली । गावः — गायें, किरणें । अयासः — निवास करती हैं । वां — तुम्हारे लिए । तां वास्तूनि — उन स्थानों को । गमध्यै — जाने के लिए । उश्मसि — माना करते हैं । अत्र — यहाँ, अह— निश्चय से । उरुगायस्य— अति यशस्वी । वृष्णः — कामनाओं के दाता । भूरि — अत्यधिक । अवभाति — सुशोभित है ।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र में ऋषि दीर्घतमा ने विष्णु के परम पद में पहुँचने की कामना की है जहाँ पर अति भास्वर किरणें फैली हुई हैं— विष्णु के व्यापकत्व के विषयों में बताया है ।

अनुवाद— हम तुम्हारे लिए उन स्थानों को जाने की कामना करते हैं जहाँ अति भास्वर किरणें फैली हुई हैं । इस स्थान में ही अति यशस्वी विष्णु जो कि कामनाओं के दाता हैं, का वह परम पद सुशोभित है ।

टिप्पणी—

(i) गमध्यै — गम् धातु से 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में वैदिक 'अध्यैन्' प्रत्यय ।

(ii) अयास — 'इण् गतौ' धातु + अच् — अय । प्रथमा विभक्ति का बहुवचन, वैदिक रूप । पीटर्सन — न थकने वाली ।

(iii) उश्मसि — 'वश् कान्तौ' धातु + लट् लकार, उत्तम पुरुष बहुवचन । वैदिक रूप ।

- (iv) 'वाम्' – सायण ने यहाँ 'वाम्' का अर्थ 'यजमान और उसकी पत्नी' किया है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इस अर्थ को ठीक नहीं माना। उनके अनुसार यहाँ 'विष्णु' और उसके साथी 'इन्द्र' इन दो देवताओं का ग्रहण करना चाहिए।
- (v) मैकडोनल और पीटर्सन के अनुसार 'भूरिश्रृंगाः गावः का अर्थ अनेक सींगों वाली गायें हैं।'

1.4 इन्द्र सूक्तम् (2.12)

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्,

देवो—देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।

यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां,

नृम्णस्य महा स जनास इन्द्रः॥ 1॥

अन्वय – यः जातः एव प्रथमः मनस्वान् देवः क्रतुना देवान् पर्यभूषत्। यस्य शुष्मात् नृम्णस्य महा रोदसी अभ्यसेताम् जनासः स इन्द्रः।

शब्दार्थ – जात एवं— उत्पन्न होते ही। क्रतुना— अपने सामर्थ्य से। शुष्मात्— बल से। रोदसी— द्युलोक और पृथ्वी लोक। अभ्यसेताम्— कांपते हैं। जनासः – हे मनुष्यों!

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के बारहवें सूक्त से अवतरित है। इस सूक्त में ऋषि गृत्समद, देवता इन्द्र तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इन्द्र को राष्ट्रीय देवता कहते हैं जो मुख्य रूप से वर्षा का देवता है।

अनुवाद— जिस प्रधान बुद्धिमान देव ने उत्पन्न होते ही अपने पराक्रम से सर्वप्रथम देवताओं के ऊपर आधिपत्य पाया, दिव्यगुणों से युक्त होते हुए, जिसने यज्ञ से या वृत्र के वध आदि कर्मों से अन्य देवताओं को अलंकृत किया। महान बल की महिमा से जिसकी शक्ति के सामने आकाश तथा पृथिवी कांपते हैं, हे मनुष्यों! वह इन्द्र है।

टिप्पणी—

(i) इसमें इन्द्र देवता, गृत्समद ऋषि और त्रिष्टुप् छन्द है।

(ii) एक पौराणिक कथा के अनुसार— 'एक बार यज्ञ में इन्द्र को असुरों ने घेर लिया। तब इन्द्र को कोई अन्य उपाय नहीं दिखाई देने के कारण वह वहाँ उपस्थित गृत्समद ऋषि का रूप धारण दैत्यों के पास से निकल गया। तब पीछे रहे वास्तविक गृत्समद को उन दैत्यों ने सोचा यही इन्द्र है और कौन हो सकता है? जब उस गृत्समद को पीट रहे थे, तब वह कहता था 'हे मनुष्यों जिसकी मैं महिमा बता रहा हूँ, वह इन्द्र है, मैं नहीं हूँ।'

यः पृथिवीं व्यथमानामदृहद्

यः पर्वतान् प्रकृपितां अरम्णात्।

यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो

यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः ॥ 2॥

अन्वय – य व्यथमानाम् पृथिवीम् अदृहद् यः प्रकृपितान् पर्वतान् अरम्णात् य वरीय अन्तरिक्षम् विममे, यः द्याम् अस्तभ्नात्, जनासः स इन्द्रः।

शब्दार्थ – व्यथमानाम्— काँपती हुई। अदृहद्— स्थिर किया। प्रकृपितान्— विक्षुब्ध। अरम्णात्— नियमित किया, संयमित किया। वरीयः – विस्तृत। विममे— बनाया है। द्याम्— द्यु लोक को। अस्तभ्नात्— रोका, स्थिर किया।

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के बारहवें सूक्त 'इन्द्र-सूक्त' से उद्धृत है। इस सूक्त

के देवता इन्द्र, ऋषि गृत्समद तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस मन्त्र में ऋषि गृत्समद ने इन्द्र के साहसिक कार्यों का वर्णन किया है। ऋषि कहते हैं कि—

अनुवाद— जिसने काँपती हुई पृथ्वी को स्थिर किया, जिसने विक्षुब्ध अर्थात् इच्छानुसार इधर—उधर विचरण करते हुए पंखयुक्त पर्वतों को संयत किया, जिसने अतिविस्तृत अन्तरिक्ष लोक को बनाया तथा जिसने द्यु लोक को रोका अथवा स्थिर किया। हे मनुष्यों! वह ही इन्द्र है। (मैं नहीं हूँ)

टिप्पणी—

- (i) व्यथमानाम् — व्यथ् धातु + शानच् प्रत्यय।
- (ii) अदृहत् — दृह् धातु, लङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन।
- (iii) प्रकुपितान् — प्र उपसर्ग + कुप् धातु (इट्) + क्त प्रत्यय, पुल्लिङ्ग द्वितीय के बहुवचन का रूप है। मैत्रायणी तथा काठक संहिता में उपलब्ध आख्यान में पर्वत प्रजापति के पक्षधर ज्येष्ठ पुत्र कहे गये हैं। पर्वतों के पहले पंख थे तथा वे इच्छानुसार भ्रमण करते थे। वे जहाँ बैठते थे, वहाँ आबादी को विनष्ट कर देते थे। इन्द्र ने पर्वतों के पंख काट कर उनको एक स्थान पर स्थिर कर दिया।
- (iv) अरम्णात् — रम् धातु लङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन का वैदिक रूप।
- (v) वरीयः — उरु+इयसुन्, नपुं, द्वितीया, एकवचन। मैक्डोनल के मतानुसार यह विस्तृत होने के निर्मित फैला हुआ भाव की अभिव्यक्ति करता है।
- (vi) विममे — वि उपसर्ग + मा धातु + लिट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन का रूप।
- (vii) अस्तम्नात् — स्तम् धातु + लङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन।
- (viii) वैदिक भाषा में 'कुप्' धातु का मूल अर्थ 'संचलन' तथा 'रम्' धातु का अर्थ 'स्थिरीकरण' था। ये अर्थ भौतिक थे। लौकिक संस्कृत में ये धातुएँ मानसिक अर्थों में प्रयुक्त होने लगीं तथा इनका अर्थ 'क्रोध करना' और 'क्रीड़ा करना' हुआ।

(ix) इस मंत्र में त्रिष्टुप् छन्द है।

यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्

यो गा उदाजदपदधा बलस्य।

यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान

संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः ॥ ३ ॥

अन्वय — यः अहिम् हत्वा सप्त सिन्धून् अरिणाम्, बलस्य अपधा गाः उदाजत् यः अश्मनोः अन्तः अग्निं जजान, समत्सु, संवृक्, हे जनासः स इन्द्रः।

शब्दार्थ — य— जिस इन्द्र ने। अहिम्— वृत्र को। हत्वा— मारकर। सप्त सिन्धून्— सात नदियों को। अरिणात्— बहाया। बलस्य— बल नामक असुर की। अपधा— गुफाओं से। गाः — गायों को। उदाजत्— बाहर निकाला। अश्मनोः — दो पत्थरों में या दो बादलों के। अन्तः — बीच में। अग्नि — अग्नि या बिजली को। जजान — उत्पन्न किया। समत्सु — संग्रामों में। संवृक् — मारने वाला। जनासः — मनुष्य या असुरों।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र 'इन्द्र सूक्त' से उद्धृत है। यह ऋग्वेद के दूसरे मण्डल का बारहवाँ सूक्त है। इसके देवता इन्द्र, ऋषि गृत्समद तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इसमें इन्द्र के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन किया गया है। ऋषि कहते हैं कि—

अनुवाद— जिस इन्द्र ने सर्प सदृश वृत्र को मारकर अर्थात् जल को रोकने वाले पर्वतों को हटाकर सात धाराओं को बहाया है, जिसने बल नामक दैत्य की गुफा से या बाड़े से गौओं को बाहर निकाला है, जिसने दो

पत्थरों के बीच में आग उत्पन्न की है और जो जिसने युद्धों में शत्रुओं का अच्छी प्रकार विनाश किया था। हे पुरुषों! वह ही इन्द्र है।

टिप्पणी—

- (i) अहिम् — ऋग्वेद में इन्द्र—वृत्र के युद्ध का बहुत वर्णन आया है। वृत्र को राक्षस माना जाता है, जो जलों को आवृत्त किए रहता है। इसको 'अहि' भी कहते हैं। सोमपान करके इन्द्र मारुतों के साथ इस राक्षस का वध करता है और जलों को मुक्त करता है। इस आलंकारिक वर्णन में भारी मतभेद रहा है। ऐतिहासिक वृत्र को त्वष्ट्रा 'असुर' मानते थे और नैरुक्त 'मेघ'। कुछ इसे रात्रि का अंधकार, हिलेब्रांड पानी को जमाने वाली घोर सर्दी, तिलक ध्रुव प्रदेशों में प्राप्त दीर्घकालीन अंधकार मानते हैं। कुछ ने इसे दुर्भिक्ष और अकाल का असुर माना है। ऐतिहासिक के पक्ष में इन्द्र देवताओं का राजा है, शेष सब वादों में इन्द्र सूर्य ही है।
- (ii) सप्त सिन्धुन् — इसके दो पृथक अर्थ हैं — एक सामान्य बहने वाला जल और दूसरा गंगा आदि सात नदियाँ। इन नदियों के नाम हैं— (1) गंगा, (2) यमुना, (3) गोदावरी, (4) सरस्वती, (5) नर्मदा, (6) सिन्धु और (7) कावेरी। मैक्समूलर के अनुसार ऋग्वेद के आर्यों का जीवन सिन्धु की घाटी और पंजाब में बीता। यही क्षेत्र वैदिक सप्त—सिन्धु है। इनके विचार में पंजाब की पाँच नदियाँ, सिन्धु और सरस्वती ही सात नदियाँ हैं। ल्यूडविग आदि सरस्वती के स्थान पर कुम्भा को रखते हैं। थामस के विचार में ओक्सम प्रारम्भिक सात नदियों में अवश्य रही होगी। अन्य भी कई विद्वानों ने सप्त सिन्धुओं को संसार के विभिन्न देशों में खोजने का प्रयास किया है। एक विद्वान ने ईरान में एक सप्तसिन्धु की कल्पना की है।
- (iii) सायणाचार्य और आधुनिक विद्वानों ने इस मंत्र में बल नामक राक्षस के गायों को चुराने, इन्द्र का उसको मारने और उसके स्थान से गायों के उद्धार का वर्णन माना है। सायणाचार्य ने बल को गायों का चोर तथा इन्द्र का वध्य असुर माना है। पाश्चात्य विद्वान इसे अंधकार के असुर आदि अलंकार का द्योतक नहीं, अपितु वास्तविक गौओं के चोर व्यक्ति विशेष का नाम मानते हैं।
- (iv) 'स जनास इन्द्र' यह प्रतीक अन्तिम मंत्र को छोड़कर इस सूक्त के शेष सब मंत्रों के अन्त में पाया जाता है। भारतीय आचार्यों ने इसका अर्थ यों किया है— "हे जनों (असुरों)। मैं नहीं, किन्तु ऐसे पराक्रम वाला व्यक्ति इन्द्र है।" इस प्रकार के अर्थ करने का मूल कारण इस सूक्त के सम्बन्ध में प्रचलित ये तीन गाथाएँ हैं —
 - (1) इन्द्र और असुरों में सदा शत्रुता थी। असुर हमेशा इन्द्र के विरुद्ध सशस्त्र होकर अवसर की प्रतीक्षा में रहते थे। एक बार गृत्समद ऋषि तप द्वारा इन्द्र का स्वरूप धारण कर जब आकाश में विचरण कर रहा था, उस समय धुनि और चुमुरी नामक दो राक्षसों ने उसे आ घेरा। ऋषि उनकी पाप भावना को समझा गया और उसने इन ऋचाओं या मंत्रों द्वारा समझाया कि वास्तव में इन्द्र कोई दूसरा व्यक्ति है, मैं नहीं।
 - (2) एक बार इन्द्रादि देव तथा अन्य बहुत से ऋषि वैन्ध्य के यज्ञ में आए हुए थे। उस समय इन्द्र का वध करने के उद्देश्य से कुछ दैत्य गण भी वहाँ पहुँच गए, इन्द्र को जब यह ज्ञात हुआ तो वह गृत्समद ऋषि का रूप धारण कर वहाँ से अन्यत्र कहीं पलायन कर गया। तदनन्तर ऋषि गृत्समद जब वहाँ से जाने लगा, तो दैत्यों ने उसे इन्द्र समझकर घेर लिया। उस समय ऋषि गृत्समद ने उन्हें बताया कि ऐसे पराक्रम वाला व्यक्ति इन्द्र है, मैं नहीं।
 - (3) एक बार गृत्समद ऋषि ने अपने आश्रम में यज्ञ किया और उसमें अन्य देवों के साथ इन्द्र भी आया। दैत्यों ने उसको देखकर घेर लिया। इस पर तपोवन में इन्द्र ने गृत्समद का रूप धारण

किया और स्वर्ग चला गया। असुर लोग बहुत देर तक उसकी प्रतीक्षा करते रहे और अन्त में यज्ञशाला में घुस गये। वहाँ ऋषि गृत्समद को देखकर उन्होंने विचार किया कि ऋषि तो पहले बाहर चला गया, अतः यह इन्द्र है। उस समय ऋषि ने इस सूक्त द्वारा उनका भ्रम दूर किया।

पाश्चात्य विद्वानों ने इन कथाओं को कपोल-कल्पित माना है, अतः उन्होंने इस पंक्ति का अर्थ किया है — हे लोगों, वह इन्द्र है।

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि

यो दास वर्णमधरं गुहाकः।

श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाद-

दर्यः पुष्टानि स जनासः इन्द्रः ॥ 4 ॥

अन्वय — येन इमाः विश्वा च्यवना कृतानि यः दासं वर्णम् अधरं गुहा अकः लक्षं जिगीवान् यः श्वघ्नी इव अर्यः पुष्टानि आदत्, जनासः सः इन्द्रः।

शब्दार्थ — येन— जिस इन्द्र के द्वारा। इमाः — ये। विश्वा — सभी। च्यवना — नश्वर। कृतानि — स्थापित किये हैं, स्थिर बनाये हैं। दासं — हीन। वर्णम् — शूद्रादिक या निकृष्ट असुरों को। अधरं — अधोगत। गुहा — गुहा या नरक में। अकः — कर दिया। लक्षं — लक्ष्य को। जिगीवान् — जीतने वाले। श्वघ्नी — व्याघ्र (बहेलिया) या जुआरी। इव — भांति। अर्यः — शत्रु की। पुष्टानि — समृद्धि को। आददत् — ग्रहण कर लेता है।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र 'इन्द्र सूक्त' से लिया गया है। यह ऋग्वेद के दूसरे मण्डल का बारहवाँ सूक्त है। इसके देवता इन्द्र, ऋषि गृत्समद तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस मंत्र में इन्द्र के वीरतापूर्ण कार्यों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

अनुवाद— जिसने इन सभी नश्वर भुवनों को स्थिर किया और जिसके द्वारा ये सम्पूर्ण पदार्थ गतिमान किये गए हैं। जिसने दास वर्ण को वश में करके गुफा में स्थित कर दिया है। जिसने शत्रु की समृद्धि दाँव के धन को विजयी जुआरी के समान को छीन लिया है। हे पुरुषो! वही इन्द्र है।

टिप्पणी—

- (1) "इमा विश्वा" ये इमानि और विश्वानि के वैदिक रूप हैं। कभी-कभी नपसंकलिंग के बहुवचन के रूप पुल्लिंग के बहुवचन के समान उपलब्ध होते हैं। लौकिक संस्कृत में इस प्रकार का अभाव है।
- (2) च्यवना कृतानि— सायणाचार्य के मतानुसार इनका अर्थ है "नश्वर लोकों को स्थिर किया है।" दूसरा अर्थ है "प्राप्त हुए लोकों को दृढ़ किया।"
- (3) दास वर्ण का भारतीय विद्वानों ने "शूद्रादि वर्ण" अर्थ किया है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार इसका अर्थ अनार्य वर्ण (कृष्ण रंग) या आदिवासी है। पीटर्सन इसे विरोधी रंग या काली चमड़ी" कहता है। आज के समान उस काल में भी गौरों की ओर से कालों को दी जाने वाली यह गाली थी। ऋग्वेद में दास और दस्यु आर्यों के समस्त शत्रुओं (असुर और मानव) के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ पर अनार्य जातियों की ओर संदेश स्पष्ट प्रतीत होता है।
- (4) श्वघ्नी इव — सायण कहते हैं — इन्द्र ने श्वघ्नी अर्थात् व्याध के समान लक्ष्य से जीता है। रोथ के अनुसार इसका अर्थ है— 'दाँव को जीतने वाले जुआरी के समान।' अर्थों में उपमा अलंकार झलकता है। जिस प्रकार जुआरी हारने वालों के जीत को लेकर उनको निः शेष (अकिंचन) कर देता है, उसी प्रकार अथवा जैसे हिंसक पशु या व्याध प्राणियों का जीवन पूर्णतया नष्ट कर देता है, वैसे ही इन्द्र भी करता है।

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोर

मुतेमाहुर्नै षो अस्तीत्येनम् ।

सो अर्थः पुष्टीर्विज इवा मिनाति

श्रद्धस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥ 5 ॥

अन्वय — घोरं यं पृच्छन्ति स्मः, कुह स इति, उत एनम् इम् आहुः न एष अस्ति इति, स विजः इव अर्थः पुष्टीः आमिनाति । अस्मै श्रद् धत्त, जनास स इन्द्रः ।

शब्दार्थ — घोरं— शत्रु का क्षय करने वाले । यं— जिस इन्द्र के विषय में । पृच्छन्ति— मनुष्य पूछते हैं । कुह— कहाँ । सः — वह है । इति— ऐसा । एनम्— इन्द्र को । इम्— सर्वव्यापी । आहुः — कहते हैं । विजः — क्षोभकारी या विस्मयकारी । इव— समान । आमिनाति— चारों ओर से संहार करता है । अस्मै— इस इन्द्र के लिए । श्रत्— श्रद्धा विश्वास को । धत्त— धारण करो ।

संदर्भ — यह मंत्र 'इन्द्र सूक्त' से संकलित किया गया है । यह ऋग्वेद दूसरे मण्डल का बारहवाँ सूक्त है । इसके देवता इन्द्र, ऋषि गृत्समद तथा छन्द त्रिष्टुप् है । इस मंत्र में ऋषि इन्द्र के प्रति अविश्वास रखने वालों के विरुद्ध कहता है कि —

अनुवाद— जिस भयंकर इन्द्र के बारे में लोग पूछते आये हैं कि वह इन्द्र कहाँ है? और सर्वव्यापक इस इन्द्र को कुछ लोग कहते हैं कि यह विद्यमान नहीं है । इन्द्र क्रुद्ध हुए विजेता के समान शत्रु की पोषक शक्तियों गाय आदि को छीन लेता है । उस इन्द्र में विश्वास धारण करो । हे मनुष्यों! वह इन्द्र है ।

टिप्पणी—

(i) "स्मा" यह स्म शब्द है, किन्तु संहिता में दीर्घ हो गया है ।

(ii) सेति— सः + इति, इस प्रकार की अव्यवस्थित संधि वेद में बहुधा मिलती है ।

(iii) "इम्" को सायणाचार्य पादपूरक मानते हैं । किन्तु निघंटु में इसे पद नहीं माना गया है, जो गति, ज्ञान और प्राप्ति का द्योतक भी है । इसी आधार पर इसका अर्थ "सर्वव्यापक" किया गया है ।

(iv) विज— विजेता, जुआरी

यो रधस्य चोदिता यः कृशस्य

यो ब्राह्मणो नाधमानस्य कीरेः ।

युक्तग्राव्यो योऽविता सुशिप्रः

सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥ 6 ॥

अन्वय — यो रधस्य चोदिता, यः कृशस्य, यः नाधमानस्य कीरेः ब्राह्मणः, य सुशिप्रः युक्तग्राव्यः सुतसोमस्य अविता, जनासः स इन्द्रः ।

शब्दार्थ — यः — जो इन्द्र । रधस्य— सुसम्पन्न का । चोदिता— प्रेरयिता । कृशस्य— दरिद्र का । नाधमानस्य— माँगने वाले का । कीरेः — स्तुति परायण का । ब्राह्मणः — विप्र पुरोहित का । सुशिप्रः — शोभन हनु वाला । युक्तग्राव्य — दो पत्थर को मिलाने वाले । सुतसोमस्य— सोमरस को तैयार करने वाले का । अविता— रक्षा करने वाला ।

संदर्भ — यह मंत्र 'इन्द्र सूक्त' में से उद्धृत है । यह ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल का बारहवाँ सूक्त है । इसके देवता इन्द्र, ऋषि गुत्समद तथा छन्द त्रिष्टुप् है । इसमें इन्द्र के वैशिष्ट्य का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इन्द्र किस-किस को प्रेरणा देता है ।

अनुवाद— जो समृद्ध का, क्षीण दुर्बल का, ब्राह्मण याचक स्तोता सभी का अपने-अपने कर्मों में प्रेरक है ।

सुन्दर ठोड़ी वाला जो सिलबट्टे को मिलाने वाले, सोमरस निकालने वाले यजमान की रक्षा करता है, हे मनुष्यों! वह इन्द्र है।

टिप्पणी—

(i) इस मंत्र में मानव जाति के चार भाग किए गए हैं—

(1) रंघ (2) कृश (3) ब्रह्मन नाधमान कीरे: और (4) युक्तग्रावन् सुतसोम।

(ii) ब्राह्मण — इस शब्द के विभिन्न अर्थ हैं—

(क) सूक्त या प्रार्थना का रचयिता या उच्चारक, चिन्तक, ऋषि, कवि,

(ख) सामाजिक पूजा का संपादक, पूजक, पुरोहित,

(ग) चारों वेद, विशेषतः अथर्ववेद का ज्ञाता या होतृ आदि से भिन्न कर्मों वाला एक विशेष पुरोहित ब्रह्मा। कुछ मंत्रों में यह पद “पेशे से पुरोहित” भाव का द्योतक है।

(iii) “सुशिप्र” का अर्थ सायण ने शोभन ठोड़ी या सिर वाला किया है। यास्क के मत से इसका अर्थ है — उत्तम ठोड़ी या नाक वाला।

यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो

यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।

यः सूर्यं य उषसं जजान

यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥ 7 ॥

अन्वय — यस्य, प्रदिशि अश्वासः। यस्य गावः, यस्य ग्रामाः, यस्य विश्वे रथासः, यः सूर्यम् यः उषसं जजान, यः अपां नेता, जनासः स इन्द्रः।

शब्दार्थ — यस्य— जिस कामनाओं के वर्षक इन्द्र के। प्रदिशि— अनुशासन में। अश्वासः — घोड़े। गावः — धेनुएँ। ग्रामाः — जनपद विशेष। विश्वे— सभी। रथासः — रथ। जजान— पैदा किया है। अपां— जल का। नेता— नायक।

संदर्भ — प्रस्तुत मन्त्र ‘इन्द्र सूक्त’ में से लिया गया है। यह ऋग्वेद के दूसरे मण्डल का बारहवाँ सूक्त है, जिसके देवता इन्द्र, ऋषि गृत्समद तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इसमें बताया गया है कि इन्द्र के नियन्त्रण में कौन-कौनसी वस्तुएँ हैं तथा उसने किन-किन को पैदा किया है?

अनुवाद— जिसके शासन में घोड़े, गायें, गाँव और सभी रथ विद्यमान हैं। जिसने सूर्य और उषा को उत्पन्न किया है, जो जलों का बहाने वाला है। हे पुरुषो! वह इन्द्र है।

टिप्पणी— इस मंत्र का तात्पर्य यह है कि इन्द्र ने अश्व आदि सब कुछ उत्पन्न किया है अतः वे सब उसी की शक्ति से ही अपने-अपने स्वभावानुकूल कर्मों से प्रवृत्त होते हैं। यहाँ पर अश्व शक्ति का, गाय अहिंसा और नम्रता का, ग्राम एकत्र होने, ‘रथ’ रम् धातु से बना होने के कारण आनन्द का, सूर्य गति और प्रकाश का, उषस् कान्ति और एकरूपता का तथा अपस् व्याप्ति का द्योतक है।

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते

परेऽवर उभया अमित्राः।

समानं चिद्रथमातस्थिवांसा

नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥ 8 ॥

अन्वय — यम् संयती क्रन्दसी विह्वयेते। परे अवरे उभयाः अमित्राः समानम् चित् रथम् आतस्थिवांसा नाना हवेते। जनासः सः इन्द्रः।

शब्दार्थ – संयती- परस्पर संघर्ष करती हुई। क्रन्दसी- शोर मचाती हुई (दो सेनाएँ)। विह्वयेते- बुलाती हैं। परे- उत्तम। अवरे- अधम। उभयाः – दोनों। अमित्राः – शत्रु। आतस्थिवांसा- बैठे हुए। हवेते- पुकारते हैं।

संदर्भ – प्रस्तुत मन्त्र ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के बारहवें सूक्त 'इन्द्र-सूक्त' से उद्धृत है। इस सूक्त के देवता इन्द्र, ऋषि गृत्समद तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस मन्त्र में ऋषि ने इन्द्र को विजय दिलाने वाले देवता के रूप में चित्रित किया है। यही कारण है कि विजयेच्छु लोग युद्ध के मैदान में उसे अपनी सहायता के लिए बुलाते हैं-

अनुवाद- शब्द करते हुए द्युलोक और पृथिवीलोक अपनी रक्षा के लिए जिसका आह्वान करते हैं, जिसको युद्ध में परस्पर लड़ती हुई तथा कोलाहल करती हुई दो विरोधी सेनायें पृथक्-पृथक् रूप से बुलाती हैं। उत्तम एवं अधम दोनों ही शत्रु जिसका विजय के लिए आह्वान करते हैं। एक ही रथ पर विद्यमान दो योद्धा जिसको भिन्न-भिन्न प्रकार से सहायता के लिए बुलाते हैं, इन्द्र और अग्नि यज्ञ के लिए यजमानों द्वारा पुकारे जाते हैं, हे पुरुषों! वह इन्द्र है।

टिप्पणी-

- (i) क्रन्दसी- सायण – दैवी और मानवी सेनाएँ, मैक्डोनल- मानवों की आपस में लड़ती हुई दो सेनाएँ, दयानन्द सरस्वती- राने का शब्द कराने वाले प्रकाश और पृथ्वी, ये भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं।
- (ii) संयती-सायण- आपस में मिलती हुई, वेंकट माधव- दो सेनायें, दयानन्द सरस्वती- संयम से चलने वाले द्यु लोक और पृथ्वी लोक। सम्+इ+शतृ+डीप्।
- (iii) विह्वयेते- वि उपसर्ग + ह्वेज् धातु, लट् लकार प्रथम पुरुष द्विवचन आत्मनेपद का रूप।
- (iv) आतस्थिवांसा – आ उपसर्ग + स्था धातु + क्वसु प्रत्यय। प्रथमा का द्विवचन।
- (v) ह्वेते- ह्वे धातु लट् लकार प्रथम पुरुष द्विवचन।
- (vi) समानं चिद्रथमातस्थिवांसा- सायण ने दो प्रकार के अर्थ प्रस्तुत किये हैं-
 - (1) इन्द्र रथ के सदृश रथ पर आरूढ़ दो वीर।
 - (2) एक रथ पर चढ़े हुए इन्द्र और अग्नि।

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो

यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।

यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव

यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः ॥ 9 ॥

अन्वय – यस्मात् ऋते जनासः न विजयन्ते, युध्यमानाः यम् अवसे हवन्ते। य विश्वस्य प्रतिमानम् बभूव, यः अच्युतच्युत् जनासः। स इन्द्रः।

शब्दार्थ – न विजयन्ते- विजय नहीं पाते हैं। युध्यमानाः – युद्ध करते हुए लोग। अवसे- रक्षा के लिए। हवन्ते- पुकारते हैं। प्रतिमानम्- प्रतिरूप परिमाण निश्चित करने वाला। अच्युतच्युत्- स्थिरों को भी गतिशील बनाने वाला।

संदर्भ – प्रस्तुत मन्त्र ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के बारहवें सूक्त 'इन्द्र सूक्त' से उद्धृत है। इस सूक्त के देवता इन्द्र, ऋषि गृत्समद तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस मन्त्र में गृत्समद ऋषि ने इन्द्र देवता के वैशिष्ट्य का वर्णन किया है-

अनुवाद- जिसके बिना लोग विजय प्राप्त नहीं कर सकते हैं। युद्ध करते हुए सैनिक अपनी रक्षा के लिए पुकारते हैं, जो विश्व का प्रतिरूप है तथा जो स्थिरों को भी गतिशील बना देता है। जो क्षयरहित पर्वतों को अचल

बनाने वाला है। हे मनुष्यों! वह इन्द्र है।

टिप्पणी—

- (i) यस्माद् ऋते – ‘ऋते’ के योग में पंचमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। ‘न ऋते’ के स्थान पर उच्चारण ‘नर्ते’ होगा क्योंकि त्रिष्टुप् छन्द में प्रत्येक चरण 11 अक्षर होते हैं।
- (ii) विजयन्ते – वि उपसर्ग + जि धातु, प्रथम पुरुष बहुवचन।
- (iii) युद्धमाना – युध् + (श्यन्) + (मुक्) + शानच् – युध्यमान बहुवचन में युध्यमाना रूप बनता है।
- (iv) अवसे – भव् धातु + असे प्रत्यय (तुमन् के अर्थ में वैदिक असे प्रत्यय)।
- (v) प्रतिमानम् – प्रति उपसर्ग + माङ् धातु + ल्युट् प्रत्यय। सायण— प्रतिनिधि। मैक्डोनल – समर्थ।
- (vi) अच्युतच्युत् – सायण – क्षयहीन पर्वत आदि को चला देने वाला। मैक्डोनल— अचरों को चर बनाने वाला।
- (vii) बभूव – भू धातु लिट् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।

यः शश्वतो महेनो दधाना

नमन्यमानाच्छर्वा जघान।

यः शर्धते नानुददाति शृध्यां

यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥ 10 ॥

अन्वय – यः महि एनः दधानाम् शश्वतः अमन्यमानान् शर्वा जघान। यः शर्धते शृध्याम् न अनुददाति। यः दस्योः हन्ता जनासः स इन्द्रः।

शब्दार्थ – महि— महान् या विशाल। एनः – पाप को। दधानान्— धारण करने वाले। शश्वतः – बहुसंख्यक। अमन्यमानान् – इन्द्र को मानने वालों को। शर्वा— वज्र से। जघान— मारता है या नष्ट कर देता है। शर्धते— उद्दण्ड अथवा अभिमानी की। शृध्याम्— उच्छृंखलता अथवा अभिमान को। न अनुददाति— सहन नहीं करता है। हन्ता— विनाश करने वाला।

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के बारहवें सूक्त ‘इन्द्र सूक्त’ से उद्धृत किया गया है। इसके देवता इन्द्र, ऋषि गृत्समद तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस मंत्र में ऋषि गृत्समद ने इन्द्र के वीरतापूर्ण कृत्यों का वर्णन करते हुए तत्सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रस्तुत किया है।

अनुवाद— ऋषि गृत्समद कहते हैं कि जो महान् पाप को धारण करने वाले बहुसंख्यक इन्द्र को न मानने वालों (अवज्ञा करने वालों) को वज्र से मार देता है, जो अभिमानी की उच्छृंखलता अथवा अभिमान को सहन नहीं करता है, जो असुरों का वध करने वाला है, लोगों! वह इन्द्र है।

टिप्पणी—

- (i) प्रस्तुत मंत्र का भाव यह है कि इन्द्र पापियों तथा अपने अपूजकों अर्थात् उसके प्रति शत्रुता रखने वालों को मार डालता है। वह दस्युओं का विनाश करने वाला है। इस प्रकार इन्द्र एक शक्तिशाली देवता है।
- (ii) अमन्यमानाम् – न मन्यमानान् इति। मन् धातु + लट् शानच्, पुल्लिङ्ग द्वितीया, बहुवचन। सायण ने इसका अर्थ ‘अपने को न जानने वाले, अनात्मज्ञ अथवा इन्द्र की पूजा न करने वाले’ किया है। वेंकटमाधव ने ‘इन्द्र को न मानने वाले’ तथा मैक्डोनल ने ‘इन्द्र उन्हें मार डालेगा, ऐसा विचार न करने वाले’ अर्थ किया है।
- (iii) शर्वा – श्रृणाति अनेनेति शरूः, तृतीया, एकवचन। सायण ने इसका अर्थ शत्रु की समृद्धि ‘वज्र से’

किया है। वज्र इन्द्र का प्रमुख आयुध है। छन्द की दृष्टि से 'शर्वा' के स्थान पर 'शरूआ' पढ़ा जाता है।

(iv) शर्धते – शृध धातु + लट् – शतृ, पुल्लिङ्ग, चतुर्थी एकवचन।

(v) अनुददाति– अनु + दा धातु + लट्, प्रथम पुरुष, एकवचन।

यः शंबरं पर्वतेषु क्षियन्तं

चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।

ओजायमानं यो अहिं जघान

दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥ 11 ॥

अन्वय – यः पर्वतेषु क्षियन्तं शम्बरं चत्वारिंश्यां शरदि अन्वविन्दत्। यः ओजायमानम् अहिम् शयानम् दानुम् जघान, हे जनासः स इन्द्रः।

शब्दार्थ – पर्वतेषु– शैलों पर। क्षियन्तम्– निवास करने वाले। चत्वारिंश्यां– चालीसवें। शरदि– वर्ष में। अन्वविन्दत्– खोजकर प्राप्त किया। ओजायमानं– शक्ति का प्रदर्शन करने वाले। अहिं– सर्प रूप में। शयानं– सुप्त। दानुम्– दानव को। जघान– मार डाला।

संदर्भ – प्रस्तुत मन्त्र ऋग्वेद के दूसरे मण्डल का बारहवाँ सूक्त है। इसके देवता इन्द्र, ऋषि गृत्समद तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इन्द्र के पराक्रम का वर्णन किया गया है, जिसके अन्तर्गत उसने शम्बर तथा अहिं का वध किया था।

अनुवाद– जिसने डर के कारण पहाड़ों में छिप कर रहने वाले शम्बर को चालीसवें वर्ष में पा लिया तथा जिसने बल का प्रदर्शन करते हुए दानशील, गतिहीन मेघ को मारा, अथवा प्रहार करने वाले दनु के पुत्र असुर को, सोते समय ही मार डाला, हे पुरुषों, वह इन्द्र है।

टिप्पणी–

(i) शम्बर – यह असुर था। वृत्र, बल और शुष्ण को छोड़कर शम्बर इन्द्र का बहुत अधिक वर्णित राक्षस शत्रु है। इन्द्र उस पर अपने पर्वत से ही आक्रमण करता है। इसे बहुत से दुर्गों का स्वामी कहा गया है।

(ii) शरदि – वर्ष में शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद और हेमन्त– ये छः ऋतुएँ होती हैं। वैदिक काल में वर्ष का प्रारम्भ "शरद्" ऋतु से माना जाता था और क्योंकि शरद् ऋतु वर्ष में एक बार आती है, अतः यह शब्द 'वर्ष' का अर्थ देने वाला बन गया। जैसे कि "पश्येमः शरदः शतम् प्रबुध्याम–शरदः शतात्" अर्थात् हम सौ वर्षों तक देखते रहें, सौ वर्षों तक बोलते रहें, आदि वाक्यों में हम इसी अर्थ को प्राप्त करते हैं।

(iii) अहिम् – इसी सूक्त के तीसरे मन्त्र में भी 'अहिं' का उल्लेख प्राप्त हुआ है। यह जलों का आवृत्त करने वाला राक्षस माना जाता था। इन्द्र ने बल दिखाते हुए सर्परूपी सोते हुए दानव का संहार किया– ऐसी प्रसिद्धि भी है।

यः सप्तरश्मिवृषमस्तुविष्मान्

वासृजत सर्तवे सप्त सिन्धून्।

यो रौहिणमस्फुरद् वज्रबाहुर्

द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥ 12 ॥

अन्वय – सप्तरश्मिः वृषभः तुविष्मान् यः सर्तवे सप्त सिन्धून् अवासृजत, वज्रबाहु यः द्याम् आरोहन्तम्

रौहिणम् अस्फुरत्, जनासः! सः इन्द्र ।

शब्दार्थ – सप्तरश्मिः – सात किरणों वाले। वृषभः – कामनाओं के पूरक। तुविष्मान् – शक्तिशाली। सर्तवे- बहने के लिए। अवासृजत्- बहाया है। वज्रबाहु- वज्र है भुजा में जिसके अथवा वज्र-सदृश भुजाओं वाले। द्याम्- स्वर्ग में। आरोहन्तम्- चढ़ते हुए। रौहिणम्- रौहिण नामक असुर को। अस्फुरत् – मार डाला।

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के बारहवें 'इन्द्र-सूक्त' से उद्धृत है। इसमें मन्त्रद्रष्टा ऋषि गृत्समद ने इन्द्र के साहसिक एवं वीरतापूर्ण कृत्यों का वर्णन किया है-

अनुवाद- सात प्रकार के मेघों के नियन्ता, वर्षा करने वाले, सात किरणों वाले, कामनाओं के पूरक, शक्तिशाली जिस (इन्द्र) ने बहने के लिए सात धाराओं को बहाया है। हाथ में वज्र धारण करने वाले जिसने द्यु लोक पर आरोहण करते हुए रोहिण नामक असुर को मार डाला, लोगो! वह इन्द्र है।

टिप्पणी-

- (i) सप्तरश्मि- सायण – सात रश्मियों वाला। मैक्डोनल- सात नाथों वाला। उनके मत में इसका संभाव्य अर्थ-दुर्धर्ष, दुर्घट, अप्रतिहत, अव्याहत है। पीटर्सन- उन सात रज्जुओं से युक्त जो उसे नेतृत्व प्रदान करती हैं।
- (ii) वृषभ- ऋषि गतौ + अभच्, वृष् (सेचने) + अभच्। वेंकटमाधव- वर्षक। मैक्डोनल- बैल।
- (iii) तुविष्मान्- 'तु गतौ' धातु से 'असुच्' प्रत्यय- तुविष्। तुविष् + मतुप्।
- (iv) सर्तवे – 'सृ' धातु से 'तुमुन्' के अर्थ में वैदिक प्रयोग।
- (v) अस्फुरत् – स्फुर् धातु, लङ् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन।
- (vi) आरोहन्तम् – आ उपसर्ग + रूह् धातु + शतृ – आरोहत्। द्वितीया का एकवचन।
- (vii) रौहिणम्-सायण ने इसका अर्थ 'असुर' किया है। हिलेब्रान्त ने इसे रोहिणी नक्षत्र का अभियान माना है। निघण्टु में इसे मेघ नामों में परिगणित किया गया है। मैक्डोनल इसे 'रोहिणी' का पुत्र मानते हैं।

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते

शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।

यः सोमपा निचितो वज्रबाहु

र्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥ 13 ॥

अन्वय – अस्मै द्यावा पृथिवी चित् नमेते। अस्य शुष्मात् पर्वताः भयन्ते। यः सोमपा निचितः। वज्रबाहुः यश्च वज्रहस्तः। हे जनासः स इन्द्रः।

शब्दार्थ – अस्मै- इन्द्र के लिए। द्यावा पृथिवी- आकाश और भूमि अर्थात् रोदसी। चित्- ही। नमेते- प्रणाम करते हैं। अस्य- इन्द्र के। शुष्मात् बल से। भयन्ते- डरते हैं। यः – जो इन्द्र। सोमपा- सोमरस का आस्वादक। निचितः – कहा गया है। वज्रबाहुः – वज्र के समान दृढ़ भुजा वाला। वज्रहस्तः – कुलिश (इन्द्र का वज्र नामक शस्त्र) को हाथ में रखने वाला।

संदर्भ – प्रस्तुत मन्त्र ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के बारहवें 'इन्द्र-सूक्तम्' में से लिया गया है। इस सूक्त के देवता इन्द्र, ऋषि गृत्समद तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस मंत्र में इन्द्र के महान पराक्रम का उल्लेख किया गया है।

अनुवाद- जिसको प्रमाण करने के लिए आकाश और पृथ्वी झुकते हैं। जिसके भय से पर्वत भयभीत होते हैं। जो सोम रस को पीने वाला विख्यात है। जो वज्र के समान दृढ़ भुजा वाला है तथा जो वज्र को हाथ में धारण किए हुए है, हे मनुष्यो! वह इन्द्र ही है।

टिप्पणी—

- (i) वैदिक साहित्य में 'द्यावा-पृथिवी' अर्थात् रोदसी एक शब्द होते हुए भी इसके मध्य में दो अन्य शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है।
- (ii) इन्द्र के भय से पर्वतों के काँपने का उल्लेख इसके पूर्ववर्ती मंत्रों में प्राप्त होता है। इससे ज्ञात होता है कि इन्द्र वास्तव में इतना पराक्रमी है कि उससे पर्वत भी भयभीत होते थे।
- (iii) सोमपा — इन्द्र को सोम रस के पीने में अत्यन्त आनन्द का अनुभव होता था। वैसे भी 'सोम' वैदिक कार्यों तथा देवताओं के लिए मादक, उत्तेजक तथा और प्रिय पदार्थ था। ऋग्वेद के नवें मण्डल में तो इसी सोम का वर्णन प्राप्त होता है। सोम रस द्वारा यज्ञ भी किए जाते थे।
- (iv) वज्रबाहु व वज्रहस्त: — ये दोनों शब्द ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो एक ही ओर व्यक्त करने वाले हों और यहाँ इनकी पुनरावृत्ति हुई हो, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। दोनों शब्दों में वज्र शब्द आया है तथा दोनों में बाहु व हस्त का प्रयोग हुआ है। परन्तु इनका अर्थ भिन्न है। प्रथम शब्द का अर्थ है 'वज्र के समान दृढ़ भुजा वाला और दूसरे का अर्थ है 'वज्र को हाथ में धारण करने वाला।' वज्र इन्द्र का सुपसिद्ध शस्त्र है, जिससे वह वृत्र का विनाश करता है। यह नुकीला माना जाता था, जिसके कोने होते थे। पौराणिक विवरण के अनुसार वृत्रासुर का वध करने के लिए इन्द्र दधीचि मुनि की अस्थियों से वज्र का निर्माण किया था। एक अन्य विवरण के अनुसार आकाश में चमकने वाली बिजली (विद्युत) ही इन्द्र का वज्र है।

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं

यः शंसन्तं यः शशमानमूती।

यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो

यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥ 14 ॥

अन्वय — यः सुन्वन्तम् यः पचन्तम् यः ऊती शंसन्तम् यः शशमानम् अवति। य ब्रह्म यस्य सोमः यस्य इदम् राधः वर्धनम्। जनासः स इन्द्रः।

शब्दार्थ — सुन्वन्तम्— सोम रस निकालने वाले की। पचन्तम्— हरि को पकाने वाले की। शंसन्तम्— स्तुति करने वाले की। शशमानम्— स्तोत्र पर वाले की। ऊती— रक्षा करने के लिए। अवति— रक्षा करता है। ब्रह्म— स्ते। राधः — परिपक्व हविष्यान्। वर्धनम्— उन्नति कारक।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के बारहवें सूक्त 'इन्द्र-सूक्त' से उद्धृत है। इस सूक्त के देवता इन्द्र, ऋषि गृत्समद तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस मन्त्र में ऋषि गृत्समद ने इन्द्र सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण तथ्यों का व्यक्त किया है—

अनुवाद— जो (इन्द्र) सोमरस निकालने वाले की, हवि सम्पादन करने वाले अपनी सुरक्षा के लिए स्तुति करने वाले यजमान की रक्षा करता है। वृद्धि करने ब्रह्म नामक स्तोत्र, सोमरस तथा पुरोडाशादि अन्न जिसके वृद्धिकारक हैं, हे पुरुषों! इन्द्र है।

टिप्पणी—

- (i) प्रस्तुत मंत्र का भाव यह है कि कर्मशील, परोपकारी तथा भक्ति से युक्त लोग इन्द्र को सदैव प्रिय लगते हैं। ऐसे लोगों की वह सदैव रक्षा करता है।
- (ii) सुन्वन्तम् — सु + शतृ, पुल्लिङ्ग द्वितीय एकवचन।
- (iii) पचन्तम् — पच् धातु + लट् के स्थान पर शतृ, पुल्लिङ्ग द्वितीया एकवचन का रूप।
- (iv) शसन्तम् — शंस् + लट् स्थानीय शतृ द्वितीया एकवचन। सायण— शास्त्र पाठ करते हुए।

मैक्डोनल— देवताओं की प्रशंसा करने वाला। पीटर्सन— गायक स्तोता।

(v) शशमानम् — शश् धातु + शानच् प्रत्यय, पुल्लिङ्ग द्वितीया एकवचन। ग्रासमेन ने इसे शम् धातु से कानच् प्रत्ययान्त रूप माना है।

(vi) राधः — राध् (सिद्ध करना, प्रसन्न करना) से यह शब्द निष्पन्न है। सायण ने पुरोडाशादि अन्न अर्थ किया है। मैक्डोनल ने 'उपहार' अर्थ किया है।

(vii) वर्धनम् — वृध् धातु + णिच् + ल्युट्, नपुंसक लिंग प्रथमा एकवचन।

यः सुन्वते पचते दुध आ चिद्

वाजं दर्दषि स किलासि सत्यः।

वयं ते इन्द्र विश्वह प्रियासः

सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ 15 ॥

अन्वय — दुधः यः पचते वाजम् चित् आ दर्दषि, सः किल सत्यः असि। इन्द्र। सुवीरासः ते प्रियासः वयम् विश्वह विदथम् आवदेम।

शब्दार्थ — दुधः — घोर। सुन्वते— सोमरस निकालने वाले के लिए। पचते— पकाने वाले के लिए। वाजम्— अन्न या बल। आ दर्दषि— देते हो। सुवीरासः — उत्तम वीर संतानों वाले। विश्वह — सदा ही। विदथम्— प्रार्थना के वाक्य। आवदेम् — बोलते रहें।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के बारहवें सूक्त 'इन्द्र सूक्त' का अन्तिम मंत्र है। इसके देवता इन्द्र, ऋषि गृत्समद तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस मन्त्र में ऋषि गृत्समद ने इन्द्रदेव से अन्न एवं धन-धान्यादि की कामना की है तथा यह विश्वास दिलाने का प्रयास किया है कि वह सदैव सपरिवार इन्द्र को स्तवन करता रहेगा।

अनुवाद— ऋषि गृत्समद इन्द्र देव की महिमा का वर्णन करते हुए प्रार्थना करते हैं कि घोर (दुर्घर) जो सोमरस निकालने वाले के लिए, हवि पकाने वाले के लिए अन्न या बल प्रदान करता है, वह (तुम) निः संदेह ही यथार्थ हो अर्थात् इन्द्र नाम से सिद्ध हो। हे इन्द्र! उत्तम वीर संतानों वाले तुम्हारे प्रिय हम सदैव प्रार्थना के वाक्य बोलते रहें अर्थात् सदैव तुम्हारी स्तुति करते रहें।

टिप्पणी—

(i) दुधः —दुर् उपसर्ग + धृ (धारणे) धातु + क प्रत्यय।

(ii) सुन्वते— सु धातु + लट् स्थानीय, शतृ प्रत्यय, तस्मै।

(iii) पचते — पच् धातु + लट् स्थानीय, शतृ, तस्मै।

(iv) प्रियासः — यह लौकिक 'प्रियाः' का वैदिक रूप है।

(v) विश्वह — विश्वानि अहानि अर्थ में छान्दस् रूप।

1.5 हिरण्यगर्भ सूक्त (10.121)

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे

भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ 1 ॥

अन्वय — हिरण्यगर्भः अग्रे समवर्तत, जातः भूतस्य एकः पतिः आसीत्, स इमां पृथिवीं उत द्यां दाधार, कस्मै

देवाय हविषा विधेम।

शब्दार्थ — हिरण्यगर्भः — स्वर्णमय अंडे का गर्भभूत प्रजापति। अग्ने— सृष्टि की रचना से पहले। समवर्तत— उत्पन्न हुआ। जातः — उत्पन्न होते ही। भूतस्य— संसार का। पतिः ईश्वर। आसीत्— हो गया। सः — संसार का स्वामी बने हुए उसने। इमां— समुद्र और वनों के सहित इस धान्यशालिनी पृथ्वी को। उत— और। द्याम्— आकाश को। दाधार— धारण किया है। कस्मै देवाय— उस प्रजापति नामक देवता के लिए। हविषा— हविष्यान्न द्वारा। विधेम— (हम) प्रस्तुत करते हैं अथवा प्रसन्न करते हैं।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र 'प्रजापति सूक्तम्' से लिया गया है। यह ऋग्वेद के दशम मण्डल का 121 वाँ सूक्त है। इसके देवता 'कः' अर्थात् प्रजापति, ऋषि हिरण्यगर्भ तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इसमें सृष्टि की रचना की पूर्व की स्थिति का वर्णन करते हुए, प्रजापति के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। इसमें मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहता है कि —

अनुवाद— हिरण्यगर्भ प्रजापति सबसे पूर्व उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही वह सारी सृष्टि का एकमात्र स्वामी बना। उसने इस पृथ्वी और आकाश को धारण कर लिया। हम ऐसे प्रजापति देव को हविष्यान्न द्वारा प्रसन्न करते हैं।

टिप्पणी—

- (i) इस सूक्त के अन्तिम मंत्र को छोड़कर अन्य मंत्रों का चौथा चरण एक जैसा ही है— 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। इसमें विद्यमान 'कस्मै' शब्द के अर्थ के विषय में पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों में मतभेद है। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि संस्कृत में 'कः' शब्द प्रश्नवाचक है और इसका अर्थ 'कौन' होता है, अतः इस पंक्ति का अर्थ होगा 'हम किस देवता को हविष्यान्न द्वारा प्रसन्न करें?' इसके विपरीत भारतीय परम्परा भिन्न प्रकार की है। सायणाचार्य ने 'कः' प्रजापति हिरण्यगर्भ आदि शब्दों को एक-दूसरे का पर्यायवाची शब्द माना है। मन्त्रों के भावों को देखने पर 'कः' का अर्थ प्रजापति करना ही समुचित जान पड़ता है।
- (ii) इस मंत्र में विश्व की शाश्वत समस्याओं में से एक को समझाने का प्रयास किया गया है। प्रश्न यह उठता है कि प्रलय के पश्चात् जब पृथ्वी पर किसी भी प्राणी की सत्ता नहीं थी, तब सबसे पहले कौन पैदा हुआ? यह एक कौतूहलपूर्ण प्रश्न है, जिसकी जिज्ञासा सदा बनी रहती है क्योंकि यदि उत्तर दिया जाये कि वट का वृक्ष सबसे पहले हुआ, तो प्रश्न उठता है कि बिना बीज के वह वट का पेड़ कैसे बन गया? इसी प्रकार यदि यह कहा जाए कि वट का बीज पहले आया तो भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बिना वट के वृक्ष के उस बीज की सत्ता कहाँ से आई? ऐसा ही एक दूसरा प्रश्न है कि मुर्गी बनी या अण्डा? इस मंत्र में यह माना गया है कि समस्त प्राणियों की उत्पत्ति से पूर्व हिरण्यगर्भ अण्ड से गर्भभूत प्रजापति पैदा हुए। आज के वैज्ञानिकों का चिन्तन भी इस भित्ति पर अवस्थित है। ऐसा माना जाता है कि इस ब्रह्मांड में अकेला सूर्य ही चक्कर लगाता था, अचानक उसमें से एक ग्रह टूटकर अलग हुआ और वह भी उसके चारों ओर घूमने लगा। यह ग्रह हमारी पृथ्वी थी। सूर्य आग का गोला अर्थात् हिरण्यगर्भ (स्वर्ण के रंग के समान) अण्डाकार है। इससे निकली पृथ्वी ही प्रजापति है, जिसने सबसे पहले जन्म ग्रहण किया है। यही, प्रजापति समस्त उत्पन्न होने वाले पदार्थों का स्वामी बना और इसी ने पृथ्वी तथा आकाश को धारण किया। ऐसा प्रजापति को यहाँ हविष्यान्न से प्रसन्न करने का संकेत है।
- (iii) समवर्तत— सम् + वृत् + लङ् लकार प्रथम पुरुष एकवचन। सायण ने इसका अर्थ 'उत्पन्न हुआ', उव्वट ने सर्वप्रथम शरीर धारण किया', महीधर ने 'स्वयं शरीरधारी हुआ' तथा पीटर्सन ने 'उत्पन्न हुआ, सत्ता में आया' किया है।

(iv) दाधार – धृ (धारण करना) धातु + लिट् + प्रथम पुरुष एकवच ।

(v) विधेम – विध् धातु + विधिलिङ्ग + उत्तम पुरुष + एकवचन । यह वैदिक धातु है तथा 'सेवा करना', 'पूजा करना' आदि अर्थों में प्रयुक्त होती है ।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वे

उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।

यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ 2 ॥

अन्वय – य आत्मदा बलदा यस्य प्रशिषं विश्वे उपासते, यस्य देवाः, यस्य अमृतं, यस्य मृत्युः छाया, कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

शब्दार्थ – आत्मदा– आत्माओं का प्रवर्तक । बलदा– बलप्रदायक । यस्य– जिस प्रजापति के । प्रशिषं– शासन में । विश्वे– सभी चराचर लोकों के प्राणी । उपासते– उपासना करते हैं । देवाः – अमर लोग । अमृतं– अमरता या सुधा । मृत्यु– मरण अथवा यमराज । छाया– प्रतिमूर्ति ।

संदर्भ – यह मन्त्र 'प्रजापति सूक्त' का है, जो ऋग्वेद के दशम मण्डल का 121 वाँ सूक्त है । इसके देवता 'कः' अर्थात् प्रजापति, ऋषि हिरण्यगर्भ तथा छन्द त्रिष्टुप् है । इसमें प्रजापति का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है ।

अनुवाद– जो प्रजापति आत्मा का और बल का देने वाला है, जिसकी आज्ञा को समस्त संसार और देवता मानते हैं, अमरता और मृत्यु जिसकी छाया है । हम उस प्रजापति देव को हविष्यान्न द्वारा प्रसन्न करते हैं ।

टिप्पणी–

(i) इस मंत्र में प्रजापति को आत्माओं का प्रवर्तक माना गया है । भाव यह है कि परमात्मा से ही सभी आत्माएँ उत्पन्न हुई हैं । इस प्रकार आगे चलकर विकसित होने वाले दार्शनिक विचारों का मूल यहाँ मिल जाता है ।

(ii) प्रजापति इतना शक्तिशाली है कि समस्त प्राणी मात्र तथा देवता इन्हीं के नियन्त्रण में रहते हैं । यहाँ तक कि अमरता और मृत्यु भी उसकी प्रतिभूति है । प्रजापति से अधिक सामर्थ्यवान् और कोई नहीं है ।

(iii) 'कस्मै देवाय' के विवेचन के लिए इस सूक्त के प्रथम मंत्र की प्रथम टिप्पणी का अवलोकन करें ।

(iv) बलदाः – बल उपपद + दा धातु + विच् प्रत्यय । सायण– बलदाता या बलशोधक, सामर्थ्यप्रद । पीटर्सन–बल को देने वाला, शक्तिदायी ।

(v) प्रशिषम्– प्र + शास् + क्विप् । द्वितीया विभक्ति एकवचन का रूप ।

(vi) उपासते – उप उपसर्ग + आस् धातु, लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन ।

(vii) यस्यौच्छायामृतं यस्य मृत्युः – अमृतम्– (1) अमृतत्व (2) अमृतः, सुधा । उव्वट, महीधर– जिसका आश्रय अमृत रूप मोक्ष हेतु है तथा जिसकी अकृपा आवागमन रूप मृत्यु है । पीटर्सन– जिसकी छाया अमरता एवं मृत्यु है ।

यः प्राणतो निमिषतो महि

त्वैक इन्द्राजा जगतो बभूव ।

य ईशो अस्य द्विपदश्चतुष्पदः

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ 3 ॥

अन्वय — यः प्राणतः निमिषतः जगतः महित्वा एकः इत् राजा बभूव । यः अस्य द्विपदः चतुष्पद ईशे । कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

शब्दार्थ — प्राणतः — प्राणों को धारण करने वालों का । निमिषतः — पलक झपकने वालों का । जगतः — संसार से । महित्वा— महिमा से । एक— अद्वितीय । इत्— ही । राजा— प्रभु । बभूव— हो गया । अस्य— इस दृश्यमान जगत् के । द्विपदः — दो पैरों का आश्रय लेने वाले मनुष्य आदि पर । चतुष्पदः — गौ आदि पशुओं पर । ईशे— शासन करता है ।

संदर्भ — यह मन्त्र 'हिरण्यगर्भ सूक्त' से लिया गया है जो कि ऋग्वेद के दशम मण्डल का 121 वाँ सूक्त है । इस मंत्र में हिरण्यगर्भ ऋषि ने प्रजापति देव के महत्त्वपूर्ण कार्यों का वर्णन किया है—

अनुवाद— जो प्रजापति श्वास लेते हुए तथा पलक झपकते हुए प्राणियों वाले संसार का अपने महत्त्व से अकेले ही स्वामी हो गया, जो इस मनुष्य व पक्षी आदि दो पैरों वाले, पशु आदि चार पैरों वाले प्राणियों पर शासन करता है । ऐसे प्रजापति देव को हम हवि द्वारा प्रसन्न करते हैं ।

टिप्पणी—

- (i) यहाँ पर प्रजापति के प्रभुत्व का उल्लेख किया गया है । इसके नियन्त्रण में वे सभी हैं, जो श्वास लेते हैं या नेत्रों से देखते हैं । इसी प्रकार दो पैरों वाले तथा चार पैरों वाले भी इसी प्रजापति के नियन्त्रण में रहते हैं । अपने महत्त्व से अकेला प्रजापति ही इसी पूरी पृथ्वी का स्वामी हो गया, जिस प्रकार कि इन्द्र ने जन्म लेते ही अपनी शक्ति से देवताओं में प्रमुख पद को प्राप्त कर लिया था ।
- (ii) प्राणतः — प्र + अन् (प्राणने) + शतृ प्रत्यय, षष्ठी विभक्ति एकवचन का रूप ।
- (iii) निमिषतः — नि + मिष् (स्फुरित होना, चलना) + शतृ प्रत्यय, षष्ठी विभक्ति एकवचन ।
- (iv) महित्वा — महत् + त्व — महित्व । तृतीया का एकवचन वैदिक रूप ।
- (v) द्विपदः — द्वौ पादौ यस्य तत्, द्विपात्, तस्य । षष्ठी एकवचन ।
- (vi) चतुष्पदः — चत्वारः पादाः अस्य तत् चतुष्पात्, तस्य ।
- (vii) ईशे— ईश् धातु लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन, वैदिक रूप ।
- (viii) प्रस्तुत मन्त्र में त्रिष्टुप् छन्द है ।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा

यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।

यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ 4 ॥

अन्वय — इमे हिमवन्तः यस्य महित्वा, रसया सह समुद्रं यस्य आहुः, यस्य इमाः प्रदिशः यस्य बाहू, कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

शब्दार्थ — इमे— ये प्रसिद्ध । हिमवन्तः— हिमालय पर्वत श्रेणियाँ । यस्य— जिस प्रजापति के । महित्वा— महिमा को । रसया सह— पृथ्वी के साथ या नदी समूह के साथ । समुद्रं— पयोधि । आहुः — कहते हैं । इमाः — ये चारों ओर वर्तमान । प्रदिशः — ईशान, वायव्य, नैऋत्य और आग्नेय आदि कोण । बाहू— भुजाओं के समान प्रधान पूर्व, पश्चिम, उत्तर ओर दक्षिण दिशाएँ ।

संदर्भ — प्रस्तुत मन्त्र 'हिरण्यगर्भ सूक्त' से उद्धृत है, जो कि ऋग्वेद के दशम मण्डल का 121 वाँ सूक्त है । इस मंत्र में हिरण्यगर्भ ऋषि ने प्रजापति देव के महत्त्व का प्रतिपादन किया है ।

अनुवाद— ये हिमालय पर्वत जिसके महत्त्व को बताते हैं, नदी या पृथ्वी के सहित समुद्र जैसी महिमा

को प्रकट करते हैं, जिसकी ये दिशाएँ और विदिशाएँ है। हम उस प्रजापति को हवि द्वारा प्रसन्न करते हैं।

टिप्पणी—

- (i) इस मंत्र में हिमालय, समुद्र, पृथ्वी तथा समस्त दिशाएँ व उपदिशाएँ उस प्रजापति के गौरव को व्यक्त करने वाली हैं। 'रसा' शब्द का अर्थ नदी होता है, किन्तु संस्कृत में पृथ्वी का सूचक भी माना जाने लगा था।
- (ii) हिमवन्तः — हिमा अस्मिन् सन्तीति हिमवान् ते। हिम+मतुप्, प्रथमा एकवचन।
- (iii) महित्वा — इसे सायण, उव्वट तथा महीधर द्वितीया का एकवचन स्वीकारते हैं तथा इसका अर्थ 'महत्त्व को, महिमा को' करते हैं। वस्तुतः यह तृतीया विभक्ति का रूप है।
- (iv) रसया — रसः (जलम्) अस्याः वा अस्ति इति रसा (नदी), स्त्रीलिंग, तृतीया एकवचन का रूप है, 'रमा' के समान।
- (v) आहुः — ब्रू धातु लट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन का वैकल्पिक रूप।
- (vi) प्रदिशः — सायण— आग्नेय आदि कोण। उव्वट—महीधर—पूर्व आदि दिशाएँ। पीटर्सन — आकाश के क्षेत्र।
- (vii) छन्द पूर्ति के लिए 'यस्येमे' को 'यस्य इमे' तथा 'यस्येमाः' को 'यस्म इमाः' पढ़ना चाहिये।
- (viii) इस मंत्र का सार यह है कि सम्पूर्ण चराचर जगत् उस प्रजापति की महिमा का ही परिणाम है।

येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृल्हा

येन स्वः स्तंभितं येन नाकः।

यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ 5 ॥

अन्वय — येन द्यौः उग्रा च पृथिवी दृल्हा, येन स्वः स्तंभितम् येन नाकः, यः अन्तरिक्षे रजसः विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम।

शब्दार्थ — येन— जिस प्रजापति के द्वारा। द्यौः — अन्तरिक्ष। उग्रा— उग्र रूप में वर्तमान। पृथिवी— भूमि। दृल्हा— स्थिरता को ले जाई गई। स्वः — स्वर्ग। स्तंभितम् — स्थिर बनाया। नाकः — सूर्य। अन्तरिक्षे— आकाश में। रजसः — जल का। विमानः — निर्माता।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के दशम मण्डल का 121 वाँ मंत्र है। इस मंत्र में हिरण्यगर्भ ऋषि ने विभिन्न लोकों के निर्माता के रूप में प्रजापति देव के महत्त्व की प्रशंसा की है—

अनुवाद— जिसके द्वारा आकाश और उग्र पृथ्वी दृढ़ बनाई गई। जिसने स्वर्ग को स्थिर बनाया तथा सूर्य को आकाश में स्थापित किया। जिसने आकाश में जल उत्पन्न किया। हम उस प्रजापति को हवि द्वारा प्रसन्न करते हैं।

टिप्पणी—

- (i) इस मंत्र में पृथ्वी की उस अवस्था की ओर संकेत किया गया है, जबकि अत्यन्त गर्म होने के कारण उसके तल पर अनेक उथल-पुथल होती रहती थी, आकाश निरन्तर बादलों से घिरा रहता था एवं भीषण गर्जनाओं के कारण कौंप उठता था। इसी प्रकार के भाव इन्द्र सूक्त में भी प्राप्त होते हैं—'यः पृथ्वीम् व्यथमानाम् अदृंहत्' स्वर्ग या अन्तरिक्ष लोक को भी पृथ्वी के ऊपर माना गया है। उसे भी स्थिर करने का श्रेय प्रजापति को ही प्राप्त हुआ है। आर्य ऋषियों ने प्रातःकाल पूर्व दिशा में सूर्य को उदय होते हुए देखा तथा यह भी देखा कि दिन भर सूर्य आकाश में रहता है, किन्तु वह नीचे

पृथ्वी पर गिरता नहीं है, उसे किसी ने मानो आकाश में कर दिया है, इसका भी कारण प्रजापति को स्वीकार किया गया है। आकाश में जल का निर्माण करने का उत्तरदायित्व भी इसे ही प्रदान किया गया है। इस प्रकार विश्व में जितने भी महान् तथा महत्त्वपूर्ण कृत्य हैं, उन सबको सम्पन्न करने का श्रेय प्रजापति को दिया गया है।

- (ii) प्रस्तुत मंत्र में प्रजापति की महिमा को व्यक्त करते हुए उसे ही सम्पूर्ण सृष्टि का जनक माना गया है।
- (iii) उग्रा – उद् + गुरो उद्यमने + क (अ) + टाप्। सायण ने 'उग्रा' को पृथिवी का विशेषण मानकर 'उठी हुई या गहन' अर्थ किया है। उव्वट-महीधर ने 'उग्रा' को 'द्यौः' का विधेय ही माना है। इन्होंने इसका अर्थ 'वृष्टिदायिनी' किया है। पीटर्सन- इन्होंने 'उग्रा' को 'द्यौः' का विशेषण मानकर 'महान्' अर्थ किया है।
- (iv) दृल्हा – यह 'दृढा' का वैदिक रूप है। दृह् + क्त + टाप्।
- (v) स्वः नाकः – सायण ने 'स्वः' का अर्थ स्वर्ग तथा 'नाकः' का अर्थ 'आदित्य' किया है। प्रारम्भ में ये दोनों अलग-अलग लोक माने जाते थे। कालान्तर में दोनों स्वर्ग के पर्यायवाची बन गये हैं।
- (vi) विमानः – वि उपसर्ग + मा धातु + ल्युट् प्रत्यय।
- (vii) स्तंभितम् – स्तम् धातु + क्त प्रत्यय, नपुंसक लिंग, प्रथमा, एकवचन।
- (viii) प्रस्तुत मंत्र में त्रिष्टुप् छन्द है।

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने।

अभ्यैक्षेताम् मनसा रेजमाने।

यत्राधिसूर उदितो विभाति

कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ 6॥

अन्वय – रेजमाने क्रन्दसी अवसा तस्तभाने य मनसा अभि ऐक्षेताम्, यत्र अधिसूरः उदितः विभाति, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

शब्दार्थ – रेजमाने- प्रकाशमान। क्रन्दसी- द्यावा पृथ्वी पर। अवसा- रक्षा द्वारा। तस्तभाने- स्थिरता को प्राप्त होने पर। यः – जिस प्रजापति को। मनसा- अपनी बुद्धि से। अभि ऐक्षेताम्- देखा था। यत्र- जिस प्रजापति में। अधि- आधारभूत होने पर। सूरः – सूर्य। उदितः – उदय होता हुआ। विभाति – प्रकाशित या शोभित होता है।

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र 'प्रजापति सूक्त' से लिया गया है। यह ऋग्वेद के दशम मण्डल का 121 वाँ सूक्त है। इसके देवता कः (प्रजापति), ऋषि हिरण्यगर्भ तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस मंत्र में हिरण्यगर्भ ऋषि ने प्रजापति की महिमा का वर्णन किया है।

अनुवाद- प्रकाशमान आकाश और पृथ्वी, प्रजापति से प्राप्त की गई रक्षा द्वारा स्थिर होकर, जिस प्रजापति को अपने महत्त्व का कारण मानते हैं। जिसके सहारे पर सूर्य उदित होकर शोभा देता है, हम उस प्रजापति देव को हविष्यान्न द्वारा प्रसन्न करते हैं।

टिप्पणी-

- (i) इस मंत्र में भी आकाश और पृथ्वी की रक्षा करने का श्रेय प्रजापति को प्रदान किया गया है तथा सूर्य द्वारा संसार को प्रकाशित करने का महत्त्व भी इसे ही समर्पित किया गया है। आकाश, पृथ्वी और सूर्य- इन तीनों को स्थिर करने का महत्त्व भी प्रजापति को ही प्राप्त है। इस प्रकार

प्रस्तुत मंत्र में प्रजापति का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।

- (ii) क्रन्दसी – क्रन्द् + असुन्। स्त्रीलिंग, प्रथम विभक्ति। द्विवचन का रूप। तै सं.– प्रजापति के रोदन से उत्पन्न द्यु लोक ओर पृथिवी लोक। मैक्समूलर– ‘क्रन्दसी’ के स्थान पर ‘रोदसी’ पाठ होना चाहिए।
- (iii) तस्तभाने– स्तम्भ् + कानच् + टाप् – तस्तभाना। प्रथम का द्विवचन।
- (iv) रेजमाने – राज् + कानच् + टाप् – रेजमाना। प्रथम का द्विवचन। डॉ. गुप्त – इसे रेज् (चमकना) + शानच् का रूप मानना अधिक उपयुक्त है।
- (v) अभ्यैक्षेताम् – अभि उपसर्ग + ईक्ष् धातु, लङ् लकार प्रथम पुरुष द्विवचन।
- (vi) मनसा–सायण– बुद्धि से। सायण– ‘मनसा’ का अन्वय अभ्यैक्षेताम् से कर ‘बुद्धि से समीक्षण किया’ अर्थ करते हैं।

आपो ह यद् बृहतिर्विश्वमायन्

गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।

ततो देवानां समवर्ततासुरेकः

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ 7 ॥

अन्वय – बृहती अग्निम् जनयन्ती, गर्भम् दधानाः यत् आपः ह विश्वमायन् ततः देवानाम् एकः असुः समवर्तत, कस्मै देवाय हविषा विधेम।

शब्दार्थ – बृहतीः – महान् ओर विस्तृत। अग्निम्– वैश्वानर अग्नि को। जनयन्ती उत्पन्न करती हुई। गर्भम्– हिरण्यम अंडे के गर्भभूत प्रजापति को। दधानाः – धारण करती हुई। यत्– जो। आपः – जल। ह– ही। विश्वम् – सम्पूर्ण जगत में। आयन– फैल गया। ततः – गर्भभूत प्रजापति से। देवानाम् – देवताओं तथा अन्य प्राणियों का। एकः अद्वितीय। असुः प्राणात्मक वायु। समवर्तन – उत्पन्न हुआ।

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र ‘प्रजापति सूक्तम्’ से लिया गया है। यह ऋग्वेद के दशम मण्डल का 121 वाँ सूक्त है। इसके देवता कः (प्रजापति), ऋषि हिरण्यगर्भ तथा छन्द त्रिष्टुप् है। इस मंत्र में बताया गया है कि सृष्टि के आदि में जल था, उसमें अग्नि तथा बाद में वायु के रूप में प्रजापति ने किस प्रकार अपना स्वरूप ग्रहण किया–

अनुवाद– विस्तृत जल राशि अग्नि को उत्पन्न करती हुई और हिरण्यगर्भ को धारण करती हुई सारे विश्व में फैल गई। उससे देवी और मानुषी सृष्टि में अद्वितीय प्राणवायु रूप में यह उत्पन्न हुआ। हम उस प्रजापति देव को हविष्यान्न द्वारा प्रसन्न करते हैं।

टिप्पणी–

- (i) इस मंत्र में सृष्टि के आदि में किस प्रकार की स्थिति थी तथा उसके बाद उसमें किस–किस प्रकार का परिवर्तन आया, इन सबका विश्लेषण प्रजापति के संदर्भ में किया गया है।
- (ii) प्रस्तुत मंत्र का सारांश यह है कि सृष्टि के आदिकाल में जब सर्वत्र विशाल जल राशि फैली हुई थी। उस समय भी हिरण्यगर्भ प्रजापति विद्यमान था। उस समय वह समस्त सृष्टि के प्राणभूत तत्व के रूप में विद्यमान था।
- (iii) बृहतीः – यह ‘बृहती’ शब्द से प्रथमा विभक्ति का बहुवचन है। यह वैदिक रूप है। लोक में ‘बृहत्यः’ रूप बनेगा।
- (iv) जनयन्तीः – जन् धातु + णिच् + शतृ + डीप्, प्रथम बहुवचन वैदिक रूप। लौकिक संस्कृत में ‘जनयन्त्यः’ रूप बनता है।

- (v) दधानाः – धा + शानच् + टापृ – दधाना, प्रथमा बहुवचन ।
- (vi) आयन् – 'इण गतौ' धातु लङ् लकार (स्त्रीलिंग) प्रथम पुरुष बहुवचन ।
- (vii) ततः – सायण– प्राणात्मक वायु । उव्वट–महीधर– संवत्सर तक जल में स्थित गर्भ से । पीटर्सन– तब (जब जल राशि विस्तृत हुई) ।
- (viii) असुः – सायण– प्राणात्मक वायु । उव्वट–महीधर– प्राणरूप आत्मा, लिंग शरीर रूप गर्भ । पीटर्सन– आत्मा ।
- (ix) समवर्तत – सम् + वृत् धातु + लङ् लकार, प्रथम पुरुष एकवचन ।
- (x) इस मंत्र में छन्दोविधान की दृष्टि से 'एकः' पद अधिक है, अतएव अर्नाल्ड ने इसे 'अधिकाक्षर' ऋक् माना है । रॉथ का मत है कि यदि ऋक् को शुद्ध करने की दृष्टि से 'एकः' को निकाल दिया जाये तो भाव या अर्थ की कोई हानि नहीं है ।

यश्चिदापो महिना पर्यपश्य

दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।

यो देवेष्वधिदेव एक आसीत्

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ 8 ॥

अन्वय – यः चित् यज्ञं जनयन्ती, दक्षं दधानाः, आपः महिना पर्यपश्यत् । यः देवेषु एकः अधिदेवः आसीत् । कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

शब्दार्थ – यः – जिस प्रजापति ने । चित्– एकाकी ही । यज्ञं– यज्ञात्मक कर्म को । जनयन्ती– उत्पन्न करती हुई । दक्षं– चातुर्य को या प्रजापति को । दधाना– धारण करती हुई । आपः – जल । महिना– महत्त्व से । पर्यपश्यत्– चारों ओर देखा । यः – जो प्रजापति । देवेषु– देवताओं के मध्य । अधिदेवः – सर्वोपरि विराजमान होता हुआ । आसीत्– था ।

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र 'प्रजापति सूक्त' से लिया गया है । यह ऋग्वेद के दशम मंडल का 121 वाँ सूक्त है, जिसके देवता कः, ऋषि हिरण्यगर्भ एवं छन्द त्रिष्टुप् है । इसमें प्रजापति का महत्त्व बताया गया है–

अनुवाद– जिसने यज्ञ को उत्पन्न करने वाले, प्रजापति को धारण करने वाले जलों को अपने माहात्म्य से परिपूर्ण रूप में देखा, जो देवताओं का स्वयं अधीश्वर है । हम उस प्रजापति को हवि द्वारा प्रसन्न करते हैं ।

टिप्पणी –

- (i) इस मंत्र में प्रजापति के वैशिष्ट्य का वर्णन किया गया है ।
- (ii) दक्षम्–सायण – प्रपञ्च रूप से वृद्धि के निमित्त समुद्यत प्रजापति को । महीधर– कुशल प्रजापति को । पीटर्सन– शक्ति, बल ।
- (iii) यज्ञम्–सायण– यज्ञोपलक्षित विकास समूह । उव्वट– सृष्टि यज्ञ । पीटर्सन– यज्ञ ।
- (iv) जनयन्तीः – जन् धातु + णिच् + शत् + डीप्, द्वितीया बहुवचन ।
- (v) दधानाः – धा धातु + शानच्, स्त्रीलिंग द्वितीया विभक्ति बहुवचन ।
- (vi) आपः – यहाँ द्वितीया के स्थान पर प्रथमा का प्रयोग हुआ है । यह कर्म है । अतः द्वितीया अपेक्षित है ।

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या

यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान ।

यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान

कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ 9 ॥

अन्वय — नः मा हिंसीत् यः पृथिव्याः जनिता, यः वा सत्यधर्मा दिवं जजान, सः चन्द्राः बृहतीः आपः जजान, कस्मै देवाय हविषा विधेम ।

शब्दार्थ — मा— नहीं । नः — हमको । हिंसीत्— मारे । यः — जो कि । पृथिव्याः — पृथ्वी का । जनिता— पैदा करने वाला । वा— अथवा । सत्याधर्मा— नियमों को धारण करते हुए । जजान— उत्पन्न किया है । दिवं— स्वर्ग को । यः च — और जिसने । चन्द्रा— आनन्ददायक । बृहती— महान् । आपः — जल राशि को । कस्मै देवाय— प्रजापति देव को ।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र 'प्रजापति सूक्त' से लिया गया है। यह ऋग्वेद के दसवें मण्डल का 121 वाँ सूक्त है जिसके देवा कः, ऋषि हिरण्यगर्भ एवं छन्द त्रिष्टुप् है। इस मंत्र में प्रजापति के महत्त्व को प्रदर्शित किया गया है—

अनुवाद— वह हिरण्यगर्भ प्रजापति हमारी हिंसा न करें जो पृथ्वी लोक को पैदा करने वाला है, सत्यधर्मा जिसने द्युलोक को उत्पन्न किया है, जिसने आनन्द प्रदान करने वाले महान जल राशि को उत्पन्न किया है कः नाम वाले प्रजापति को हम हवि द्वारा प्रसन्न करते हैं ।

टिप्पणी—

(i) सत्यधर्मा — इस शब्द के विद्वानों ने अलग-अलग अर्थ किये हैं ।

- (1) जगत् को धारण करने वाले रूप सत्य धर्म वाला ।
- (2) सत्य का धारक
- (3) सत्य को धारण करने या कराने वाला और
- (4) सच्चा और विश्वस्त ।

(ii) प्रजापति सृष्टि का रचयिता है, उसने तीनों लोकों का निर्माण किया । वह पृथ्वी लोक का निर्माता है, उसने द्युलोक को उत्पन्न किया तथा वही आनन्ददायिनी बहती जल राशि को उत्पन्न करने वाला है ।

(iii) हिंसीत् — हिंस् धातु + लङ् + प्रथम पुरुष एकवचन ।

(iv) जनिता — जन् धातु + णिच् + तृच् का पुल्लिङ्ग प्रथमा एकवचन का वैदिक रूप ।

(v) जजान — जन् धातु + णिच् + लिट् + प्रथम पुरुष एकवचन, 'जनयामास' का वैदिक रूप है ।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा

जातानि परि ता बभूव ।

यत्कामस्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु

वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ 10 ॥

अन्वय — प्रजापते! त्वत् अन्यः एतानि विश्वा जातानि ता न परिबभूव । यत् कामाः ते जुहुमः तत् नः अस्तु । वयम् रयीणाम् पतयः स्याम ।

शब्दार्थ — विश्वा जाति— सम्पूर्ण उत्पन्न हुए पदार्थों का । परिबभूव — व्याप्त किए हुए है । यत्कामाः — जिस फल की कामना करते हुए । जुहुमः — आहुति देते हैं । नः — हमें । अस्तु— होवे । रयीणाम्— धनों के । पतयः — स्वामी । स्याम — हो जाएँ ।

संदर्भ — प्रस्तुत प्रजापति—सूक्त का अन्तिम मंत्र है । इसमें हिरण्यगर्भ ऋषि ने प्रजापति देव से समृद्ध

बनाने तथा कृपा दृष्टि रखने हेतु प्रार्थना की है—

अनुवाद— हे प्रजापति! आपके अतिरिक्त कोई दूसरा इन वर्तमान सभी उत्पन्न पदार्थों को व्याप्त नहीं कर सकता है। हम जिस कामना से युक्त होकर तुम्हें हवि प्रदान करते हैं, हमारी वह कामना पूर्ण हो तथा हम लोग धनों के स्वामी हो जायें।

टिप्पणी—

- (i) विश्वा ता — ये वैदिक रूप है। लोक में 'विश्वानि' तथा 'तानि' रूप बनते हैं।
- (ii) जातानि — जन् धातु + क्त प्रत्यय, नपुंसकलिंग, द्वितीया विभक्ति बहुवचन।
- (iii) जुहुमः — हु धातु लट् लकार उत्तम पुरुष बहुवचन।
- (iv) स्याम— अस् धातु विधि लिंग उत्तम पुरुष बहुवचन।
- (v) वयं स्याम पतयो रयीणाम् — वेद में इस प्रकार की प्रार्थना अनेक स्थानों पर की गई है। वैदिक ऋषियों की यह कामना थी कि सभी लोक दीर्घायु, धनवान एवं पुत्रवान् हों।

1.6 संज्ञान—सूक्त (10.191)

संसमिद्यु वसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।

इल स्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर॥ 1॥

अन्वय — वृषन् अग्ने, अर्यः (त्वम्) विश्वानि इत् संसम् आयुवसे। (त्वम्) इलः पदेः समिध्यसे। सः (त्वम्) न वसूनि आभर।

शब्दार्थ — वृषन्— कामनाओं के वर्षक। अर्यः — प्रभु। इत्— ही। संसम्— अच्छी तरह से। आयुवसे— संयुक्त करते हो, मिलाने रहते हो। इलः — पृथिवी के। समिध्यसे— प्रदीप्त किए जाते हो। आभर— प्रदान करो।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के दशम मण्डल के 191 वें सूक्त 'संज्ञान—सूक्त' से उद्धृत है। इसके ऋषि संवनन, देवता संज्ञान तथा इस मंत्र में छन्द अनुष्टुप् है। इस मंत्र में अग्नि देव की स्तुति की गई है तथा उससे प्रार्थना की गई है कि वह सभी स्तोताओं को धन प्रदान कर अनुगृहीत करें।

अनुवाद— ऋषि संवनन प्रार्थना करते हैं कि हे कामनाओं के वर्षक अग्निदेव! आप सब प्राणियों के स्वामी तथा सब को सम्यक् प्रकारेण मिलाने वाले हो। आप इस पृथ्वी के स्थान अर्थात् यज्ञीय—वेदी पर प्रज्वलित किये जाते हो। वह आप हमें धन प्रदान करो।

टिप्पणी—

- (i) संज्ञान सूक्त के इस प्रथम मंत्र में अग्निदेव की स्तुति की गई है। वस्तुतः ऋग्वेदीय देवताओं में अग्नि का महत्त्वपूर्ण स्थान था तथा वह अपने स्तोताओं की कामना—पूर्ति भी करता था। मंत्र में प्रयुक्त 'वृषन्' सम्बोधन अपने आप में सार्थक तथा महत्त्वपूर्ण है।
- (ii) वृषन् — वृष् धातु + कनिन् प्रत्यय, पुल्लिंग, सम्बोधन एकवचन।
- (iii) समिध्यसे — सम + इन्ध् धातु, कर्मवाच्य लट् लकार, मध्यम पुरुष एकवचन।
- (iv) युवसे — यु धातु + लट् लकार, मध्यम पुरुष एकवचन, आत्मनेपद।
- (v) आभर — आ + वृ धातु + लोट् लकार + मध्यम पुरुष, एकवचन।

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते॥ 2॥

अन्वय — संगच्छध्वम्, संवदध्वम्, वः मनांसि सं जानताम् यथा पूर्वे संजानानाः देवा भागं उपासते।

शब्दार्थ – संगच्छध्वम्— साथ-साथ चलो। संवदध्वम्— मिलकर वार्तालाप करो। वः – तुम्हारे। मनांसि— चित्त को। जानताम्— जानें। यथा— जैसे। पूर्वे— पहले के। संजानानाः – ज्ञानार्जन करते हुए। देवाः – देवता लोग। भागम्— कर्तव्य के भाग को। उपासते— समीप में बैठते थे।

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र 'संज्ञान सूक्त' में से लिया गया है। यह ऋग्वेद संहिता के दशम मण्डल का अन्तिम सूक्त है। इस सूक्त में कुल 4 मंत्र हैं, जिसमें पहले मंत्र का देवता अग्नि तथा अन्य तीनों के देवता संज्ञान है। इस सूक्त के ऋषि संवनन आंगिरस हैं। प्रस्तुत मंत्र में अनुष्टुप् छन्द है।

अनुवाद— हे स्तोताओ, तुम सब मिलकर चलो, परस्पर मिलकर एक-सी वाणी बोलो तथा साथ मिलकर अपने मनो को जानो। जिस प्रकार प्राचीन समय में एक मत से रहने वाले देवजन सेवनीय कर्तव्य के भाग को मिलकर एक स्थान पर बैठकर करते थे, उसी प्रकार आप लोग भी अपना कर्तव्य मिलकर करते रहो।

टिप्पणी—

- (i) प्राचीन वैदिक साहित्य में भावात्मक एकता की प्रेरणा के स्रोत अनेक स्थानों पर मिलते हैं। उस समय एक साथ मिलकर कार्य करने को बल दिया जाता था। वर्तमान समय की तरह अधिक भेदभाव नहीं थे।
- (ii) प्रस्तुत मंत्र में ऋषि द्वारा जो उपदेश प्रदान किया गया है, वह सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक महत्त्व रखने वाला है। किसी भी समाज अथवा देश के नागरिकों के लिए इससे श्रेष्ठ उपदेश और कोई नहीं हो सकता है। विशेष रूप से वर्तमान परिस्थितियों में भारतवासियों के लिए इस मंत्र में दी गई शिक्षाएँ अत्यन्त सारगर्भित एवं ग्रहण करने योग्य है।
- (iii) संगच्छध्वम् – सम् उपसर्ग ग् धातु + लोट् लकार, मध्यम पुरुष बहुवचन आत्मनेपद।
- (iv) संवदध्वम्— सम् उपसर्ग + वद् धातु लोट् लकार मध्यम पुरुष, बहुवचन, आत्मनेपद।
- (v) जानताम्— ज्ञा धातु लोट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन।
- (vi) संजानानाः – सम् + ज्ञा + शानच् प्रत्यय, प्रथमा बहुवचन पुल्लिङ्ग।
- (vii) आसते – आस् धातु, लट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन।
- (viii) इसमें अनुष्टुप् छन्द है।

समानो मन्त्रः समितिः समानी

समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः

समानेन वो हविषा जुहोमि॥ 3॥

अन्वय – मन्त्रः समानः, समितिः समानी, मनः समानम्। एषां चित्तम् सह। वः समानम् मन्त्रम् अभिमन्त्रये। वः समानेन हविषा जुहोमि।

शब्दार्थ – समानः – एक जैसा। मन्त्रः – विचार। समितिः – सभा। समानी— एक जैसी। मनः – अन्तःकरण। समानम्— तुल्य। एषाम्— इनका। चित्तम्— हृदय। सह— साथ। वः – आपको। समानं— समान। मन्त्रम्— विचार, मन्त्रणा। अभिमन्त्रये— विचार करता हूँ। वः – आप सबको। समानेन— एक जैसी। हविषा— हवि से। जुहोमि— यजन करता हूँ।

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र 'संज्ञान सूक्तम्' से लिया गया है। इस मंत्र के ऋषि संवनन आंगिरस हैं, देवता संज्ञान हैं। इसमें ऋषि ने सभी स्तुति करने वालों को भेदभाव भुलाकर एकमत होकर कार्य करने की प्रेरणा प्रदान की है—

अनुवाद— हे मनुष्यों! आप सबका विचार सबके लिए समान हो, आप सब की सभा एक जैसी हो, आप सबका मन एक जैसा हो। सभी का चित्त साथ-साथ समान हो। आप सब लोगों के लिए समान विचार मैं प्रदान करता हूँ। आप सब को एक ही हवि द्वारा हवन करने का मैं आदेश देता हूँ।

टिप्पणी—

- (i) समिति: — सम् + इ + क्तिन्, स्त्रीलिंग प्रथम, एकवचन।
- (ii) समानी— समान + डीष्
- (iii) हविषा — हविष् शब्द से तृतीया विभक्ति एकवचन का रूप।
- (iv) अभिमन्त्रये— अभि + मन्त्र, लट् लकार उत्तम पुरुष एकवचन।
- (v) जुहोमि— हु धातु, लट् लकार, उत्तम पुरुष, एकवचन।
- (vi) संजानानाः — सम् + ज्ञा + शानच् प्रत्यय, प्रथमा बहुवचन पुल्लिंग।
- (vii) प्रस्तुत मंत्र में सभी लोगों को एकता बनाये रखने तथा पारस्परिक वैरभाव त्याग कर हर प्रकार से समान रहने का उपदेश दिया गया है। सूक्त की यह भावना सर्वथा समुचित है, विशेष रूप से वर्तमान में तो 'संगठन में ही शक्ति है' यह कहावत अक्षरशः सत्य है। भावात्मक एकता को बनाये रखने में यह सूक्त अत्यन्त उपयोग सिद्ध हो सकता है।
- (viii) प्रस्तुत मंत्र में त्रिष्टुप् छन्द है।

समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।4।।

अन्वय — वः आकूतिः समानी, वः हृदयानि समानाः, वः मनः समानम् अस्तु, यथा वः सुसह असति।

शब्दार्थ — वः — आप लोगों की। आकूतिः — संकल्प भावना। समानी— एक जैसी। हृदयानि— हृदय। समाना— तुल्य। मनः चित्त। समानम्— एक जैसा। अस्तु— होवे। यथा— जिससे। वः — तुम्हारा। सुसह— अच्छा साथ। असति— होवे।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र ऋग्वेद के दशम मण्डल के 191 वें सूक्त 'संज्ञान सूक्त' से लिया गया है। यह इस सूक्त का अन्तिम मंत्र है। इस मंत्र में भी ऋषि ने सभी व्यक्तियों की सब बातों में समानता की अपेक्षा की है। इस सूक्त के ऋषि संवनन व देवता संज्ञान है।

अनुवाद— आपके संकल्प भाव एक से हों, आपके हृदय समान हों, आपका मन समान हो, जिससे आप सभी लोग मिलकर एक साथ रह सकें तथा सभी एकमत होकर कार्य कर सकें।

टिप्पणी—

- (i) सम्पूर्ण मानव समाज की सब बातें एक जैसी हों, उनके विचार, उनका कार्यकलाप तथा उनका कार्य करने का ढंग सब कुछ एक समान हो, किसी भी प्रकार का भेदभाव न रहे— यही इस मंत्र की मूल भावना है।
- (ii) प्रस्तुत मंत्र के भाव अत्यन्त सुन्दर एवं स्तुत्य हैं। भावात्मक एकता की दृष्टि से इस मंत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस मंत्र में ऋषि ने समान संकल्प, समान हृदय, समान मन एवं समान विचारधारा का उपदेश दिया है।
- (iii) आकूतिः — आ + कू धातु + क्तिन् प्रत्यय, स्त्रीलिंग, प्रथमा, एकवचन।
- (iv) असति— अस् धातु लेट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन, सायण ने इसे लट् लकार का वैदिक रूप माना है।

(v) प्रस्तुत मंत्र में अनुष्टुप् छन्द है।

1.7 सारांश –

प्रस्तुत इकाई में निर्धारित सूक्तों से सम्बन्धित मंत्रों में निहित वैदिक वाङ्मय का परिचय दिया गया है। ऋग्वेदादि में वर्णित प्राकृतिक लीलाओं को सुगमतापूर्वक समझने के लिए आर्यों ने भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना की है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देवताओं की क्रीड़ा भूमि के रूप में देखा गया है अर्थात् प्रकृति विभिन्न रूपों में अपनी लीलाएँ करती है, जिन्हें देवताओं के कार्य के रूप में आर्य मानते आये हैं। ऋग्वेद में अग्नि का नेतृत्व शक्तिसम्पन्न होना तथा तेज एवं प्रकाश का अधिष्ठाता होना वर्णित हैं। विष्णु तीनों लोकों को अपनी किरणों से प्रकाशित करने वाले माने जाते हैं। इसी प्रकार इन्हें त्रिविक्रम की उपाधि से अभिहित किया गया है। विष्णु के तीन पादों द्वारा ब्रह्माण्ड नापने का उल्लेख है। इन्द्र पराक्रम के देवता माने गये हैं। इन्द्र ने द्युलोक एवं पृथ्वीलोक को स्थिर किया है। इन्द्र समृद्धिशाली व्यक्ति को प्रेरणा देने वाला है। प्रजापति के रूप में हिरण्यगर्भ की स्तुति की गई है। प्रजापति ही सम्पूर्ण सृष्टि का उत्पादक है। संज्ञान सूक्त में सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकता की भावना व्यक्त हुई है। समाज के सभी लोगों की बातें एक जैसी हों, उनके विचार कार्यकलाप एवं संकल्प एक जैसे हों।

1.8 शब्दावली – शब्दार्थानुसार।

1.9 बोध प्रश्न –

1. अग्नि सूक्त के देवता, ऋषि एवं छन्द का नाम लिखिए।
2. अग्नि सूक्त के मंत्र स. 2,5,7,9 का ससन्दर्भ अनुवाद कीजिये।
3. अङ्गिरा मुनि को जन्म देने वाले देवता कौन हैं।
4. अग्नि देवता हमारे लिए किस प्रकार कल्याणकारी है?
5. विष्णु किस स्थान के देवता हैं?
6. ऋग्वेद के किस देवता के तीन पादों का विशिष्ट उल्लेख है।
7. विष्णु सूक्त के मंत्र 2,4,6 का ससंदर्भ अनुवाद कीजिये एवं विशिष्ट शब्दों की टिप्पणी लिखिए।
8. इन्द्र देव का स्थान कहाँ है?
9. इन्द्र के लिए क्या-क्या विशेषण हैं?
10. इन्द्र का श्रेष्ठ पेय पदार्थ क्या है?
11. सूर्य और उषा को किसने उत्पन्न किया?
12. इन्द्र सूक्त (2.12) के मंत्र 1,5,7,9,12,14 का ससन्दर्भ अनुवाद कीजिए।
13. हिरण्यगर्भ किस स्थान के देवता हैं?
14. आत्माओं के प्रवर्तक एवं बल प्रदायक देवता कौन से हैं।
15. प्रस्तुत सूक्त के मंत्र संख्या 2,4,6 व 8 का ससंदर्भ अनुवाद लिखिये।
16. पृथ्वी लोक, द्युलोक एवं जलराशि को किसने उत्पन्न किया?
17. हमारे विचार कैसे हों।
18. संज्ञान सूक्त ऋग्वेद के किस मण्डल में है?
19. मंत्र संख्या 2,3,4 का ससंदर्भ अनुवाद कीजिये।

1.10 उपयोगी पुस्तकें –

- 1 वेद चयनम्।
- 2 न्यू वैदिक सलेक्शन – तैलंग एण्ड चौबे
- 3 संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय

1.11 बोध प्रश्नों के उत्तर –

1. देवता अग्नि ऋषि विश्वामित्र एवं छन्द गायत्री है।
2. देखिये इकाई– 1.3
3. अग्नि देवता
4. जिस प्रकार पिता पुत्र के लिए सुप्राप्य और कल्याण करने वाला हो।
5. द्युलोक
6. विष्णु
7. देखिये इकाई – 1.4
8. अन्तरिक्ष में
9. सुशिप्र, व्रजिन्, वज्रबाहु
10. सोमरस
11. इन्द्र ने
12. देखिये इकाई – 1.5
13. पृथिवी
14. वृहस्पति।
15. देखिये इकाई – 1.6
16. हिरण्यगर्भ (प्रजापति) ने
17. समान होवें
18. दसवें मण्डल में।
19. देखिये इकाई – 1.7

इकाई -2

यजुर्वेद तथा अथर्ववेद से चयनित सूक्त

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 (अ) (i) यजुर्वेद – शिव संकल्प सूक्त (अध्याय 34)
(ii) यजुर्वेद – पुरुष सूक्त (अध्याय 31)
- 2.3 (आ) (i) अथर्ववेद – राष्ट्राम्भिवर्धनम् सूक्त (1.29)
(ii) अथर्ववेद – काल सूक्त (19.53)
- 2.4 सारांश
- 2.5 विशिष्ट शब्दावली
- 2.6 बोध प्रश्न
- 2.7 उपयोगी पुस्तकें
- 2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य – इस इकाई के अध्यापन के उद्देश्य अधोलिखित हैं –

1. शिक्षार्थियों को यजुर्वेद एवं अथर्ववेद से परिचित कराना।
2. शिक्षार्थियों को यजुर्वेद के शिव संकल्प सूक्त (अध्याय 34) तथा पुरुष सूक्त (अध्याय 31) की जानकारी कराना।
3. शिक्षार्थियों को अथर्ववेद के राष्ट्राम्भिवर्धनम् सूक्त (1.29) एवं काल सूक्त (19.53) से अवगत कराना।
4. उपर्युक्त सूक्तों में निहित मंत्रों के मन्तव्य से परिचित कराना। मंत्रों का ससंदर्भ अनुवाद तथा विशिष्ट शब्दों की टिप्पणी का ज्ञान कराना।

2.1 प्रस्तावना

यजुर्वेद में गद्य एवं पद्य का मिश्रण है। इसमें देवी-देवताओं की स्तुति मिलती है। यजुर्वेद ने यज्ञों को आवश्यकतानुसार वर्षा, समृद्धि अथवा इच्छित फल देने वाला बना दिया।

मौलिक रूप से अथर्वन् शब्द का अर्थ **The knowledge of magic bormulae. Fire priest** अवेस्ता का **Fire people**, इस अथर्ववेद के समकक्ष हैं वहाँ भी अग्नि पुरोहित अग्नि पूजक बने हैं। भारतीय साहित्य में उपलब्ध अथर्वाङ्गिरस शब्द इस वेद का प्राचीनतम अभिधान है जिसका अर्थ हैं। अथर्वो तथा अंगिराओं का वेद। अंगिराजन भी अथर्वो के वर्ग के ही हैं। दोनों के अभिचार मंत्रों में भी विशेष अन्तर नहीं है। अथर्वन शब्द का अर्थ हैं रोगनाशक। इसलिए अथर्वन् ऋषियों के मंत्र रोगनाशक है। जबकि माङ्गीयम् में शत्रुओं, प्रतिद्वन्द्वियों एवं दुष्ट मायावियों के प्रति अभिशाप मंत्र है। अतः अथर्ववेद उक्त दोनों प्रकार की अभिचार विधि की ओर संकेत करता है। ऋग्वेद शब्द का तात्पर्य है ऋचाओं का वेद! ऋचा से अभिप्राय है गेय गद्य का ऋग्वेद संहिता की ऋचाओं में ज्ञान राशि सम्भृत हैं, जो वेदों का लक्ष्य कर कही गई है। अथर्व में अभिचार एवं रोगनाशक मंत्र हैं ऋग्वेद की रचना प्राचीन समय में हुई थी जबकि अथर्ववेद अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। इसलिए दोनों वेदों की विषय सामग्री में भी मौलिक अन्तर मिलता है। ऋग्वेद की अधिकांश रचना सरस्वती नदी के तट पर हुई थी। जबकि अथर्ववेद की रचना गंगा के मैदान में।

2.2 (अ) (i) यजुर्वेद – शिव संकल्प सूक्त (अध्याय 34)

यज्जाग्रतो दुरमुदैति दैवं

तदु सुप्तस्य तथैवैति ।

दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ 1 ॥

अन्वय – यत् जाग्रतः दूरं दैवं तत् सुप्तस्य तथा एव ऐति दूरंगम ज्योतिषां एकं ज्योतिः तत् मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु ।

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के चौतीसवे अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के छः मंत्रों में मन की महानता का वर्णन किय गया है। मन्त्र द्रष्टा ऋषि ने मन से हाने वाली सभी क्रियाओं का यथोचित अवलोकन कर उसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान का ज्ञाता कहा है, ऋषि कहते हैं—

अनुवाद— जो मन पुरुष की जाग्रत अवस्था में नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों से अधिक दूर जाता है। जो आत्मदर्शन करने वाला है, जो पुरुष की सुषुप्ति अवस्था में उसी प्रकार लौट आता है (जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में दूर जाता है) जो दूर जाने वाला है, जो सब बाह्य इन्द्रियों का एकमात्र प्रकाशक है, वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो ।

टिप्पणी—

(i) इसमें मन देवता, याज्ञवल्क्य ऋषि एवं त्रिष्टुप् छन्द है।

(ii) दूरंगमम्— अर्थात् अतीत, अनागत, वर्तमान सब पदार्थों को जानने वाला।

(iii) इसमें मन से होने वाली क्रियाओं का ज्यों का त्यों वर्णन हुआ है।

व्याकरण— जागृ + शतृ + ष.ए.व. – जाग्रतः। उत् + आ + इ + लट् प्र.पु.ए.व. – उदैति।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो

यज्ञे कृण्वन्ति विदधेषु धीराः ।

यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ 2 ॥

अन्वय – येन (मनसा) अपसः मनीषिणः धीराः यज्ञे विदधेषु व कर्माणि कृण्वन्ति यद् अपूर्वं यज्ञं, प्रजानाम् अन्तः तत् मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु ।

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के 34 वें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के 6 मंत्रों में मन की महानता का वर्णन किया गया है। मंत्र द्रष्टा ऋषि ने मन से होने वाली सभी क्रियाओं का यथोचित अवलोकन कर उसे भूत भविष्यत् और वर्तमान का ज्ञाता कहा है। ऋषि मन का वर्णन करते हुए कहते हैं—

अनुवाद— जिस मन से कर्मनिष्ठ बुद्धिमान मेधावी पुरुष यज्ञ में तथा पूजाओं में कर्म करते हैं, जो सबसे पहले उत्पन्न होता है, जो यज्ञ करने में समर्थ है, जो प्राणीभाग के भीतर रहता है वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो ।

टिप्पणी—

(i) इसमें मन देवता, याज्ञवल्क्य ऋषि एवं त्रिष्टुप् छन्द है।

(ii) अपूर्वं— यह कहकर मन की शाश्वतता सिद्ध की है।

व्याकरण— कृ + लट् + प्र. पु. ब. व. – कृण्वन्ति।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च

यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।

यस्मान्न ऋते किं च न कर्म क्रियते

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ 3 ॥

अन्वय – यत् प्रज्ञानम् उत चेतः धृतिः च यत् प्रजासु अमृतं ज्योतिः यस्मात् ऋते किंचन कर्म क्रियते न । तत् मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।

संदर्भ – प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के 34 वें अध्याय से उद्धृत है । इस अध्याय के छः मंत्रों में मन की महानता का वर्णन किया गया है । मन्त्र द्रष्टा ऋषि ने मन से होने वाली समस्त क्रियाओं का अवलोकन कर उसे भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान का ज्ञाता कहा है । इसी प्रसंग में ऋषि मन की महानता बताते हुए कहते हैं—

अनुवाद— जो विशेष ज्ञान तथा सामान्य ज्ञान का साधन है, जो धैर्यरूप है, जो प्राणियों के भीतर अमर ज्योति है, जिसके बिना कुछ भी कर्म नहीं किये जाते, वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो ।

टिप्पणी—

(i) इसमें मन देवता, याज्ञवल्क्य ऋषि एवं त्रिष्टुप् छन्द है ।

(ii) इसमें मन की सर्वव्यापकता बताई गई है ।

येनेदं भूतं भवनं भविष्य

त्परिं गृहीतममृतेन सर्वम् ।

येन यज्ञस्तायते सप्तहोता

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ 4 ॥

अन्वय – येन अमृतेन (मनसा) इदं भूत, भविष्यत् भुवनं सर्वं परिगृहितम् येन सप्तहोता यज्ञः तायते तत् मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु ।

संदर्भ— प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के चौतीसवें अध्याय से गृहीत हैं । इस अध्याय के छः मंत्रों में मन की महानता का वर्णन किया गया है । मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने मन से होने वाली समस्त क्रियाओं का अवलोकन कर उसे भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान का ज्ञाता कहा है । ऋषि कहता है—

अनुवाद— जिस अमर मन के द्वारा इस संसार में भूत, भविष्यत् ओर वर्तमान काल के सभी पदार्थ जाने जाते हैं । जिस मन से सात होता वाला अग्निष्टोम यज्ञ किया जाता है । वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो ।

टिप्पणी—

(i) इसमें मन देवता, याज्ञवल्क्य ऋषि एवं त्रिष्टुप् छन्द है ।

व्याकरण— भू+क्त- भूतम् । परि + गृह + क्त- परिगृहीतम् । तन+आ. लट् प्र.पु.ए.व.—तायते । भू+ल्युट्- भुवनम् । सप्त+हु + तृच् - सप्तहोता

यस्मिन्चाः साम यजूषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।

यस्मिन्श्चित्तंसर्वमोतं प्रजानांतन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ 5 ॥

अन्वय – रथनाभौ अराः इव यस्मिन् ऋचाः साम यजूषि प्रतिष्ठिता, यस्मिन् प्रजानां सर्वं चित्तं ओतं तत् मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।

संदर्भ— प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के चौतीसवें अध्याय से उद्धृत हैं । इस अध्याय के छः मंत्रों में मन की महानता का वर्णन किया गया है । मन्त्र द्रष्टा ऋषि ने मन से होने वाली समस्त क्रियाओं का यथोचित अवलोकन कर उसे भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान का ज्ञाता कहा है । ऋषि कहता है—

अनुवाद— रथचक्र की नाभि में तिल्लियों की तरह जिस मन में ऋचाएँ साम तथा यजुष् प्रतिष्ठित हैं । जिस (मन) में प्राणियों का सर्वपदार्थविषयक ज्ञान निहित है, वह मेरा मन शुभसंकल्प वाला है ।

टिप्पणी—

(i) इसमें मन देवता, याज्ञवल्क्य ऋषि एवं त्रिष्टुप् छन्द है।

(ii) यहां द्रष्टा ने मन को रथ की सुन्दर उपमा दी है।

व्याकरण— प्रति + स्था + क्त- प्रतिष्ठिता। आ + अक् + क्त- ओतम्।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्या

नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।

हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ 6 ॥

अन्वय — यत् मनुष्यान् नेनीयते इव सुसारथिः अश्वान् अभिशुभिः वाजिनः इव यत् हृत्प्रतिष्ठं यत् अजिरं जविष्ठं तत् मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु।

संदर्भ— प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के चौतीसवें अध्याय से उद्धृत हैं। इस अध्याय के छः मंत्रों में मन की महानता का वर्णन किया गया है। मंत्र द्रष्टा ऋषि ने मन से होने वाली समस्त क्रियाओं का यथोचित अवलोकन कर उसे भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान का ज्ञाता कहा है। ऋषि उसी मन का वर्णन करते हुए कहता है—

अनुवाद— जो मन मनुष्यों को बार-बार इधर-उधर प्रेरित करता है, जैसे अच्छा सारथी घोड़ों को ओर लगामों द्वारा घोड़ों की तरह अपने वश में रखता है। जो हृदय में स्थित है, जो जरारहित एवं अत्यन्त वेगवान है। वह मेरा मन शुभसंकल्प वाला हो।

टिप्पणी—

(i) इसमें मन देवता, याज्ञवल्क्य ऋषि एवं त्रिष्टुप् छन्द है।

व्याकरण— नी+लट्+ब्र. पु.ए.व. — नेनीयते।

2.2 (अ) (ii) यजुर्वेद — पुरुष सूक्त (अध्याय 31)

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिम् सर्वतः वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ 1 ॥

अन्वय — पुरुषः सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः, सहस्रपातः सः भूमिम् सर्वतः वृत्वा दशाङ्गुलम् अति अतिष्ठत्।

संदर्भ— प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम पुरुष का वर्णन किया गया है। इसे सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। वह सर्व प्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की। वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है। ऋषि उसके वर्णन में कहता है —

अनुवाद— परम पुरुष असंख्य शिर वाला, असंख्य आँखों वाला तथा असंख्य पैरों वाला है। वह पृथिवी को चारों ओर से व्याप्त करके दश अंगुल प्रमाण में अधिक स्थित है।

टिप्पणी—

(i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है।

(ii) यहाँ पर शिर, आंख और पैर से क्रमशः ब्रह्म की इन तीन शक्तियों की ओर संकेत किया गया है—(1) ज्ञान, अनुभव (2)दर्शन, निरीक्षण (3)गति, धारण

(iii) पुरि शेते इति पुरुषः। सभी प्राणियों का समष्टिभूत ब्रह्माण्ड देहधारी विराट् नामक पुरुष।

व्याकरण— स्था + लङ् प्र.पु.ए.व. — अतिष्ठत्। सर्व + तसिल् — सर्वतः।

पुरुष एवेदं सर्व यद् भूतं यच्च भव्यम्।

उतामृतत्वस्थेशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ 2 ॥

अन्वय — इदं सर्वं यद् भूतं यद् च भव्यं पुरुषः एव । च अमृतत्वस्य ईशानः यद् अन्नेन अतिरोहति

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है । इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम् पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है । इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है । वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की । वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है । ऋषि पुरुष का वर्णन करते हुए कहता है —

अनुवाद— यह सब जो हो गया है और जो होने वाला है वह सब पुरुष ही है और वह अमृतत्व का स्वामी है और जो अन्न से समृद्ध होता है । (उनका भी स्वामी है)

टिप्पणी—

(i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है ।

व्याकरण— भू + क्त - भूतः । भू + ण्यत् - भाव्यम् ईश् + शानच्— ईशानः । अति + रुह्+ लट् प्र. पु.ए.व. - अतिरोहति

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पुरुषः ।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ 3 ॥

अन्वय — एतावान् अस्य महिमा अतः च ज्यायान् पुरुषः । तस्य (एकः) पादः विश्वा भूतानि तस्य त्रिपाद अमृतं दिवि ।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है । इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम् पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है । इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है । वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की । वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है । ऋषि पुरुष का वर्णन करते हुए कहता है —

अनुवाद— इतनी उसकी महिमा है और इससे भी बड़ा पुरुष है । उसके एक चतुर्थांश में सम्पूर्ण लोक है । उसका तीन चतुर्थांश जो अमर लोक है, आकाश में है ।

टिप्पणी—

(i) इस मंत्र में पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है ।

(ii) इस पुरुष की एक चौथाई जो यह दृश्यमान जगत है, कहकर उसकी अनन्तता को व्यक्त किया है ।

व्याकरण— अद् ष.ए.व. - अस्य । भू + क्त प्र.ब.व. - भूतानि ।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।

ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ 4 ॥

अन्वय — त्रिपात् पुरुषः ऊर्ध्व उत् ऐत् पुनः पादः इह अभवत् । ततः सः साशनानशने अभिविष्वङ् वि अक्रामत् ।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है । इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम् पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है । इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है । वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की । वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है । ऋषि पुरुष का वर्णन करते हुए कहता है —

अनुवाद— तीन चतुर्थांश के साथ परम् पुरुष ऊपर की ओर चला गया । फिर भी उसका एक चतुर्थांश यही पर रह गया । उसी से उसने अपने को जीव तथा निर्जीव सभी रूपों में चारों तरफ फैलाया ।

टिप्पणी—

- (i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है।
- (ii) पादः — तीन चतुर्थांश जो अमर है वो ऊपर चला गया परन्तु एक चतुर्थांश सृष्टि और संहार के द्वारा बार-बार आता है।

व्याकरण— उत् + इण् + लङ् प्र.पु.ए.व. — उदैत्। भू + लङ् प्र.पु.ए.व. — अभवत्। वि + क्रम् + लङ् प्र.पु.ए.व. — वि अक्रामत्।

विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ 5॥

अन्वय — तस्माद् विराट् अजायत्, विराजः अधि पूरुषः। जातः एव सः अत्यरिच्यत पश्चात् भूमिम् अथो पुरः (ससर्ज)।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की। वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है। ऋषि पुरुष के सृष्टि सामर्थ्य का वर्णन करते हुए कहता है —

अनुवाद— उस चतुर्थांश से विराट् उत्पन्न हुआ, विराट् से जीवात्मा के रूप में पुरुष उत्पन्न हुआ। उत्पन्न होते ही उसने अपने को देव मनुष्य आदि रूप में विराट् से अलग कर लिया इसके बाद पृथिवी को उत्पन्न किया, इसके बाद जीवात्मा के लिये शरीर का निर्माण किया।

टिप्पणी—

- (i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है।

व्याकरण— जन् + लङ् आ. प्र. पु. ए. व. — अजायत। अति + रिच् + णिच् + लङ् प्र. पु. ए. व. — अतिरिच्यत।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।

पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये॥ 6॥

अन्वय — तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात् पृषदाज्यं सम्भृतम्। तस्मात् सम्भृतात् पृषदाज्यात् वायव्यान्, आख्यान्ः ग्राम्याः च ये पशुन् तान् चक्रे।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की। वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है। ऋषि पुरुष की सृष्टि रचना का वर्णन करते हुए कहता है —

अनुवाद— उस सर्वहुत यज्ञ में दधि मिश्रित घृत इकट्ठा किया गया है। उस एकत्रित किये दधि मिश्रित घृत से आकाश में रहने वाले, जंगल में रहने वाले, तथा ग्रामों में रहने वाले जो पशु थे उनको उत्पन्न किया।

टिप्पणी—

- (i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है।
- (ii) सर्वहुतः — जिसमें सब कुछ होम दिया जाय उस पुरुषमेध यज्ञ से।

व्याकरण— कृ + लिट् + प्र.पु.ए.व. — चक्रे।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ 7 ॥

अन्वय — (उस सर्वहुत यज्ञ से ऋचायें तथा) तस्मात् सर्वहुता यज्ञात् ऋचः सामानि जज्ञिरे तस्मात् छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुः अजायत् ।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम् पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की। वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है। ऋषि पुरुष की सृष्टि सामर्थ्य का वर्णन करते हुए कहता है —

अनुवाद— उस सर्वहुत यज्ञ से ऋचायें तथा साम उत्पन्न हुए। उससे गायत्र्यादि छन्द उत्पन्न हुए, उससे यजुष् उत्पन्न हुआ।

टिप्पणी—

(i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है।

(ii) इन ऋचः सामानि छन्दांसि यजुः से द्रष्टा ने चारों वेदों की ओर संकेत किया है।

व्याकरण— जन् + लिङ् आ. प्र.पु.ष.व. — जज्ञिरे। जन् + लङ् प्र.पु.ए.व. — अजायत।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।

गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ 8 ॥

अन्वय — तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात् अश्वा' जज्ञिरे ते च ये उभयादतः। तस्मात् गावः अजायन्त तस्मात् अजावयः ।

प्रसंग— प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम् पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की। वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है। ऋषि पुरुष की सृष्टि रचना के सामर्थ्य का वर्णन करते हुए कहता है —

अनुवाद— उस सर्वहुत यज्ञ से घोड़े तथा वे सभी जो दोनों तरफ दांत वाले थे उत्पन्न हुए। उससे गायें उत्पन्न हुईं, उससे बकरियाँ तथा भेड़े पैदा हुईं।

टिप्पणी—

(i) इसमें देवता, नारायण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है।

व्याकरण— जन् + लिट् प्र.पु.ब.व. — जज्ञिरे। जन् + लङ् प्र.पु.ब.व. — अजायन्त।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ।

तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ 9 ॥

अन्वय — तं अग्रतः जातं यज्ञं पुरुषं देवाः बर्हिषि प्रोक्षन्। तेन देवाः साध्याः च ये ऋषयः आसन् ते यज्ञं अयजन्त ।

प्रसंग— प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम् पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की। वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है। ऋषि पुरुष के सृष्टि रचना सामर्थ्य का वर्णन

करते हुए कहता हैं –

अनुवाद— उस सर्वप्रथम उत्पन्न यज्ञ के साधनभूत पुरुष को प्रौक्षण किया। उस पुरुष से देवताओं ने, प्रजापति आदि सृष्टिकर्ताओं ने तथा जो ऋषि थे उन्होंने यज्ञ सम्पादित किया।

टिप्पणी—

(i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है।

व्याकरण— प्र + ऊक्ष् + लङ् प्र.पु.ब.व. – प्रौक्षन्। यज् + लङ् प्र.पु.ए.व. – अयजन्त।

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।

मुखं किमस्यासीत्किं बाहू किमरु पाद उच्येते ॥ 10 ॥

अन्वय — यत् (देवाः) पुरुषं व्यदधुः (तस्मिन् समये तस्य) कतिधा व्यकल्पयन्? तस्य मुखं किम् आसीत्? (तस्य) बाहू किं (तस्य) ऊरु किं? (तस्य) पादौ किं उच्येते?

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की। वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है। ऋषि पुरुष के सृष्टि रचना की सामर्थ्य को बताते हुए कहता हैं –

अनुवाद— जब देवताओं ने पुरुष को विभक्त किया उस समय उसके कितने भाग किये? उसका मुख क्या था? उसकी दोनों भुजायें क्या थी? उसकी दोनों जंघाये क्या थी? उसके दोनों पैर क्या कहे जाते हैं?

टिप्पणी—

(i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है।

(ii) मुख—यानि— ज्ञान प्रवचन आदि गुण बाहू— बल, वीर्य, रक्षा आदि गुण।

(iii) उरु— आच्छादन गुण।

(iv) पादौ — गति, श्रम, तप आदि गुण

उपर्युक्त ये मुख, बाहू, उरु, पाद ये चारों नाम तथा उनसे द्योतित ये शक्तियाँ एक ही समष्टिमूल 'पुरुष' की अंगभूत है।

व्याकरण— वि + धा + लङ् प्र.पु.ब.व. – व्यदधुः।

वि+क्लृप् + णिच् + लङ् प्र.पु.ब.व. – व्यकल्पयन्।

अस् + लङ् प्र.पु.ए.व. – आसीत्। वच् + आ. लट् प्र.पु.द्वि.व. – उच्येते।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यांशूद्रो अजायत ॥ 11 ॥

अन्वय — ब्राह्मणः अस्य मुखम् आसीत्, बाहू जन्यः कृतः। अन्य यद् ऊरु तत् वैश्यः पदभ्यां शूद्रः अजायत।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की। वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है। इसी पुरुष के सृष्टि रचना के नैपुण्य को बताते हुए ऋषि कहता है—

अनुवाद— ब्राह्मण उसका मुख था, दोनों भुजाओं से क्षत्रिय हुआ। उसकी जो जंघायें थी उससे वैश्य हुआ, उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ।

टिप्पणी—

(i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं त्रिष्टुप् छन्द है।

व्याकरण— कृ + क्त - कृतः। जन् + लङ् आ. प्र.पु.ए.व. - अजायत। अस् + लङ् प्र. पु. ए. व. - आसीत्।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।

श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ 12 ॥

अन्वय — (तस्य पुरुषस्य) मनसः चन्द्रमा जातः (तस्य) चक्षोः सूर्यः अजायत। श्रोत्रात् वायुश्च प्राणः च मुखात् च अग्निः अजायत।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की। वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है। ऋषि उसके रचना कार्य का वर्णन करता हुआ कहता है—

अनुवाद— उस पुरुष के मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, आंख से सूर्य उत्पन्न हुआ, कान से वायु तथा प्राण एवं मुख से अग्नि उत्पन्न हुआ।

टिप्पणी—

(i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है।

(ii) चन्द्रमा — चन्द्रमा का मन के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध है। कलानुसार चन्द्रमा के बढ़ने घटने से मन में अनेक प्रकार की विकृतियाँ वर्णित भी है। इसलिये चन्द्रमा का जन्म मन से बताया है।

(iii) सूर्य — सूर्य की उत्पत्ति भी पुरुष के नेत्र से बतलाना भी संगत है, क्योंकि सूर्य के कारण ही प्रकाश प्राप्त करके हमारे चक्षु कुछ देख पाने में समर्थ हो पाते हैं।

व्याकरण— मनस् ष.ए.व. - मनसः। जन्+ क्त- जातः। जन्+आ. लङ् प्र.पु.ए.व.- अजायत। मुख प. ए.व. - मुखात्।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ 13 ॥

अन्वय — (तस्य) नाभ्याः अंतरिक्षं आसीत् शीर्ष्णः द्यौः समवर्तत, पद्भ्यां पृथिवी श्रोत्रात् दिशः। तथा लोकान् अकल्पयन्।

प्रसंग— प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की। वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है। ऋषि पुरुष से उत्पन्न विभिन्न लोकों का वर्णन करता हुआ कहता है—

अनुवाद— उसकी नाभि से अंतरिक्ष उत्पन्न हुआ, शिर से आकाश उत्पन्न हुआ, दोनों पैरों से पृथिवी (और) कान से दिशाएँ। इसी प्रकार अन्य लोकों की देवताओं से सृष्टि की।

टिप्पणी—

(i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है।

व्याकरण— सम् + वृत् + लङ् प्र. पु. ए. व. आ. — समवर्तत। कल्प् + लङ् प्र. पु. ब. व. — अकल्पयन्।
अस् + लङ् प्र.पु.ए.व. — आसीत्।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।

वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥ 14॥

अन्वय — देवाः यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं अतन्वत (तदा) वसन्तः अस्य (यज्ञस्य) आज्यं आसीत् ग्रीष्मः इध्मः शरद् च अस्य हविः आसीत्।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की। वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है। उसी पुरुष का ऋषि वर्णन करते हुए कहता है।

अनुवाद— देवताओं ने जब पुरुष रूप हवि से यज्ञ सम्पन्न किया, उस समय इस यज्ञ का घी वसन्त था, ग्रीष्मऋतु ईधन था, शरद् ऋतु हवि था।

टिप्पणी—

(i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है।

(ii) यज्ञं अतन्वत — जिस प्रकार इन्द्रादि देवताओं ने हविर्भूत पुरुष से यज्ञ का विस्तार किया उसी प्रकार योगीजनों ने भी अमृतभूत तथा दीपित आत्मा से आत्मयज्ञ किया। इस यज्ञ में आत्मा, ईधन और हवि के रूप में प्रयुक्त वसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतु में क्रमशः सत्व, रजस् तमस् गुणों की प्रतीक है। योगी लोग आत्म-यज्ञों में इन्हीं तीनों गुणों का हवन करते हैं।

व्याकरण— तन् + लङ् प्र. पु. ब. व. — अतन्वत्। अस् + लङ् प्र. पु. ए. व. — आसीत्।

सप्तास्यान्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।

देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्॥ 15॥

अन्वय — तस्य सप्त परिधयः आसन् त्रिः सप्त समिधः कृताः यत् यज्ञं तन्वाना देवाः पुरुषं पशुं अबध्नन्।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कतीसवें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की। वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है। उसी ऋषि का यहां वर्णन कर रहा है।

अनुवाद— उसकी सात परिधियाँ थी, इक्कीस समिधायें बनवाई गईं, जिस समय देवताओं ने यज्ञ को सम्पन्न करते हुए पुरुष पशु को बांधा था।

टिप्पणी—

(i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं अनुष्टुप् छन्द है।

(ii) सप्त परिधयः — याज्ञिक अग्नि के चारों ओर रखी जाने वाली हरी-हरी यष्टिकाओं को परिधियां कहते हैं। उन सात परिधियों के प्रतीक सात छन्द हैं।

व्याकरण— तन् + शानच् प्र.ब.व. — तन्वाना। बन्ध् + लङ् प्र.पु.ब.व. — अबध्नन्। कृ + क्त + टाप् — कृता।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ 16॥

अन्वय — यज्ञेन देवाः यज्ञं अयजन्त । तानि प्रथमाणि धर्माणि आसन् । ते ह महिमानः नाकं सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति ।

प्रसंग— प्रस्तुत मंत्र शुक्ल यजुर्वेद के इक्कीसवें अध्याय से उद्धृत है। इस अध्याय के सोलह मंत्रों में परम पुरुष परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसे समस्त सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। वह सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ, तथा उसने ही इन सम्पूर्ण जीव जन्तुओं को उत्पन्न किया, उसने ही समस्त ग्रहों, अतिग्रहों तथा ब्रह्माण्डों की रचना की। वह अन्न धन को देने वाला एवं सबका शासक है। ऋषि उसी का वर्णन करते हुए कहता हैं—

अनुवाद— यज्ञ से देवताओं ने यज्ञ पुरुष का सृजन किया। वे ही सर्वप्रथम धर्म थे। पूजन वाले देवताओं ने स्वर्ग को प्राप्त किया, जहां पर सृष्टि करने में समर्थ प्रजापति आदि पुराने देवता सिद्धगण निवास करते थे।

टिप्पणी—

(i) इसमें पुरुष देवता, नारायण ऋषि एवं त्रिष्टुप् छन्द है।

व्याकरण— यज् + लङ् + आ. प्र.पु.ब.व. — अयजन्त । अस् + लङ् प्र.पु.ब.व. — आसन् । सच् + लङ् प्र. पु. ब. व — सचन्त ।

2.3 (आ) (i) राष्ट्रभिर्वर्धनम् सूक्त (1.29)

अभीवर्तेन मणिना,

येनेन्द्रो अभिवावृधे ।

तेनास्मान् ब्रह्मणस्पते,

अभि राष्ट्राय वर्धय ॥ 1 ॥

शब्दार्थ— अभीवर्तेन— चारों तरफ अप्रतिहत गति से घूमने वाली, मणिना— मणि से, येन— जिससे, इन्द्रः — इन्द्र, अभिवावृधे— समृद्ध हुआ, तेन— उससे, अस्मान्— हम लोगों को, ब्रह्मणस्पते— हे ब्रह्मणस्पति, राष्ट्राय— राष्ट्र की समृद्धि के लिए, अभिवर्धय — समृद्ध करो।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के उनतीसवें सूक्त से अवतरित है। मंत्र में राष्ट्र की अभिवृद्धि के लिए आवाहन किया गया है।

अनुवाद— चारों तरफ (अप्रतिहत गति से) घूमने वाली मणि से जिससे इन्द्र बड़ा हुआ, हे ब्रह्मणस्पति, उस (मणि) से हम लोगों को राष्ट्र (की समृद्धि) के लिए बढ़ाओं।

टिप्पणी— अभिवावृधे— अभि + वृध् + प्र.पु.ए.व. ।

अभिवृत्यं सपत्ना

नभि या नो अरातयः ।

अभि पृतुन्यतन्त तिष्ठा

भि यो नो दुरस्यति ॥ 2 ॥

शब्दार्थ— अभिवृत्यं— चारों तरफ से घेर कर, सपत्नान्— प्रतिपक्षियों को, अभि— चारों तरफ से (घेर कर), याः — जो, नः — हमारे, अरातयः — कभी दान न देने वालों को, अभि— चारों तरफ से (घेर कर), पृतुन्यन्तम्— युद्ध की इच्छा करने वाले को, अभितिष्ठ— पराजित करो, अभि— पराजित करो, यः — जो, नाः — हमको, दुरस्यति— दुर्व्यवहार करता है।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के उनतीसवें सूक्त से अवतरित है। यहाँ राष्ट्र रक्षा के लिए शत्रु का पराजित करने हेतु कहा गया है।

अनुवाद— विपक्षियों को चारों तरफ से घेर कर, जो हमको नहीं देने वाले हैं (उनको भी घेर कर) (तथा जो हमसे) युद्ध की इच्छा करने वाले हैं (उनको भी घेर कर) पराजित करो, जो हमसे दुर्व्यवहार करता है (उसको

भी पराजित करो)।

टिप्पणी— अभिवृत्य – अभि + वृ + ल्यप्।

अभि त्वां देवः सविता—

भि सोमो अवीवृधत्।

अभि त्वा विश्वा भृता—

स्यभीवर्तो यथाससि ॥ 3 ॥

शब्दार्थ— त्वा— तुमको, देवः – देव, सविता— सवितृ, सोमः – सोम, अभि अवीवृधत्— चारों तरफ से समृद्ध किया है, अभि— चारों तरफ से (समृद्ध किया है), त्वा— तुमको, विश्वा— सम्पूर्ण, भृतानि— प्राणियों ने, अभीवर्तः – चारों तरफ घूमने वाले, यथा— जिससे, अससि— बने रहो।

संदर्भ— पूर्ववत्।

अनुवाद— सवितृ देव ने तुमको चारों तरफ से समृद्ध किया है, सोम ने तुमको चारों तरफ से समृद्ध किया है, सम्पूर्ण प्राणियों ने तुमको चारों तरफ से समृद्ध किया है, ताकि तुम चारों तरफ घूमने वाले बने रहो।

टिप्पणी— सविता—सवितृ प्रथमा बहुवचन

अभीवता अभिभव :

सपन्नक्षयणो मणिः।

रक्षाय मद्य बध्यतां

सपन्नेभ्यः पराभुवे ॥ 4 ॥

शब्दार्थ— अभीवर्तः – चारों तरफ घूमने वाली, अभिभवः – पराजित करने वाली, सपन्नक्षयणः – विपक्षियों का संहार करने वाली, मणिः – मणि, राष्ट्राय— राष्ट्र की समृद्धि के लिये, मह्यम्— मेरे में, बध्यताम्— बंधे, सपन्ने— सभ्यः – विपक्षियों को, पराभुवे— पराजित करने के लिये।

संदर्भ – पूर्ववत्।

अनुवाद— चारों तरफ घूमने वाली, पराजित करने वाली तथा विपक्षियों का संहार करने वाली, मणि, राष्ट्र (की समृद्धि) के लिये तथा विपक्षियों को पराजित करने के लिये मेरे बंधे।

टिप्पणी— मह्यम् – अस्मद् चतुर्थी ए. व.।

उदसौ सूर्यो अगा—

दुदिदं मामुकं वचः।

यथाहं शत्रुहाऽसा—

न्यसपत्नः सपत्नहा ॥ 5 ॥

शब्दार्थ— असौ— यह, सूर्यः – सूर्य, उत् अगात्— ऊपर गया है, उत्— अपर, इदम्— यह, मामकम्— मेरा, वचः – मन्त्र, यथा— जिस प्रकार, अहम्— मैं, शत्रुहाः – शत्रु को मारने वाला, असानि— होऊँ, असपत्नः – बिना प्रतिपक्षी का, सपत्नहा— प्रतिद्वन्द्वी को मारने वाला।

संदर्भ – पूर्ववत्।

अनुवाद— यह सूर्य ऊपर चला गया है, मेरा यह मन्त्र (भी) ऊपर (गया है), ताकि मैं शत्रु को मारने वाला, प्रतिद्वन्द्वी रहित तथा प्रतिद्वन्द्वियों को मारने वाला होऊँ।

टिप्पणी— असपत्नः – नञ् सपत्नः इति।

सपत्नक्षयणो वृषा—

भिराष्ट्रो विषासहिः ।

यथाहमेषां वीराणां

विराजानि जनस्य च ॥ 6 ॥

शब्दार्थ— सपत्नक्षयणः — प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट करने वाला, वृषा— इच्छा को पूरा करने वाला, अभिराष्ट्रः — अपने सामर्थ्य से राष्ट्र को पाने वाला, विससहिः — जीतने वाला, यथा— जिस प्रकार, अहम्— मैं, एषाम्— इन शत्रुओं के, वीराणाम्— वीरों का, विराजानि— शासन करूँ, जनस्य— अपनी प्रजाओं का, च — और ।

अनुवाद— प्रतिद्वन्द्वी को नष्ट करने वाला (प्रजाओं की) इच्छा को पूरा करने वाला, राष्ट्र को सामर्थ्य से प्राप्त करने वाला तथा जीतने वाला (होऊँ), ताकि मैं (शत्रुपक्ष के) इन वीरों का तथा (अपने एवं पराये) लोगों का शासक बनूँ ।

2.3 (आ) (ii) अथर्ववेद कालसूक्त (19/53)

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्त्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।

तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥ 1 ॥

अन्वय — कालः अश्वः सप्तरश्मिः, सहस्त्राक्षः, अजरः, भूरिरेताः वहति । तम् कवयः, विपश्चितः आ रोहन्ति, तस्य चक्रा विश्वा भुवनानि ।

शब्दार्थ— सप्तरश्मिः — सात प्रकार की किरणों वाले । सहस्त्राक्षः — सहस्रों नेत्र वाला । अजरः — बूढ़ा न होने वाला । भूरिरेताः — बड़े बल वाला । कालः — काल, समयरूपी । अश्वः — घोड़ा । वहति— चलता रहता है । तम्— उस पर । कवयः — ज्ञानवान् । विपश्चितः — बुद्धिमान लोग । आ रोहन्ति— चढ़ते हैं । तस्य— उस काल के । चक्रा— चक्र, घूमने के स्थान । विश्वा— सब । भुवनानि— सत्ता वाले हैं ।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल-सूक्त' से उद्धृत है । इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भृगु हैं तथा देवता — काल है । इसमें सम्पूर्ण जगत् के कारणभूत कालरूप परमात्मा की स्तुति की गई है । इस मंत्र में काल का अश्वरूप में निरूपण किया गया है ।

अनुवाद— ऋषि भृगु काल का अश्वरूप से निरूपण करते हुए कहते हैं कि सात रस्सियों वाला, सहस्र लोचन वाला, अजर अर्थात् नित्य तरुण रहने वाला, भूरि वीर्य वाला अर्थात् संतान उत्पन्न करने में समर्थ अश्व अपने सवारों को इच्छित स्थानों पर पहुँचा देता है । उस अश्व पर चढ़ने-उतरने में चतुर पुरुष चढ़ते हैं । उस अश्व के चक्र अर्थात् गन्तव्य स्थान सकल भुवन है ।

इस मंत्र का दूसरे प्रकार से अर्थ इस प्रकार होगा— जो भूत, भविष्य और वर्तमान की सब वस्तुओं को व्याप्त कर लेते हैं वह अश्व, अनवच्छिन्न कालरूप परमेश्वर सब जगत् के कलयिता हैं । सात रश्मि अर्थात् ऋतु वाले हैं, वह दिन-रात रूप सहस्र नेत्रों वाले हैं, सदा एकरूप रहने वाले अजर हैं, प्रभूत जगत् को रचने की शक्ति से सम्पन्न भूरिरेता हैं । ऐसे काल सब प्राणियों को अपने-अपने कार्य में लगाते हैं । उन कालों को क्रान्तदर्शी विद्वान् पुरुष स्वाधीन कर लेते हैं । उस कालात्मक रथ के चक्र सब भुवनों में जाते हैं ।

विशेष—

(i) प्रस्तुत मंत्र में कालचक्र को सम्पूर्ण विश्व में भ्रमणशील बताते हुए उसकी महिमा को व्यक्त किया गया है । वही अश्वरूप परमात्मा अथवा सूर्यरूप में सम्पूर्ण जगत् की आत्मा है ।

(ii) इस मंत्र में त्रिष्टुप् छन्द है ।

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः ।

स इमा विश्वा भुवनान्यजजत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥ 2 ॥

अन्वय — एषः कालः सप्त चक्रान् वहति, अस्य सप्त नाभीः, अक्षः नु अमृतम् । सः इमा विश्वा भुवनानि

अजजत्, सः कालः नु प्रथमः देवः ईयते ।

शब्दार्थ— एषः कालः — यह काल । सप्त— सात, (तीन काल और चार दिशा) । चक्रान्— पहियों को । वहति— चलाता है । अस्य— इसकी । नाभीः — नाभि, पहिये के मध्य स्थाना । अक्षः — धुरा । नु— निश्चय करके । अमृतम्— अमरपन है । इमा— इस । विश्वा— सब । भुवनानि— सत्ता वालों को । अजजत्— प्रकट करता हुआ । प्रथमः — पहला । देवः — देवता, दिव्य पदार्थ । ईयते— जाना जाता है ।

प्रसंग— प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल-सूक्त' से उद्धृत है । इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भृगु हैं तथा देवता — काल है । इसमें सर्वजगत् के कारणभूत कालरूप परमात्मा की स्तुति की गई है । इस मंत्र में सम्वत्सररूप कालचक्र की महिमा का वर्णन किया गया है ।

अनुवाद— ऋषि भृगु प्रस्तुत मंत्र में सम्वत्सररूप कालचक्र का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह कालरूपी परमात्मा सात ऋतुरूपी चक्रों को क्रमशः धारण करते हैं । इस संवत्सर की ऋतुसंधिकालरूप सात नाभियाँ हैं । इसका सूक्ष्म अविनश्वर तत्त्व अमृत है । यह संवत्सररूप, सबका आदिभूत देव, नित्यज्ञानरूपकाल, परमात्मा—इन अनेक नाम और रूपों से व्याकृत चराचरात्मक जगत् को प्रकट करता हुआ संहार कर डालता है और संहार करता हुआ भी सबमें व्याप्त होकर स्थिर रहता है ।

विशेष—

(i) प्रस्तुत मंत्र में सम्वत्सररूप कालचक्र को ही सृष्टि का रचयिता व संहारक तथा सदा स्थिर माना गया है ।

(ii) इस मंत्र में त्रिष्टुप् छन्द है ।

पूर्णः कुम्भोधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः ।

स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥ 3 ॥

अन्वय — काले अधि पूर्णः कुम्भः आहितः, तम् वै सन्तः नु बहुधा पश्यामः, सः इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्, तम् कालम् परमे व्योमन् ब्रह्म आहुः ।

शब्दार्थ— काले अधि— काल (समय) के ऊपर । पूर्णः — भरा हुआ । कुम्भः — घड़ा । आहितः — रखा है । वै— निश्चय करके । सन्तः — वर्तमान । नु— ही । बहुधा— अनेक प्रकार से । पश्यामः — देखते हैं । इमा— इन । विश्वा— सब । भुवनानि— सत्ता वालों को । प्रत्यङ्— सामने चलता हुआ है । तम्— उस । कालम्— काल को । परमे— अति ऊँचे । व्योमन्— विविध रक्षा स्थान में । आहुः — वे (बुद्धिमान् लोग) बताते हैं ।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल-सूक्त' से उद्धृत है । इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भृगु हैं तथा देवता — काल है । इस मंत्र में सकल संसार के कारणभूत कालरूप परमात्मा की सर्वव्यापकता व अनेकरूपता को दर्शाया गया है ।

अनुवाद— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सब जगत् के कारणभूत नित्य अनवच्छिन्न परमात्मा स्वस्वरूप में, दिन, रात, मास, ऋतु, सम्वत्सर आदि रूप में अनवच्छिन्न जन्य काल से पूर्ण कुम्भ के समान सर्वत्र व्याप्त है । उस जन्यकाल को हम सत्पुरुष दिन—रात्रि आदि के भेद से अनेक प्रकार का अनुभव करते हैं । वह काल इन दीखते हुए प्राणियों को अभिमुख होकर व्याप्त कर लेते हैं । विद्वान् पुरुष उस काल को उत्कृष्ट, सांसारिक सुख—दुःख आदि दोषों से शून्य आकाश के समान निर्लेप, अनेक प्रकार से रक्षक परमानन्ददायक स्वस्वरूप में वर्तमान बताते हैं ।

विशेष—

(i) यहाँ कालरूप परमात्मा की सर्वव्यापकता तथा अनेकरूपता को व्यक्त कर उसे विद्वानों द्वारा साक्षात्कार अथवा वश में करने योग्य बतलाया गया है ।

(ii) इस मंत्र में त्रिष्टुप् छन्द है ।

स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्येत् ।

पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः ॥ 4 ॥

अन्वय — सः एव भुवनानि सम् आ अभरत्, सः एव भुवनानि सम् पर्येत् । एषाम् पिता सन् पुत्रः अभवत्, तस्मात् अन्यत् तेजः वै न अस्ति ।

शब्दार्थ— सः एव— उसने ही । भुवनानि— सत्ताओं को । सम्— अच्छे प्रकार से । आ— सब ओर से । अभरत्— पुष्ट किया है । पर्येत्— घेर लिया है । एषाम्— इन (सत्ताओं) का । पिता सन्— पहिले पिता होकर । पुत्रः अभवत्— पीछे पुत्र हुआ । तस्मात्— उससे । अन्यत्— दूसरा । तेजः — तेज । वै— निश्चय ही । न अस्ति— नहीं है ।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल-सूक्त' से उद्धृत है । इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भृगु हैं तथा देवता — काल है । इस मंत्र में कालरूप परमात्मा से ही समस्त प्राणियों, भुवन के उत्पन्न होने का उल्लेख करते हुए उसे ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है ।

अनुवाद— ऋषि भृगु सर्वजगत् के कारणभूत कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वही काल प्राणियों को प्रकट करते हैं और वही काल भुवनों में (प्राणियों में) व्याप्त है । वही इन प्राणियों के जनक होकर इनके पुत्र हो जाते हैं अर्थात् काल ही पितृरूप से और पुत्ररूप से माना जाता है, जो पूर्वजन्म में पितारूप से व्यवहृत होता है, वही इस जन्म में पुत्ररूप में व्यवहृत होता है, क्योंकि सब अवच्छेदक काल के अधीन हैं । इस सर्वोत्पादक सर्वगत पुत्रादिरूप से भविष्यत् काल से श्रेष्ठ ओर कोई तेज नहीं है ।

विशेष—

(i) यहाँ कालरूप परमात्मा ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और उसे ही पिता व पुत्र दोनों रूपों में बताया गया है । अन्य शास्त्रों में भी एक जन्म में ही पिता के पुत्र होने का वर्णन मिलता है—

“अंगाद् अंगाद् संभवसि हृदयाद् अधि जायसे ।

आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥”— कौषीतकि उपनिषद् 2/11

(ii) इस मंत्र में त्रिष्टुप् छन्द है ।

कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।

काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥5॥

अन्वय — कालः अमूं दिवम्, कालः इमाः पृथिवीः अजनयत् । काले ह भूतं च भव्यम् इषितम् ह वि तिष्ठते ।

शब्दार्थ— कालः — काल, समय ने । अमूं— उस । दिवम्— आकाश को । कालः — काल ने । इमाः — इन । पृथिवीः — पृथिवियों को । अजनयत्— उत्पन्न किया है । काले— काल में । ह— ही । भूतम्— बीता हुआ । च— और । भव्यम्— होने वाला । ह— ही । वि— विशेष करके । तिष्ठते— ठहरता है ।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल-सूक्त' से उद्धृत है । इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भृगु हैं तथा देवता — काल है । इस मंत्र में सर्वजगत् के कारणभूत कालरूप परमात्मा से ही पृथ्वी की उत्पत्ति तथा भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान को उसी पर आश्रित बताया गया है ।

अनुवाद— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कालरूपी परमात्मा ने इस द्युलोक (आकाश) को प्रकट किया है और सब प्राणियों की आधारभूता पृथिवी को भी काल ने ही प्रकट किया है । इस काल में ही भूतकाल, भविष्यत्काल और अभिलषित वर्तमान कालावच्छिन्न विशेष रूप से आश्रित रहता है ।

विशेष—

(i) यहाँ ऋषि ने काल से ही पृथ्वी व आकाश की उत्पत्ति बताते हुए समस्त कालों को भी उसी कालरूप परमात्मा पर आश्रित माना है ।

(ii) इस मंत्र में बृहती नामक वैदिक छन्द है ।

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः।

काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्विपश्यति।। 6।।

अन्वय — कालः भूतिम् असृजत। काले सूर्यः तपति। काले ह विश्वा भूतानि। काले चक्षुः वि पश्यति।

शब्दार्थ— कालः — काल, समय ने। भूतिम्— ऐश्वर्य को। असृजत— उत्पन्न किया है। सूर्यः — सूर्य। तपति— तपता है। काले— काल में। ह— ही। विश्वा— सब। भूतानि— सत्ता में। काले— काल में। चक्षुः — आँख। वि— विविध प्रकार से। पश्यति— देखती है।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल-सूक्त' से उद्धृत है। इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भृगु हैं तथा देवता — काल है। इस मंत्र में सर्वजगत् के कारणभूत कालरूप परमात्मा से ही संसार की उत्पत्ति एवं सूर्य आदि द्वारा उसी काल के आश्रय से अपने कर्म किये जाने का वर्णन हुआ है।

अनुवाद— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा की महिमा और सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कालरूपी परमात्मा ने इस उत्पत्तिशील जगत् की रचना की है और काल के प्रेरक होने से ही आदित्य इस जगत् को प्रकाशित करते हैं। काल के ही आश्रय में सब प्राणी रहते हैं। काल में ही चक्षुष्मान् इन्द्रियादि का अधिष्ठाता अपनी-अपनी इन्द्रियों के व्यापार को करता है।

विशेष—

(i) यहाँ काल का सर्वव्यापक रूप प्रकट किया गया है।

(ii) इस मंत्र में अनुष्टुप् छन्द है।

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।

कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः।। 7।।

अन्वय — काले मनः, काले प्राणः, काले नाम समाहितम्। आगतेन कालेन इमाः सर्वाः प्रजाः नन्दन्ति।

शब्दार्थ— काले— काल में। मनः — मन। प्राणः — प्राण। नाम— विविध वस्तुओं के नाम। समाहितम्— संग्रह किया गया है। आगतेन— आये हुए। कालेन— काल के साथ। इमाः — यह। सर्वाः — सब। प्रजाः — प्रजाएँ। नन्दन्ति— आनन्द पाती हैं।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल-सूक्त' से उद्धृत है। इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भृगु हैं तथा देवता — काल है। इस मंत्र में सर्वजगत् के कारणभूत कालरूप परमात्मा में ही मन, प्राण, नाम आदि समाविष्ट बताया गया है तथा समस्त प्रजा के कार्यों का कारण भी इसे ही माना गया है।

अनुवाद— ऋषि भृगु कहते हैं कि कालरूपी परमात्मा में जगत् को रचने की इच्छा का निमित्त मन रहता है। उसमें ही सब जगत् का अन्तर्यामी सूत्रात्मा प्राण रहता है अर्थात् उसी कालरूप परमात्मा में सब जगत् के मन और पञ्चवृत्तिक प्राण रहते हैं और सब वस्तुओं के नाम भी उसी में रहते हैं और वसन्त आदि रूप से आये हुए काल से ही यह सब प्रजायें अपने-अपने कार्य की सिद्धि होने के कारण सन्तुष्ट होती हैं।

विशेष—

(i) इस मंत्र में अनुष्टुप् छन्द है।

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजायतेः।। 8।।

अन्वय — काले तपः, काले ज्येष्ठम्, काले ब्रह्म समाहितम्। कालः ह सर्वस्य ईश्वरः, यः प्रजापतेः पिता आसीत्।

शब्दार्थ— काले— काल (समय) में। तपः — ब्रह्मचर्यादि तप। ज्येष्ठम्— श्रेष्ठ कर्म। ब्रह्म— वेद— ज्ञान। समाहितम्— संग्रह किया गया है। ह— ही। सर्वस्य— सबका। ईश्वरः — स्वामी। यः — जो। प्रजापतेः —

प्रजापालक का। आसीत् — हुआ।

संदर्भ— प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल-सूक्त' से उद्धृत है। इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भृगु हैं तथा देवता — काल है। इस मंत्र में सर्वजगत् के कारणभूत कालरूप परमात्मा को ही तप, ज्येष्ठ, ईश्वर, पिता तथा प्रजापति आदि रूपों में बतलाया गया है।

अनुवाद— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कालरूपी परमात्मा में जगत् को रचने का पर्यालोचनरूपी तप प्रतिष्ठित है तथा उसी में सबका आदिभूत हिरण्यगर्भरूपी तत्त्व ज्येष्ठ समाहित है। काल में ही ब्रह्म समाहित है। काल ही सम्पूर्ण जगत् का स्वामी है। जो काल प्रजा की रचना करने वाले चतुर्मुखी ब्रह्मा अर्थात् प्रजापति का भी पिता है।

विशेष—

- (i) "तपसा चीयते ब्रह्म" इत्यादि के द्वारा तप शब्द पर्यालोचन के अर्थ में जाना जाता है।
- (ii) सम्पूर्ण जगत् के आदिभूत हिरण्यगर्भ नामक तत्त्व को ही 'ज्येष्ठ' कहा जाता है।
- (iii) प्रस्तुत मंत्र में काल को सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा का भी पिता माना गया है, इससे काल की सर्वोत्कृष्टता व्यक्त होती है।
- (iv) इस मंत्र में अनुष्टुप् छन्द है।

तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।

कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ॥ 9 ॥

अन्वय — तेन इषितम्, तेन जातम्, तत्तस्मिन्, प्रतिष्ठितम्। कालः ह ब्रह्म भूत्वा परमेष्ठिनं बिभर्ति।

शब्दार्थ— तेन— उस काल द्वारा। जातम्— उत्पन्न हुआ। तत्— यह जगत्। तस्मिन्— उस (काल) में। प्रतिष्ठितम्— दृढ़ ठहरा है। कालः— काल ही। ब्रह्म— बढ़ता हुआ अन्न। भूत्वा— होकर। परमेष्ठिनम्— सबसे ऊँचे ठहरे हुए (मनुष्य) को। बिभर्ति— पालता है।

प्रसंग— प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल-सूक्त' से उद्धृत है। इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भृगु हैं तथा देवता — काल है। इस मंत्र में सर्वजगत् के कारणभूत कालरूप परमात्मा से ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति तथा उसमें प्रतिष्ठित बताते हुए काल का ब्रह्मरूप में वर्णन किया गया है।

अनुवाद— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह सब स्त्रष्टव्य जगत् उसी काल से उत्पन्न हुआ है और उसी काल में प्रतिष्ठित हैं काल ही सत् चित् आनन्द रूप अबाध्य परमार्थ तत्त्व ब्रह्म होकर परम स्थान सत्यलोक में स्थित चतुर्मुख ब्रह्मा को धारण करता है।

विशेष—

- (i) यहाँ काल को सम्पूर्ण जगत् का स्त्रष्टा एवं प्रतिष्ठापक तथा ब्रह्मस्वरूप वाला बतलाया गया है।
- (ii) इस मंत्र में अनुष्टुप् छन्द है।

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।

स्वयंभूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ॥ 10 ॥

अन्वय — अग्रे कालः प्रजाः, कालः प्रजापतिम् असृजत। कालात् स्वयंभूः, कश्यप, कालात् तपः अजायत।

शब्दार्थ— अग्रे— पहिले। कालः— काल ने। प्रजाः— प्रजाओं को। प्रजापतिम्— प्रजापालक को। असृजत— उत्पन्न किया है। कालात्— काल से। स्वयंभूः— अपने आप उत्पन्न होने वाला। कश्यपः— कश्यप, द्रष्टा परमेश्वर। तपः— ब्रह्मचर्य आदि नियम। अजायत— प्रकट हुआ है।

प्रसंग— प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल-सूक्त' से उद्धृत है। इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भृगु हैं तथा देवता — काल है। इस मंत्र में कालरूप परमात्मा से प्रजापति, प्रजा तथा कश्यप

की उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए उसे स्वयम्भू बतलाया गया है।

अनुवाद— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा के वैशिष्ट्य को प्रकट करते हुए कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में काल ने प्रजापति को उत्पन्न किया है और प्रजाओं को भी काल ने ही रचा है। यह काल स्वयंभू है, अर्थात् काल के अतिरिक्त और कोई दूसरा काल नहीं है। इसके द्रष्टा कश्यप नामक सूर्य भी इसी काल से प्रकट हुए हैं। (कश्यप नामक सूर्य आरोग, भ्राज आदि सूर्यों में आठवें सूर्य हैं।)

विशेष—

- (i) तैत्तिरीय आरण्यक में कहा है— “कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति”— कश्यप आठवें सूर्य हैं, वह महामेरु को नहीं त्यागते हैं।
- (ii) प्रस्तुत मंत्र में कालरूप परमात्मा को सर्वव्यापक बताते हुए उसी से दृष्टि की एवं उसको प्रकाशित करने वाले सूर्य की उत्पत्ति मानी गई है।
- (iii) इस मंत्र में अनुष्टुप् छन्द है।

कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः।

कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः॥ 11॥

अन्वय — कालात् आपः, कालात् ब्रह्म, तपः, दिशः समभवन्। कालेन सूर्यः उदेति, काले पुनः नि विशते।

शब्दार्थ— कालात्— काल (समय) से। आपः — प्रजायें। ब्रह्म— वेदज्ञान। तपः — ब्रह्मचर्यादि नियम। दिशः — दिशाएँ। समभवन्— उत्पन्न हुई हैं। कालेन— काल के साथ। सूर्यः — सूर्य। उदेति— निकलता है। पुनः — फिर। नि विशते— डूब जाता है।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल-सूक्त' से उद्धृत है। इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भृगु हैं तथा देवता — काल है। इस मंत्र में सर्वजगत् के कारणभूत कालरूप परमात्मा से जल, ब्रह्म, तप, दिशाएँ आदि की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है।

अनुवाद— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सर्वजगत् के कारणभूत कालरूपी परमात्मा से ब्रह्माण्ड के आधारभूत जल प्रकट हुए। उस काल से ही यज्ञ कर्म, कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि तप और पूर्व आदि दिशाएँ प्रकट हुईं। प्रेरक काल के द्वारा ही सूर्य उदय को प्राप्त होता है और काल में ही सूर्य फिर अस्त हो जाता है।

विशेष—

- (i) यहाँ काल से सर्वप्रथम जल की उत्पत्ति बतलाई गई है। मनुस्मृति में भी जल को ही सृष्टि में सर्वप्रथम उत्पन्न बतलाया गया है— “अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यम् अवाकिरत्। तदण्डं अभवत् हैमम्”— “उन्होंने (परमात्मा ने) पहिले जल की सृष्टि की और उनमें अपने वीर्य को स्थापित किया, यह सुवर्ण का अण्ड हुआ।”
- (ii) इस मंत्र में अनुष्टुप् छन्द है।

कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही।

द्यौर्मही काल आहिता॥12॥

अन्वय — कालेन वातः पवते, कालेन पृथिवी मही, काले द्यौ मही आहिता।

शब्दार्थ— कालेन— काल (समय) से। वातः — वायु। पवते— शुद्ध करता है। पृथिवी— पृथ्वी। मही— बड़ी है। द्यौ— आकाश। आहिता— रखा है।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल-सूक्त' से उद्धृत है। इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भृगु हैं तथा देवता — काल है। इस मंत्र में सर्वजगत् के कारणभूत कालरूप परमात्मा की महिमा

का वर्णन करते हुए उसी पर वायु, पृथिवी, द्युलोक आदि को आश्रित बताया गया है।

अनुवाद— ऋषि भृगु कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि काल से वायु बहता है, काल ने ही विशाल पृथिवी को दृढ़ता से स्थापित कर रखा है और विशाल द्युलोक भी कालरूप आधार में स्थापित है।

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा।

कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥13॥

अन्वय — कालः पुत्रः ह भूतं च भव्यम् पुरा अजनयत्। कालात् ऋचः समभवन्, कालात् यजुः अजायत्।

शब्दार्थ— कालः — काल (समय) रूपी। पुत्रः — पुत्र ने। ह— ही। भूतम्— बीता हुआ। च— और। भव्यम्— होने वाला। पुरा— पहिले। अजनयत्— उत्पन्न किया है। कालात्— काल से। ऋचः — ऋचायें। सम्भवन्— उत्पन्न हुई है। यजुः — यजुर्वेद। अजायत्— उत्पन्न हुआ है।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल-सूक्त' से उद्धृत है। इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भृगु हैं तथा देवता — काल है। इस मंत्र में सर्वजगत् के कारणभूत कालरूप परमात्मा से ही भूत, भविष्यत्, पुत्र, ऋचा आदि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

अनुवाद— ऋषि भृगु कहते हैं कि कालरूप प्रेरक पिता से ही पुत्र प्रजापति ने भूत, भविष्यत् और वर्तमान को प्रकट किया है। कालरूपी परमात्मा से पादबद्ध मन्त्र (ऋचाएँ) प्रकट हुए हैं और उससे ही प्रश्लिष्ट पाठरूप यजुर्वेद प्रकट हुआ है।

विशेष—

(i) इस मंत्र में अनुष्टुप् छन्द है।

कालो यज्ञं समैरयदेवेभ्यो भागमक्षितम्।

काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ 14 ॥

अन्वय — कालः यज्ञं देवेभ्यः अक्षितम् भागं सम् ऐरयत्। काले गन्धर्वाप्सरसः, काले लोकाः प्रतिष्ठिताः।

शब्दार्थ— कालम्— काल ने। यज्ञं— सत्कर्म को। देवेभ्यः — विद्वानों के लिए। अक्षितम्— अक्षय। भागम्— भाग। सम्— पूरा-पूरा। ऐरयत्— भेजा है। गन्धर्वाप्सरसः — गन्धर्व ओर अप्सराएँ। लोकाः — सब लोक। प्रतिष्ठिताः — रखे हुए हैं।

संदर्भ — प्रस्तुत मंत्र अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 53 वें सूक्त 'काल-सूक्त' से उद्धृत है। इसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि-भृगु हैं तथा देवता — काल है। इस मंत्र में सर्वजगत् के कारणभूत कालरूप परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए उसी से गन्धर्व, अप्सराएँ, समस्त लोक आदि को उत्पन्न बतलाया गया है।

अनुवाद— ऋषि भृगु कहते हैं कि कालरूप परमात्मा ने ही इन्द्र आदि देवताओं के भागरूप में कल्पित प्रकृतिविकृत्यात्मक सोमयज्ञ को उत्पन्न किया है। वाणी की विशेषता को धारण करने वाले गायक गन्धर्व तथा जल अथवा अन्तरिक्ष में विचरण करने वाली अप्सराएँ भी कालरूपी आधार में ही रहती हैं। सब ही लोक काल में ही प्रतिष्ठित हैं।

2.5 सारांश —

यजुर्वेद का भारतीय जीवन में निजी वैशिष्ट्य है। यजुर्वेद ने यज्ञों को आवश्यकतानुसार वर्षा, समृद्धि अथवा अन्य इच्छित फल देने वाला वर्णित करके उन्हें असाधारण महत्त्वशाली बना दिया। यजुर्वेद में न केवल याज्ञिक विधि विधान हैं अपितु विभिन्न नियमादि की स्थापना अथवा इच्छित परिवर्तनों की दृष्टि से किया गया वाद विवाद भी प्राप्त होता है। इस दृष्टि से यजुर्वेद का मुख्य उद्देश्य पौरोहित्य शिक्षा जान पड़ता है जिससे पुरोहित गण भली प्रकार यज्ञानुष्ठान सम्पन्न करा सकें। वैदिक कर्मकाण्ड के साथ साथ धर्म के इतिहास की दृष्टि में भी यजुर्वेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारतीय धर्म के इतिहास के विविध रूपों एवं प्रभावों के सामान्य अथवा विशिष्ट

अनुसंधित्सु के लिए यजुर्वेद संहिता एक विशिष्ट पड़ाव है। यजुर्वेद को समझे बिना ब्राह्मण तथा परवर्ती ग्रन्थों के जटिल कर्मकाण्ड को तथा अन्तर्निहित दार्शनिक तत्त्व को समझा ही नहीं जा सकता। यजुर्वेद के अध्ययन से समाज की परिवर्तित होती हुई व्यवस्था का भी सम्यगतया ज्ञान हो जाता है। यज्ञ का महत्त्व बढ़ने के साथ-साथ समाज में ब्राह्मण वर्ग का प्रभुत्व स्थापित होने लगा था। ऋग्वेद का परवर्ती कहा जाने वाला 'पुरुष सूक्त' यजुर्वेद में भी प्राप्त होता है जिससे समाज में चातुर्वर्ण्य के दृढ़तया स्थापित हो जाने का प्रमाण मिलता है। चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त समाज में जाति व्यवस्था भी सुदृढ़ होने लगी थी। वाजसनेयी संहिता के सोलहवें तथा तीसवें अध्याय में अनेक वर्णसंकर जातियों का नामोल्लेख प्राप्त होता है। देवताओं के स्वरूप में परिवर्तन के सम्बन्ध में पहले कहा ही जा चुका है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकाण्ड तथा तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति आदि के ज्ञान की दृष्टि से यजुर्वेद संहिता का निजी वैशिष्ट्य है।

अथर्ववेद में इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम आदि ऋग्वेदीय देवों की स्तुतियाँ भी हैं और धर्म, अध्यात्म, पाप, पुण्य आदि का दार्शनिक विवेचन भी है। भृगु, कश्यप, अंगिरस् आदि प्राचीन ऋषि भी हैं और बादरायण, गोपथ, उद्दालक आदि अनेक नवीनतम ऋषि भी हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने अथर्ववेद में विविध प्रकार के अभिचार मंत्रों का ही आधिक्य प्रतिपादित किया, किन्तु इस संहिता में आत्मज्ञान एवं ब्रह्मविद्या का अत्यन्त उत्कृष्ट विवेचन भी प्राप्त होता है। चिकित्सा, राजधर्म, विवाह, गृहस्थ जीवन, कृषि, वाणिज्य आदि अनेक विषयों पर अनेक सूक्त रचे गए हैं। अन्य वेदों में विषयों की यह विविधता अनुपलब्ध ही नहीं, अचिन्तनीय भी है।

अथर्ववेद में काण्डों के अनुसार प्रतिपाद्य विषय संक्षेप में इस प्रकार है। पहले काण्ड में पाशमोचन, शर्मप्राप्ति तथा विविध रोगों से छुटकारा पाने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले मंत्र हैं। दूसरे काण्ड में भी रोग निवृत्ति के साथ शत्रु एवं कृमिनाशन तथा दीर्घायुष्य सम्बन्धी मंत्र हैं।

2.6 विशिष्ट शब्दावली – पूर्व इकाई अनुसार

2.7 बोध प्रश्न –

1. शिव संकल्प सूक्त (अध्याय 34) के देवता, ऋषि एवं छन्द का बताइये।
2. इस सूक्त के मंत्र 2,4,6 का ससंदर्भ अनुवाद कीजिए।
3. हमारा मन किस प्रकार का हो?
4. यजुर्वेद के किस अध्याय में पुरुष सूक्त वर्णित है।
5. परम पुरुष परमेश्वर कितने सिर, आँख एवं पैरों वाला है?
6. प्रस्तुत सूक्त के मंत्र 2,3,7,9,11 एवं 16 का ससंदर्भ अनुवाद कीजिए।
7. विराट् कहाँ से उत्पन्न हुआ?
8. मन्त्र संख्या 2,3,6 का ससंदर्भ अनुवाद कीजिए।
9. किस देव ने चारों तरफ से समृद्ध किया है।
10. 'असपत्न' का क्या अर्थ है?
11. काल सूक्त के ऋषि एवं देवता बताइये।
12. मन्त्र सं. 2,4,6,8,10,14 का ससंदर्भ अनुवाद कीजिये।
13. प्रजाएँ किससे उत्पन्न हुई हैं?

2.8 उपयोगी पुस्तकें –

1. बलदेव उपाध्याय – संस्कृत साहित्य का इतिहास।
2. डॉ. प्रीतिप्रभा गोयल – संस्कृत साहित्य का इतिहास (वैदिक खण्ड)

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर –

1. देवता मन, ऋषि याज्ञवल्क्य एवं छन्द त्रिष्टुप्।
2. देखिए – 2.2
3. शुभ संकल्प वाला हो।
4. इक्कीसवें अध्याय में।
5. अंसख्य
6. देखिए – 2.3
7. परम पुरुष के चतुर्थांश से।
8. देखिए – 2.4 (आ) (i)
9. सावितृ देव ने
10. बिना प्रतिपक्षी का।
11. ऋषि भृगु एवं देवता काल।
12. देखिए 2.4 आ (ii)
13. काल से।

ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद की विषयवस्तु एवं देवता-स्वरूप निरूपण

इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 ऋग्वेद की विषय वस्तु
- 3.3 यजुर्वेद की विषय वस्तु
- 3.4 अथर्ववेद की विषय वस्तु
- 3.5 देवताओं का स्वरूप
- 3.6 सारांश
- 3.7 बोध प्रश्न
- 3.8 उपयोगी पुस्तकें
- 3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य -

प्रस्तुत इकाई से शिक्षार्थी अधोलिखित से परिचित हो सकेंगे -

- 1. ऋग्वेद की विषय वस्तु एवं वर्ण्य विषय से।
- 2. यजुर्वेद की विभिन्न रचनाओं एवं विषय वस्तु से।
- 3. अथर्ववेद की विषय वस्तु एवं वर्ण्य विषय से।
- 4. विभिन्न देवताओं के स्वरूप से।

3.1 प्रस्तावना -

यह पूर्वतः प्रतिपादित किया जा चुका है कि विश्व का प्राचीनतम लिखित साहित्य वैदिक-साहित्य है। वैदिक-साहित्य में ऋग्वेदादि चार संहितायें, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक-ग्रन्थ तथा उपनिषदों की गणना की जाती है। प्रारम्भ में तीन वेद- ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद- जिन्हें वेदत्रयी कहा जाता था, कालान्तर में अथर्ववेद के सम्मिलित हो जाने पर 'वेद-चतुष्टय' भारतीय संस्कृति के गौरव ग्रन्थ के रूप में विद्यमान हैं।

3.2 ऋग्वेद की विषय वस्तु -

ऋग्वेद में 10 मण्डल हैं और इन मण्डलों में 1028 सूक्त हैं। कुछ मण्डलों को परिवार-मण्डल की परिभाषा दी गई है। इस परिवार में द्वितीय से सप्तम मण्डल परिगणित है। इस संज्ञा का कारण है- इन सूक्तों का वंशानुगतक्रम से विभिन्न ऋषियों के साथ सम्बद्ध होना। परिवार-मण्डल में मुख्य ऋषि हैं- गृत्समद, विश्वामित्र, अत्रि, भारद्वाज तथा वशिष्ठ। कण्व तथा उशनस् को अष्टम मण्डल का संयुक्त द्रष्टा या प्रणेता कहा जा सकता है। ये दोनों ऋषि गायक जाति के बताये गये हैं। इनमें स्त्रियों के नाम भी हैं। ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोमरस निकालने की विधि तथा सोमस्तुति के साथ-साथ सोमयज्ञ वर्णित है। ईरानी भाषा में सोम शब्द का समानान्तर 'होम' विद्यमान है, इससे भारत-ईरानी (Indo-Iranian) युग का संकेत मिलता है।

“खिल” की परिगणना वैदिक साहित्य में ही की जाती है। खिल का अर्थ है— परिशिष्ट। अष्टम मण्डल के अन्त में ग्यारह-बारह खिल उपलब्ध हैं। स्पष्टतः ये परिशिष्ट उत्तरकालीन अर्थात् अर्वाचीन हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल में कई संवादसूक्त हैं। उत्तरकालीन लौकिक संस्कृत की बहुसंख्यक कृतियों में इन संवादसूक्तों के कथ्य को आधार बनाया गया है। ऋग्वेद के इन सूक्तों से प्राचीनतम आर्य सभ्यता एवं संस्कृति की क्रमिक विकास-स्थिति को जानना संभव है।

कृषि तथा पशुपालन— ऋग्वेद—कालीन आर्यों का प्रमुख खाद्यान्न यव तथा गोधूम था। चावल की खेती बहुत बाद में की जाने लगी। सरस्वती नदी के पूर्व या दक्षिण में स्थित प्रदेशों का कोई भी उल्लेख प्राचीनतम सूक्तों में नहीं मिलता। सौन्दर्य के प्रतीक कमल का भी इनमें उल्लेख नहीं है। इससे अनुमान होता है कि आर्यों का मूल निवास सारस्वत-प्रदेश था और शनै-शनैः वे पूर्व में गंग-प्रदेश की तरफ और दक्षिण में विन्ध्य पर्वत की ओर बढ़ते गये होंगे।

आर्यों का प्रमुख व्यवसाय पशु-पालन था। गौ, वृषभ तथा अश्व प्रमुख पशु थे। अश्वों का उपयोग शकट तथा रथादि को खींचने और सामान ढोने में होता था। कृषि-कार्य के लिए वृषभ उपयुक्त थे। गौ से दुग्ध, दधि, नवनीत तथा घृत प्राप्त किया जाता था। दुग्ध तथा घृत यज्ञ की प्रमुख सामग्री थी। गौ को ऋग्वेद में अघ्न्या कहा गया है, अतः पाश्चात्य विद्वानों का यह कहना असंगत है कि उन दिनों गौमांस-भक्षण प्रचलित था। वृषभ के चर्म का उपयोग प्रत्यञ्चा (धनुष की डोरी) एवं थैला बनाने में किया जाता था।

आर्य लोगों की शिल्प-कला उच्चकोटि की थी। शिल्पों में बढ़ईगिरी प्रमुख थी। बढ़ई का कार्य शकट, रथ तथा द्वारादि बनाना था। लौहकार, स्वर्णकार तथा कुम्भकार भी अपना कार्य करते थे। नौका निर्माण सम्भवतः वृक्ष के तने को खोखला बनाकर किया जाता था। बड़ी नौकाओं के अभाव में समुद्र व्यापार की अधिक संभावना नहीं थी। पारस्परिक लेन-देन के लिये पशुओं तथा स्वर्ण का प्रयोग प्रचलित था।

वर्ण व्यवस्था — ऋग्वेद में कर्म-गत व्यक्ति-विभाजन तो भली प्रकार से है, किन्तु वर्णगत विभाजन उन दिनों प्रचलित नहीं था।

नारी की स्थिति — सभी गृहस्थ प्रतिदिन गृहयज्ञ या अग्निहोत्र करते थे। इन कार्यों में पत्नी का योगदान अनिवार्य था। इससे समाज में नारी का पुरुष के समान स्तर आभासित होता है।

आदर्श समाज — ऋग्वेद—कालीन आर्य अत्यन्त सभ्य तथा सुसंस्कृत थे, यह धारणा मैक्समूलर ने व्यक्त की है। ऋग्वेद में प्राप्त सामग्री के आधार पर आर्यजन प्रसन्न, संघर्षरत एवं सहज प्रकृति के थे। उनमें असभ्यता या क्रूरता के लक्षण दिखाई नहीं देते थे।

देव-स्तुति— वैदिक सूक्तों की रचना के प्रयोजनों का प्रश्न विचाराधीन है। क्या ये दिव्य शक्तियों के प्रति श्रद्धा के सूचक हैं अथवा इनकी रचना विशिष्ट यज्ञ-विधान को ध्यान में रखकर की गई थी? वस्तुतः इन सूक्तों में विभिन्न देवताओं की स्तुति की गई है, जिनमें वरुण, इन्द्र तथा सूर्य प्रमुख हैं। प्रारम्भिक स्तुतियाँ इन देवताओं को प्राकृतिक शक्ति के रूप में प्रस्तुत करती हैं, किन्तु बाद में अग्नि को अग्निदेव तथा सूर्य को सूर्यदेव आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया गया है।

विभिन्न देवों के स्तुतिपरक मंत्रों का संकलन ऋग्वेद में किया गया था। इस दृष्टि से ऋग्वेद का प्रतिपाद्य देवस्तुति है। ऋग्वेद में सर्वत्र इसी की प्रधानता भी है किन्तु स्थान-स्थान पर ऋग्वेद में अन्य विषय भी प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से ऋग्वेद का दशम मण्डल अत्यधिक महत्वपूर्ण है। जिसने ऋग्वेद के प्रतिपाद्य विषय को विविधता प्रदान की। यास्क ने ऋग्वेद की सम्पूर्ण विषय वस्तु को प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक— इन भागों में विभाजित किया था। इसी को आधार बना कर घाटे महोदय ने ऋग्वेद के सम्पूर्ण वर्ण्य विषय का धर्म निरपेक्ष, धार्मिक तथा दार्शनिक सूक्तों की दृष्टि से विभाजन किया। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् डॉ. विण्टरनिट्स ने बहुत कुछ मैकडॉनल की विचार सरणि का अनुसरण करते हुए ऋग्वेद की विषय वस्तु का विश्लेषण किया और

समस्त ऋग्वैदिक सूक्तों को काव्यात्मक गीत, यज्ञीय स्तुति, दार्शनिक सूक्त, संवाद सूक्त धर्मनिरपेक्ष सूक्त, ऐन्द्रजालिक मन्त्र तथा दानस्तुति आदि के रूप में विभाजित किया। किन्तु अनेक अन्य विद्वानों ने प्रतिपाद्य की दृष्टि से ऋग्वेद के सूक्तों को चार श्रेणियों में ही समाहित कर दिया है जो उचित ही जान पड़ता है—

- (1) धार्मिक सूक्त,
- (2) दार्शनिक सूक्त,
- (3) लौकिक सूक्त, एवं
- (4) संवाद सूक्त

(1) **धार्मिक सूक्त** — ऋग्वेद का अधिकांश भाग ही धार्मिक सूक्तों की श्रेणी में आता है। इन सूक्तों में विभिन्न देवों को सम्बोधित करते हुए उनकी स्तुति की गई है। अग्नि, इन्द्र, मरुत्, अश्विनी, वरुण, विष्णु आदि ऋग्वेद के प्रमुख देवता हैं जिनके स्तुतिपरक मंत्रों की संख्या अधिक है। इनके अतिरिक्त विश्वेदेवा, मित्रावरुण, पूषन्, उषस्, रुद्र, सोम, वायु, पर्जन्य, पृथिवी, आदित्य, सरस्वती, प्रजापति आदि देवों की स्तुति के मंत्र ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। इनमें से प्रमुख सभी देव विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के मूर्त रूप हैं किन्तु उनका वर्णन व्यक्ति के रूप में किया गया है। इन सभी मंत्रों में इन विभिन्न देवों की स्तुति के साथ-साथ उनके स्वरूप, कार्य, पारस्परिक सम्बन्ध आदि का भी सुन्दर वर्णन हुआ है। सभी देवों में सामान्य स्वरूप से तेज, पवित्रता, दया, वैदुष्य, हितकारिता आदि विशेषताएँ पाई जाती हैं किन्तु कतिपय व्यक्तिगत विशिष्टताएँ भी हैं। इन सभी देवों का चरित्र उच्च कोटिक है। वे न्यायप्रिय, सत्यनिष्ठ एवं कर्तव्यरत हैं। इनमें भी वरुण सबसे अधिक न्यायपालक चित्रित हुआ है जो ऋत के उल्लंघन को कदापि क्षमा नहीं करता।

यास्क ने निरुक्त के दैवत काण्ड (अध्याय 7 से 12) में समस्त वैदिक देवताओं को तीन भागों में विभक्त किया और उन तीनों विभागों में एक-एक देवता को प्रमुख स्थान दिया है। पृथिवीस्थानीय देव अग्नि है, अन्तरिक्षस्थानीय देव वायु या इन्द्र है तथा द्युस्थानीय देव सूर्य है। विभिन्न गुणों तथा विभिन्न कार्यों के कारण इन तीनों देवों की अनेक नामों से स्तुति की गई है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान प्रोफेसर मैकडॉनल ने भी वैदिक देवों पर विस्तृत विवेचन किया, एवं सभी देवों को आठ भागों में विभक्त किया—

- 1 द्युस्थानीय देवता— द्यौः, वरुण, मित्र, सूर्य, सवित्, पूषन्, विष्णु, विवस्वत्, आदित्यगण, उषस्, अश्विनौ।
- 2 अन्तरिक्षस्थानीय देवता— इन्द्र, अपानपात्, मातरिश्वन्, अहिर्बुध्न्य, अज—एकपात्, रुद्र, मरुद्गण, वायु, पर्जन्य, आपः।
- 3 पृथिवीस्थानीय देवता— पृथिवी, अग्नि, वृहस्पति, सोम, नदियाँ।
- 4 अमूर्त देवता— प्रजापति, विश्वकर्मा, त्वष्टा, मन्यु, अदिति, श्रद्धा।
- 5 देवियाँ— उषस्, वाक्, सरस्वती, रात्रि।
- 6 युगलदेव— इन्द्राग्नी, इन्द्राविष्णु, मित्रावरुणौ, अग्नीषोमौ।
- 7 देवगण— रुद्राः, आदित्याः, विश्वेदेवाः, वसवः।
- 8 अवर देवता — गर्न्धर्व, अप्सरस्, ऋभुगण।

(2) **दार्शनिक सूक्त**— दार्शनिक तत्त्व विवेचन सम्बन्धी सूक्त अपेक्षाकृत अर्वाचीन दशम मण्डल में अधिकांशतः उपलब्ध होते हैं। ऐसे दार्शनिक सूक्तों में नासदीय सूक्त, पुरुष सूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त तथा वाक् सूक्त अपनी नवीन कल्पना एवं दार्शनिक गम्भीरता के कारण विद्वज्जगत् में नितान्त

प्रसिद्ध एवं प्रिय रहे हैं। यहाँ इन सूक्तों का अत्यल्प विवेचन अप्रासंगिक न होगा।

नासदीय सूक्त (10/129) जगत् की प्रारम्भिक स्थिति का वर्णन करता है। ऋषि कहता है—सृष्टि के प्रारम्भ में न असत् था, और न सत्, न तो दिन था और न रात, सृष्टि का अभिव्यञ्जक कोई भी चिह्न नहीं था। सर्वप्रथम काम की उत्पत्ति हुई। इसी 'काम' की अभिव्यक्ति सृष्टि के विभिन्न स्तरों में प्रतिफलित होती है। उस समय अपनी स्वाभाविक शक्ति से जीवित एक ही तत्व था जो बिना वायु के भी साँस लेता था। उस तत्व के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं था। वस्तुतः यह सूक्त भारतीय आर्ष दृष्टि के अपूर्व दार्शनिक चिन्तन का अद्भुत परिचायक है। अद्वैत तत्व की प्रतिष्ठा ही इस सूक्त का गम्भीर रहस्य है।

हिरण्यगर्भ सूक्त (10/121) में एक प्रमुख देव की ऋषिकल्पना दिखाई देती है। यही प्रमुख देव पुरुष, प्रजापति, या हिरण्यगर्भ नाम से स्तुत है। यह हिरण्यगर्भ सृष्टि के आदि में विद्यमान, समस्त विश्व का धारणकर्ता तथा रक्षक, समग्र भूतों का शासक राजा तथा मृत्यु का भी शासनकर्ता है। इस सूक्त के अधिकांश मंत्रों का अन्तिम चरण है— "कस्मै देवाय हविषा विधेम"। इस चरण में "कस्मै" पद को लेकर पाश्चात्य एवं भारतीय दृष्टियों में पर्याप्त एवं मूलभूत अन्तर है। पाश्चात्य विद्वानों ने "कस्मै" को 'किं' शब्द की चतुर्थी का एक वचन मान कर उसका अर्थ 'किसके लिए' किया है। किन्तु यह अर्थ मंत्र अथवा सम्पूर्ण सूक्त के साथ सही नहीं बैठ पाता। निरुक्त तथा सायण आदि की दृष्टि में 'कः' शब्द प्रजापति का बोधक है। 'किं' शब्द से भी अनिर्वचनीयता का बोध होने के कारण वह भी सौख्यभावसम्पन्न प्रजापति का ही सूचक है।

पुरुष सूक्त (10/90) दार्शनिक सूक्तों में अन्यतम माना जाता है। जगत् के दुर्बोध्य रहस्य को समझने में तत्पर भारतीय मनीषा की रहस्यभेदिनी तीव्र अन्तर्दृष्टि इस पुरुष सूक्त में अपनी समस्त गम्भीरता और गौरव के साथ उदित हुई है। वह पुरुष त्रिकाल में भी व्याप्त है। वह त्रिकाल ही है और उससे परे भी है। इसी पुरुष सूक्त में वर्णोत्पत्ति से सम्बद्ध मंत्र भी है। इस प्रकार यह पुरुष सूक्त दार्शनिक चिन्तन के साथ-साथ वैदिक आर्यों की सामाजिक तथा आध्यात्मिक धारणाओं का भी परिचायक है।

- (3) **लौकिक सूक्त** — ऋग्वेद के जिन सूक्तों में न तो सृष्टिविचार ही है और न ही विभिन्न देवताओं को सम्बोधित किया गया है, अपितु जो सूक्त लौकिक जीवन तथा दैनन्दिन व्यवहार से सम्बद्ध विषयों का रोचक वर्णन करते हैं, उन सूक्तों को विद्वानों ने लौकिक सूक्त संज्ञा प्रदान की है। ऐसे विषय अधिकांशतया अथर्ववेद की अपनी विशेषता माने जाते हैं किन्तु ऋग्वेद में भी वे उपलब्ध हैं। दार्शनिक सूक्तों की भाँति ये लौकिक सूक्त भी अधिकांशतया दशम मण्डल में ही हैं। विवाह के सुन्दर कवित्वमय विधि से सम्बद्ध सूक्त (10/85), राजा की प्रशस्ति (10/173-174), व्यक्ति के दूरगामी मन को लौट आने की प्रार्थना (मनः आवर्तन सूक्त 10/58), द्यूतकर का लोभ एवं विषाद (अक्षसूक्त 10/34), शरीर के विभिन्न अंगों का वैज्ञानिक विवरण (10/163), सपत्नी को नष्ट कर देने की प्रार्थना (सपत्नघ्न सूक्त 10/166), रोगपीडित मनुष्य की व्याधिहरण का उपाय (10/161) तथा औषधिसूक्त (10/97) तथा मण्डूकसूक्त (7/103) आदि सूक्त लौकिक विषयों से सम्बद्ध ही हैं।
- (4) **संवाद सूक्त** — ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों में कथोपकथन की प्रधानता के कारण उन्हें संवाद सूक्त का नाम दिया गया है। ये सूक्त संख्या में लगभग 20 हैं और ऋग्वेद को प्रबन्धकाव्यों और नाटकों से जोड़ देते हैं। इन संवादसूक्तों को लेकर पाश्चात्य विद्वानों में गहरा मतभेद रहा है। डॉ. ओल्डेनबर्ग का मत है कि ऋग्वेद में गद्यपद्यात्मक आख्यान थे। उसमें से गद्यभाग केवल कथात्मक होने के कारण लुप्त हो गया और रोचक तथा मञ्जुल भाग संवाद सूक्त के रूप में अवशिष्ट रह

गया। अतः मूलतः ये संवाद सूक्त आख्यान थे। इसीलिए डॉ. ओल्डेनबर्ग ने इन सूक्तों को 'आख्यान सूक्त' ही कहा है। डॉ. सिल्वॉ लेवी, डॉ. वॉन श्रोदर तथा डॉ. हर्टल का मत है कि ये संवाद सूक्त नाटक के अवशिष्ट अंश हैं। यज्ञ के अवसर पर इन संवादसूक्तों का संगीत तथा पात्रों के उचित सन्निवेशपूर्वक वस्तुतः अभिनय हुआ करता था। डॉ. विण्टरनिट्स का कथन है कि प्राचीनकाल में की जाने वाली वीर स्तुति ही इन सूक्तों में रूपान्तरित है और इनका सम्बन्ध महाकाव्य और नाटक दोनों के साथ है अतः ये संवाद सूक्त लोकगीत काव्य (बैलेड) के एक प्रकार हैं।

डॉ. राममूर्ति शर्मा ने पाश्चात्य विद्वानों के इन विचारों को इस प्रकार परीक्षण किया है। "इन संवाद सूक्तों के सम्बन्ध में पाश्चात्यों के ये विविध मत एकांगी हैं। "तत्कालीन इतिहास का संरक्षण, सांस्कृतिक चित्रण, कथा के प्रति नैसर्गिक आसक्ति, कान्तासम्मित उपदेश, आध्यात्मिक तत्वों की अभिव्यंजना आदि इन आख्यानों के उपनिबन्धन के प्रयोजन जान पड़ते हैं।

ये संवाद सूक्त ऋग्वेद के प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि मण्डलों में भी प्राप्त हैं किन्तु दशम मण्डल में इनकी संख्या अधिक है। इन्द्र-मरुत् संवाद (1/165, 1/170), अगस्त्य-लोपामुद्रा संवाद (1/179), विश्वामित्र-नदी संवाद (3/33), आदि संवाद सूक्तों के अतिरिक्त अन्य कुछ संवाद सूक्त अधिक प्रसिद्ध हैं। पुरुरवा-उर्वशी संवाद (10/95) यम-यमी संवाद (10/10) तथा सरमा-पणि संवाद (10/30) कलात्मक दृष्टि से अधिक रुचिर, नाटकीय ओजस्विता से परिपूर्ण तथा भावोत्पादक हैं।

ऋग्वेद के विषय वस्तु के विवेचन के पश्चात् ऋग्वेद में आए हुए कतिपय महत्वपूर्ण देवताओं के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन करना अप्रासंगिक न होगा। लगभग सभी पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने वैदिक साहित्य का इतिहास लिखते समय अपनी-अपनी दृष्टि से ऋग्वेद के प्रमुख देवस्वरूप का वर्णन अवश्य किया है। प्राचीन भारतीय याज्ञिक विधान के अनुसार प्रत्येक मंत्र का कोई न कोई देवता अवश्य होता है। आचार्य सायण की सम्मति में वेदाध्ययन तथा वेदाध्यापन करने वाले व्यक्तियों को प्रत्येक मंत्र के देवता का समुचित ज्ञान होना चाहिए। मंत्रों से संबंधित देवताओं को समुचित रूप से जाने बिना किसी वैदिक अथवा लौकिक कृत्य का फल प्राप्त नहीं होता। दैवतज्ञ ही मंत्रों के अर्थ को समझ सकता है।

सम्पूर्ण ऋग्वेद में स्तुत विभिन्न देवताओं में कुछ समान विशेषताएँ दृष्टगोचर होती हैं।

1. ऋषि ने स्तुति करते समय प्रत्येक वैदिक देव में शक्ति, बुद्धिमता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, तेजस्विता अथवा प्रकाश, औचित्य, परोपकारित्व, अमरत्व आदि गुणों को स्थापित किया है। लगभग सभी प्रमुख देवता सृष्टि की उत्पत्ति, रक्षा तथा संहार करने में सक्षम दिखाई देते हैं। अर्थात् परवर्ती त्रिदेव का कार्य वेद का एक-एक देव ही कर लेता है।
2. गुणों की समानता के साथ-साथ कुछ देवताओं में परस्पर उपाधियाँ भी समान बता दी गई हैं। वज्र धारण करना, गायों (जलों) को मुक्त करना, बल नामक असुर का वध करना आदि मुख्यतया इन्द्र के कार्य हैं किन्तु ऋग्वेद में ये कार्य इन्द्र के साथ-साथ अग्नि तथा वृहस्पति के भी कहे गए हैं।
3. समान गुण तथा समान उपाधि धारण करने के कारण ऋग्वेद के देवताओं में परस्पर तादात्म्य भी दिखाई देता है। पृथिवी की अग्नि, विद्युत और सूर्य- तीनों का तादात्म्य एक अग्नि देव में किया गया है।
4. वैदिक देववाद में एक विचित्र वैशिष्ट्य यह है कि ऋषि जिस भी देवता की स्तुति करता है उसी को सर्वोपरि एवं श्रेष्ठतम रूप में वर्णित कर देता है। इसका एक अर्थ यह भी निकाला

जा सकता है कि वैदिक आर्य उस एक मूल परम सत्ता परमेश्वर का ही प्रतिरूप विभिन्न देवताओं मानते हैं।

3.3 यजुर्वेद की विषय वस्तु –

यजुर्वेद में यजुषों का संग्रह है जो यज्ञ में अध्वर्यु के लिए अत्यन्त उपयोगी थे। यजुर्वेद का लगभग चतुर्थांश ऋग्वेद पर आधारित है।

महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य में यजुर्वेद की 11 शाखाओं का उल्लेख किया है। इनमें से केवल 5 शाखायें उपलब्ध हैं— (1) काठक संहिता, (2) कपिष्ठल कठ संहिता (3) मैत्रायणी संहिता (4) तैत्तिरीय संहिता एवं (5) वाजसनेयी संहिता। इसमें से प्रथम चार संहितायें कृष्ण यजुर्वेद से और अन्तिम शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित हैं। स्मरणीय है कि शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्र पाठ दिया गया है, जबकि कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्र के साथ-साथ विचार विमर्श भी प्राप्त है। यह उत्तरकालीन ब्राह्मण ग्रन्थों का आधार माना जा सकता है। इनमें रहस्यात्मकता से संयुक्त प्रतीकात्मकता का भी अनुमान किया गया है।

शुक्ल यजुर्वेद का अर्द्धांश ही कृष्ण यजुर्वेद से साम्य रखता है, किन्तु इस आधार पर शुक्ल की रचना उत्तरकालीन मानना संगत नहीं होगा। भारतीय परम्परा में तो शुक्ल यजुर्वेद में व्यवस्था और कृष्ण में अव्यवस्था को स्वीकार करती है। शतपथ ब्राह्मण में सूर्य के द्वारा याज्ञवल्क्य को यजुषु का दान और उसके साथ श्वेत वर्ण का संयोजन बताया गया है, जिसके आधार पर इस संहिता को शुक्ल यजुर्वेद कहा गया है। विष्णु-पुराण में भी ऐसा ही एक संकेत उपलब्ध है।

यजुर्वेद में पद्य व गद्य का सम्मिश्रण है, किन्तु “यजुषु” का प्रयोग केवल गद्य के लिए किया गया है। गद्य-भाग में काव्यात्मक उत्कर्ष भी देखा गया है। इसके पद्य भाग में ऋग्वेद के कई मंत्र यथावत् लिये गये हैं। याज्ञिक कृत्यों की अनुकूलता को ध्यान में रखकर ऋग्वेदीय मंत्रों में कुछ परिवर्तन भी किया गया है।

यजुर्वेद में देवी-देवताओं की स्तुति भी मिलती है, किन्तु कहीं-कहीं संक्षेप में देवता के नाम के आगे ‘स्वाहा’ मात्र जोड़ा गया है।

यजुर्वेद में कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनका प्रयोग रूढ़ हो गया है। इनके अर्थ की ओर ध्यान नहीं जाता। “स्वधा”, “स्वाहा” व “वषट्” “ओम्” शब्द के साथ अत्यधिक रहस्यात्मकता और पवित्रता संयुक्त है। कभी तो यह मात्र “हाँ” का द्योतक है और कभी इस शब्द के द्वारा परमात्म-तत्त्व का विस्तृत अर्थ-ग्रहण किया जाता है।

इस प्रकार यजुर्वेद को याज्ञिक-विधान तथा दर्शनशास्त्रीय दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण माना जा सकता है। उत्तरकालीन धर्मशास्त्रीय रचनायें तो स्पष्टतः इससे प्रभावित हैं। आधुनिक युग में प्रवर्तमान यज्ञ तो यजुर्वेदीय पद्धति से ही सम्पन्न किये जाते हैं।

यजुर्वेद की विषयवस्तु से परिचय प्राप्त करने के लिए शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता का अनुशीलन पर्याप्त है क्योंकि यही संहिता यजुर्वेद की प्रतिनिधि ग्रन्थ है। यह सम्पूर्ण संहिता यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओं एवं विधियों से परिपूर्ण है। इस संहिता में 40 अध्याय हैं जिनमें अन्तिम पन्द्रह अध्याय खिलरूप से प्रसिद्ध हैं और समयक्रम से परवर्ती माने जाते हैं। (यह विवेचन विषयवस्तु के पश्चात् किया जाएगा)। इसके प्रतिपाद्य विषय अध्यायक्रम से इस प्रकार है। पहले तथा दूसरे अध्याय में दर्श तथा पौर्णमास यज्ञों से सम्बद्ध मंत्र हैं। चौथे से आठवें अध्याय तक सोमयागों, उससे सम्बद्ध अग्निष्टोम तथा तीनों सवनों आदि के विधान के लिए मंत्र प्राप्त होते हैं। नवें तथा दसवें अध्याय में वाजपेय एवं राजसूय यज्ञ के विधान के विस्तृत विवरणात्मक मंत्र हैं। ग्यारहवें से अठारहवें अध्याय एक ‘अग्निचयन’ का वर्णन बहुत विस्तृत एवं सूक्ष्म विधि विधानों से युक्त है। यज्ञीय होमाग्नि के लिए वेदी का निर्माण किस प्रकार किया जाए— उस स्थान, आकृति, इष्टिकाओं की संख्या तथा आकार आदि का वर्णन बहुत मनोयोग एवं मार्मिकता से किया गया है। इसी में सोलहवाँ अध्याय रुद्राध्याय नाम से प्रसिद्ध है

जिसमें शतरुद्रीय होम का प्रसंग है तथा रुद्र के स्वरूप की विस्तृत परिकल्पना प्रस्तुत की गई है। उन्नीसवें से इक्कीसवें अध्याय तक सौत्रामणि यज्ञ का विधान वर्णित है। इस यज्ञानुष्ठान का विधान राजच्युत राजा, पशुकाम यजमान तथा सोमरस की अनुकूलता से पराङ्मुख व्यक्ति के लिए किया जाता था। बाइसवें से पचीसवें अध्याय तक आर्यों के महान् अश्वमेध यज्ञ के विशिष्ट मंत्रों का निर्देश है, जिसे सार्वभौम प्रभुता के पद के इच्छुक सम्राट सम्पन्न किया करते थे। छब्बीसवें से उन्तीसवें अध्याय तक पूर्वोक्त विभिन्न अनुष्ठानों से सम्बद्ध नवीन मंत्र दिए गए हैं। तीसवें अध्याय में पुरुषमेध का वर्णन है जिसमें 184 पदार्थों के आलम्बन-बलि का निर्देश है। इक्तीसवें अध्याय में पुरुष सूक्त की अपेक्षा छह मंत्र अधिक हैं तथा मंत्रों का क्रम भी परिवर्तित है। बत्तीसवें तथा तैंतीसवें अध्याय में सर्वमेध यज्ञ के मंत्र हैं। चौतीसवें अध्याय के प्रारम्भ में शिवसंकल्प सूक्त के छह मंत्र हैं जिनमें मन के महत्व का प्रतिपादन करके मन के शिव संकल्प होने की उदात्त एवं रमणीय प्रार्थना है। प्रत्येक मंत्र 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' वाक्य से समाप्त होता है। यह लघुकाय सूक्त भारतीय ऋषि की उस सूक्ष्म, अन्तर्भेदिनी तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि का भलीभाँति परिचय देता है जिसने मनस्तत्त्व के महत्व का सम्पूर्ण आकलन कर लिया था। पैंतीसवें अध्याय में पितृमेध तथा छत्तीसवें से अड़तीसवें अध्याय में प्रवर्ग्ययाग के मंत्र प्राप्त होते हैं। उन्तालीसवें अध्याय में नरमेध अथवा अन्त्येष्टि के मंत्रों का विधान है। अन्तिम चालीसवाँ अध्याय प्रसिद्ध ईशोपनिषद् अथवा ईशावास्योपनिषद् है। इसका नाम प्रथम मंत्र के प्रारम्भिक पदों के आधार पर पड़ा है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिद् जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

यह ईशावास्योपनिषद् वाजसनेयी संहिता का ही एक अंश होने के कारण सर्व प्राचीन माना जाता है क्योंकि अन्य कोई उपनिषद् संहिता का अंशरूप नहीं है।

यजुर्वेदीय धर्म — सामान्यतः देखने पर यजुर्वेद में प्रतिपादित धर्म ऋग्वेद से तत्त्वतः भिन्न नहीं जान पड़ता। प्रायः सभी विद्वानों ने यही धारणा प्रस्तुत की है, किन्तु वास्तविक दृष्टि इससे भिन्न ही है। देवताओं का समूह तो वही रहा, पर उनके स्वरूप, पूर्वापरता, महत्व आदि सबमें बहुत अधिक परिवर्तन हो गया। ऋग्वेद में केवल देवस्तुति ही धर्म की मूल आधारशिला थी। विभिन्न अवसरों पर विभिन्न देवों के लिए सरल संक्षिप्त यज्ञ सम्बद्ध अग्नि में हवि डालते हुए ऋषि विभिन्न स्तुतियाँ करते थे, यही उस समय की सर्वश्रेष्ठ धार्मिक विधि थी। किन्तु यजुर्वेद के समय में यज्ञ-विधि देवता से भी अधिक महत्वपूर्ण हो गई। धर्म की आधार भित्ति देव माहात्म्य एवं स्तुति से हट कर यज्ञ सम्पादन पर आ गई। ऋग्वेद में देवस्तुति में भावना प्रधान थी, इसीलिए ऋग्वेद का प्रत्येक देव सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वमहिमा सम्पन्न है। किन्तु यजुर्वेद में यज्ञानुष्ठान की क्रिया ही प्रमुख बन गई। भावना की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्व मिल जाने से यजुर्वेद में धर्म का मूल स्वरूप ही बदल गया। यजुर्वेदीय धर्म की विशिष्टताओं का संक्षिप्त स्वरूप कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है—

(अ) यजुर्वेद में कुछ देवता ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण बन गए। इन्द्र के महत्व में सर्वाधिक न्यूनता आई। अग्नि का स्वरूप भी परिवर्तित होकर 'देवमुख' (देवों तक हवि ले जाने वाली) के रूप में अधिक प्रतिष्ठित हुआ। विष्णु का महत्व अधिक हो गया और वे यज्ञस्वरूप ही मान लिए गए। प्रजापति अपने ऋग्वैदिक अर्भूत रूप की अपेक्षा मुख्य देव पद की ओर अग्रसर हुए। रुद्र का तो समग्र स्वरूप ही परिवर्तित होने लगा। अब वे रुद्र की अपेक्षा शिव, ईशान, शंकर तथा महादेव जैसे विशेषणों से मण्डित होकर अत्यधिक महत्वपूर्ण देवता पद पर अधिष्ठित हो गए। इस प्रकार परवर्ती पौराणिक देववाद का समस्त मूल यजुर्वेदीय देवता स्वरूप में प्राप्त हो जाता है।

(ब) यजुर्वेदीय धर्म में एक नवीन विशेषता दृष्टिगोचर होती है। कृष्ण एवं शुक्ल-दोनों ही यजुर्वेदों में 'शतरुद्रीय' अध्याय में रुद्र अथवा शिव के शताधिक नामों से स्तुति की गई हैं। ये सभी विभिन्न नाम रुद्र की विभिन्न शक्तियों एवं सामर्थ्य के द्योतक हैं। इस रुद्राध्याय ने भारतीय धर्म के इतिहास में एक नवीन परम्परा को जन्म दिया जिसमें अपने आराध्यदेव में सभी विभिन्न

ऐश्वर्यो और महिमाओं की परिकल्पना करके उसे विभिन्न नामों से पुकारा जाने लगा। शिव सहस्रनाम, विष्णु सहस्रनाम, कृष्ण सहस्रनाम आदि इसी परम्परा का पोषण करते हैं।

धर्म एवं धार्मिक विचारधारा की दृष्टि से यदि निष्पक्ष होकर विवेचन किया जाए तो स्पष्ट होता है कि यजुर्वेद के समय में परम शक्ति के स्थान पर यज्ञ को सर्वोच्च महत्व देने से धर्म की अन्तर्निहित भावना का पर्याप्त ह्रास हुआ। नियमानुसार अनुष्ठान एवं यज्ञ कार्य कर लेने मात्र से देवों को वशीभूत कर सकने का विचार दृढ़ हो जाने पर स्वभावतः ही उस नैतिकता और शुचिता के पालन पर विशेष बल नहीं रहा, जो किसी भी धर्म का आधार स्तम्भ है।

यजुर्वेद का महत्व— इस वेद का भारतीय जीवन में निजी वैशिष्ट्य है। यजुर्वेद ने यज्ञों को आवश्यकतानुसार वर्षा, समृद्धि अथवा अन्य इच्छित फल देने वाला वर्णित करके उन्हें असाधारण महत्वशाली बना दिया। यजुर्वेद में न केवल याज्ञिक विधि विधान हैं अपितु विभिन्न नियमादि की स्थापना अथवा इच्छित परिवर्तनों की दृष्टि से किया गया वाद विवाद भी प्राप्त होता है। इस दृष्टि से यजुर्वेद का मुख्य उद्देश्य पौरोहित्य शिक्षा जान पड़ता है जिससे पुरोहित गण विभिन्न प्रकार यज्ञानुष्ठान सम्पन्न करा सकें। वैदिक कर्मकाण्ड के साथ-साथ धर्म के इतिहास की दृष्टि से भी यजुर्वेद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारतीय धर्म के इतिहास के विविध रूपों एवं प्रभावों के सामान्य अथवा विशिष्ट अनुसंधित्सु के लिए यजुर्वेद संहिता एक विशिष्ट पड़ाव है। यजुर्वेद को समझे बिना ब्राह्मण तथा परवर्ती ग्रन्थों के जटिल कर्मकाण्ड को तथा अन्तर्निहित दार्शनिक तत्व को समझा ही नहीं जा सकता। यजुर्वेद के अध्ययन से समाज की परिवर्तित होती हुई व्यवस्था का भी सम्यग्यतया ज्ञान हो जाता है। यज्ञ का महत्व बढ़ने के साथ-साथ समाज में ब्राह्मण वर्ग का प्रभुत्व स्थापित होने लगा था। ऋग्वेद का परवर्ती कहा जाने वाला 'पुरुष सूक्त' यजुर्वेद में भी प्राप्त होता है जिससे समाज में चातुर्वर्ण्य के दृढ़तया स्थापित हो जाने का प्रमाण मिलता है। चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त समाज में जातिव्यवस्था भी सुदृढ़ होने लगी थी। वाजसनेयी संहिता के सोलहवें तथा तीसवें अध्याय में अनेक वर्णसंकर जातियों का नामोल्लेख प्राप्त होता है। देवताओं के स्वरूप में परिवर्तन के सम्बन्ध में पहले कहा ही जा चुका है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक कर्मकाण्ड तथा तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति आदि के ज्ञान की दृष्टि से यजुर्वेद संहिता का निजी वैशिष्ट्य है।

3.4 अथर्व-वेद की विषय वस्तु

इस वेद का अर्थ है— अथर्वन् अर्थात् जादू-टोने का वेद। अथर्वन् का सामान्यतः पुरोहित अर्थ मानने से यह पुरोहितों का वेद भी कहा जा सकता है। ईरान के प्रसिद्ध ग्रन्थ अवेस्ता में आथर्वन् शब्द की उपलब्धि भारत-ईरान युग के साथ इसे सम्बद्ध कर देती है। अग्नि-पुरोहित के अर्थ का वाचक यह शब्द ईरान के लोगों के लिए प्रयुक्त अग्नि-पूजक शब्द की पुष्टि करता है। भारत की अग्नि-पूजा जो प्रसिद्ध ही है। अथर्व का 'जादू-टोना' रूपी अर्थ अवेस्ता के 'मार्गी' शब्दार्थ से तुलना करने योग्य है।

अथर्ववेद का प्राचीनतर नाम "अथर्वाङ्गिरस" था। इस शब्द में अथर्वन् तथा अङ्गिरस का संयोग है। कालान्तर में संक्षिप्त होकर यह अथर्ववेद कहलाने लगा। अथर्वन् शब्द से तो पवित्र तथा श्वेत-अभिचार (जादू-टोना) और अङ्गिरस से अपवित्र या काला जादू का अर्थ ग्रहण किया जाता है। अथर्वन् से प्रसन्नता का आधान किया जाता है पर अङ्गिरस से शत्रुओं का विनाश अपेक्षित है।

अथर्ववेद में 731 सूक्त हैं। इसके सर्वाधिक सुरक्षित संस्करण में करीब 6000 मंत्र हैं। ये सूक्त 20 मण्डलों में विभक्त हैं। 20 वाँ मण्डल सम्भवतः बाद का है। इनमें से 75 के अतिरिक्त शेष पद्यों का अधिकांश ऋग्वेद से साम्य रखता है। समानता से युक्त पद्यों का अर्द्धांश ऋग्वेद के दशम मण्डल में उपलब्ध है। अवशिष्ट अर्द्धांश ऋग्वेद के प्रथम तथा अष्टम मण्डल में उपलब्ध है।

अथर्ववेद की भाषा तथा छन्द प्रायः वही हैं, जो ऋग्वेद में हैं, किन्तु अथर्ववेद की भाषा में कई नये रूप भी देखे जाते हैं और इसके द्वन्द्वों का प्रयोग भी उतना कठोर नहीं है। कई मण्डलों में गद्य-पद्य का सन्निवेश है।

इस वेद की रचना ऋग्वेदोत्तर है, जैसा कि इसके वर्णनों से स्पष्ट है। इसमें आर्य के गंग-प्रदेश में बसने और दक्षिण की ओर प्रसार करने के उल्लेख उपलब्ध हैं। बंग प्रदेश के शेर को इसमें भयंकर पशु बताया गया है। राज्याभिषेक के समय सिंह चर्म पर राजा के पैर रखने का भी उल्लेख है। इसमें चारों वर्णों की स्थिति का वर्णन है।

अथर्ववेद में प्राप्त आभिचारिक (जादू-टोना) प्रयोगों के कारण बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में इसके अध्ययन का निषेध किया गया है। जादू-टोने के विरुद्ध मनुस्मृति आदि में भी कई उक्तियाँ हैं इसमें ब्राह्मणों द्वारा जादू-टोने का विरोध व्यक्त हुआ है। वेदों में अथर्ववेद की गणना न होने का भी यही कारण रहा होगा। बौद्ध ग्रन्थों में “वेदत्रयी” शब्द इसी प्रकार के पक्षपात का द्योतक है, क्योंकि इन सभी ग्रन्थों में अथर्ववेद के अस्तित्व के संकेत अवश्य मिलते हैं। इस वेद की रचना ऋग्वेदोत्तर है, किन्तु इसके कुछ सूक्त, जिनमें प्रागैतिहासिक लोकप्रिय जादू-टोने की भावपीठिका परिलक्षित है, ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्तों के समकालीन माने जा सकते हैं।

भैषज्यानि (सूक्त)— इन सूक्तों का आयुर्वेद शास्त्र का उद्गम कहा जा सकता है। इनमें रोगों के चिह्न दिये गये हैं। इससे रोग का निदान सरल हो जाता है। ज्वर उत्पत्ति अपकारक शक्तियों अर्थात् भूतप्रेतादि से मानकर इसे सुदूर समुद्रों तथा देशों की ओर चले जाने के लिए अभिलाषा की गई है। दन्तपीड़ा को कृमिजनित (कीड़ों के कारण उत्पन्न) बताना वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचालक है।

आयुष्यानि (सूक्त)— इन सूक्तों में स्तुतिकर्ता स्वयं तथा यजमान के लिए दीर्घ आयु (शतवर्ष), धन-समृद्धि तथा पशु-समृद्धि आदि की कामना करता है। इसमें आयुष्य-विरोधी शक्तियों को दूर करने की भी प्रार्थना है।

पौष्टिकानि (सूक्त)— इन सूक्तों में स्वास्थ्य-विषयक उद्भावनायें तथा कामनायें उपलब्ध हैं।

औद्वाहिक (सूक्त)— कुछ सूक्तों में वर-वधू की प्राप्ति, गर्भकामना, पुत्रकामना, भ्रूण रक्षा तथा सद्यः जात शिशु की रक्षा की अभिलाषा व्यक्त की गई है। जैसे— दशम मण्डल के तृतीय सूक्त में कवच (Amulet) की स्तुति करते हुए पापादि अपराधों के निवारण के साथ-साथ सभी रोगों की चिकित्सा भी चाही गई है।

राजा तथा पुरोहित का साहचर्य अनिवार्य था। राज्याभिषेक के समय राजा के ऊपर मन्त्राभिषिक्त जल छिड़कना तो पुरोहित का विशिष्ट कर्तव्य या एकाधिकार समझा गया था। याज्ञिक तथा आभिचारिक मंत्रों के उपयोग में दक्ष होना पुरोहित के लिए आवश्यक तथा वांछनीय था।

यज्ञ-विधान की दृष्टि से चार पुरोहित आवश्यक थे— (1) होता, (2) उद्गाता, (3) अध्वर्यु एवं (4) ब्रह्मा। होता ऋग्वेदीय ऋचाओं का पाठ करता था। इन ऋचाओं का संगीतात्मक लय में गायन करने का कार्य उद्गाता द्वारा सम्पन्न किया जाता था। अध्वर्यु गद्य-पद्यात्मक पाठ के साथ अग्नि में हवि देता था। तीनों के कार्य को ठीक तरह से सम्पन्न करवाने का दायित्व ब्रह्मा पर था। दक्षिण दिशा में बैठने वाले ब्रह्मा पर ही यज्ञ-कार्य की रक्षा का भार रहता था।

प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण हैं और उनके बतलाये जाने वाले विषय भी अपनी संहिता में विहित कर्मकाण्ड की विधियों के अनुसार पृथक्-पृथक् हैं। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं— ऐतरेय और कौषीतकि। कौषीतकि को शांखायन भी कहते हैं। यजुर्वेद के ब्राह्मणों में भी तैत्तिरीय ब्राह्मण व शतपथ ब्राह्मण उल्लेखनीय हैं। ‘शतपथ ब्राह्मण’ ऋग्वेद और अथर्ववेद के बाद वैदिक साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यज्ञों के विस्तृत वर्णन के साथ-साथ उसमें कई प्राचीन आख्यान तथा उस समय के सामाजिक व सांस्कृतिक तथ्य भी दिये गये हैं। सामवेद के तवलकार (जैमिनीय) व ताण्ड्य ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण अध्यायों में विभक्त होने के कारण ‘पंचविंश ब्राह्मण’ भी कहलाता है। छान्दोग्य ब्राह्मण में संस्कारों का विधान तथा देवताओं से सम्बद्ध स्तुतियों का निरूपण है। अथर्ववेद से सम्बद्ध ब्राह्मण ग्रन्थ “गोपथ” के नाम से विख्यात है। इसका मुख्य लक्ष्य अथर्ववेद की महिमा तथा यज्ञ में ‘ब्रह्मा’ नामक चौथे (होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा) ऋत्विज के महत्व का प्रतिपादन करना

है।

ब्राह्मणों की भाँति आरण्यक भी गद्य में लिखित हैं। “अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते” – अरण्य (वन) में पढ़ाए जाने के कारण वे आरण्यक कहलाते हैं।

अथर्ववेद में इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम आदि ऋग्वेदीय देवों की स्तुतियाँ भी हैं और धर्म, अध्यात्म, पाप, पुण्य आदि का दार्शनिक विवेचन भी है। भृगु, कश्यप, अंगिरस् आदि प्राचीन ऋषि भी हैं और बादरायण, गोपथ, उद्दालक आदि अनेक नवीनतम ऋषि भी हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने अथर्ववेद में विविध प्रकार के अभिचार मंत्रों का ही आधिक्य प्रतिपादित किया, किन्तु इस संहिता में आत्मज्ञान एवं ब्रह्मविद्या का अत्यन्त उत्कृष्ट विवेचन भी प्राप्त होता है। चिकित्सा, राजधर्म, विवाह, गृहस्थ जीवन, कृषि, वाणिज्य आदि अनेक विषयों पर अनेक सूक्त रचे गए हैं। अन्य वेदों में विषयों की यह विविधता अनुपलब्ध ही नहीं, अचिन्तनीय भी है।

अथर्ववेद में काण्डों के अनुसार प्रतिपाद्य विषय संक्षेप में इस प्रकार हैं। पहले काण्ड में पाशपोचन, शर्मप्राप्ति तथा विविध रोगों से छुटकारा पाने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले मंत्र हैं। दूसरे काण्ड में भी रोग निवृत्ति के साथ शत्रु एवं कृमिनाशन तथा दीर्घायुष्य सम्बन्धी मंत्र हैं। तीसरे काण्ड में राजकर्म से सम्बद्ध मंत्र हैं जिनमें शत्रुओं को परास्त करने की प्रार्थना के साथ राजा का संवरण, कृषि एवं पशुपालन के मंत्र हैं। चौथे काण्ड में ब्रह्मविद्या, ब्रह्मौदन, राज्याभिषेक आदि से सम्बद्ध मंत्र हैं। इसी में वृष्टि सूक्त (4/15) भी है जिसमें वृष्टि का बड़ा ही रमणीय तथा साहित्यिक वर्णन किया गया है। पाँचवाँ काण्ड कृत्यापरिहार, सर्पविषनाशन आदि मंत्रों से युक्त है। छठे काण्ड में विभिन्न ऋतुओं के ज्वर तथा बुरे स्वप्नों को नष्ट करने तथा अन्नसमृद्धि से सम्बद्ध मंत्र हैं। इस काण्ड में पति के वशीकरण निमित्त भी अनेक सूक्त हैं। सातवें तथा आठवें काण्ड में आत्मा, मणि तथा विराट् ब्रह्म से सम्बद्ध मंत्र प्राप्त होते हैं। नवें काण्ड में मधुविद्या, अतिथिसत्कार आदि के मंत्र हैं। दसवें काण्ड में कृत्या निवारण, सर्पविषनाशन तथा विराट् ब्रह्म के महत्व का वर्णन है। इसी काण्ड में प्रसिद्ध गोसूक्त (10/10) है जिसमें गौ जगत् की सर्वश्रेष्ठ तत्त्व के रूप में चित्रित की गई है तथा संसार के समस्त पदार्थों की जननी के रूप में गौ का वर्णन किया गया है। ग्यारहवें काण्ड में रुद्र, ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्मौदन का वर्णन है बारहवें काण्ड में भूमि के महत्व का वर्णन करने वाला पृथिवी सूक्त है जिसको पाश्चात्य एवं भारतीय सभी विद्वानों ने एक स्वर से अत्यन्त उदात्त, भावप्रवण तथा सरस माना है। इस सूक्त में मातृभूमि की कल्पना अत्यन्त मनोहर तथा चमत्कारिणी है। भूमि का सर्वांगीण रूप से इस सूक्त में उपस्थित किया गया है। ‘माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः’ यह उद्घोष पृथिवी को वात्सल्यमयी एवं पोषणकर्त्री माँ के रूप में हमारे नेत्रों के सम्मुख सजीव कर देता है। तेरहवाँ काण्ड अध्यात्मविषयक है। चौदहवें काण्ड में केवल दो ही लम्बे सूक्त हैं जिनमें प्रधानतया विवाहसंस्कार का वर्णन है। इसमें अनेक मंत्र ऋग्वेद के दशम मण्डल के विवाह सूक्त ग्रहण किए गए हैं। पन्द्रहवाँ काण्ड व्रात्य काण्ड है। इस काण्ड के दो अनुवाकों में 18 सूक्त हैं जिनमें अनेक गद्यात्मक मंत्र भी हैं। व्रात्य का सामान्य अर्थ है— द्विजकुल में जन्म लेने पर भी उपनयनादि संस्कार से रहित मनुष्य, जो आचार विचार से रहित हो और नियम श्रृंखला में बद्ध न हो। किन्तु अथर्ववेद के इस काण्ड में व्रात्य का लाक्षणिक अर्थ प्राप्त होता है। यहाँ व्रात्य का अर्थ है— ब्रह्म, क्योंकि यह ब्रह्म न तो संसार के नियमों में आबद्ध है और न ही कार्यकारण की भावना से ओतप्रोत है। इसी व्रात्य ब्रह्म के स्वरूप तथा उससे उत्पन्न सृष्टिक्रम का व्यवस्थित वर्णन इस पन्द्रहवें काण्ड में उपलब्ध होता है। सोलहवें काण्ड में दुस्वप्ननाशक मंत्रों का सुन्दर संग्रह है। सत्रहवें काण्ड में अभ्युदय के लिए भव्य प्रार्थना की गई है। अठारहवें काण्ड में पितृमेध सम्बन्धी मंत्र संकलित हैं, अतः यह श्राद्धकाण्ड कहलाता है। सामान्यतया इन मंत्रों को अन्त्येष्टि तथा पितृबलि से सम्बद्ध माना गया है। अन्तिम दोनो—उन्नीसवाँ तथा बीसवाँ—काण्ड खिल काण्ड रूप में प्रसिद्ध हैं अतः ये दोनों काण्ड मूल ग्रन्थ की रचना के बाद में जोड़े गए माने जाते हैं। दोनों काण्डों में मंत्रों की संख्या बहुत अधिक है। उन्नीसवें काण्ड में भैषज्य, राष्ट्रवृद्धि, यज्ञ, नक्षत्र, काल का महत्व आदि से सम्बद्ध मंत्र हैं, तथा बीसवें काण्ड में सोमयाग के लिए आवश्यक मंत्र एवं इन्द्र स्तुति है। इसी बीसवें काण्ड के अन्त में कुन्तापसूक्त है। ये संख्या में दस है (सूक्तसंख्या 127—136) इन सूक्तों के इस विशिष्ट

कुन्ताप नाम का अर्थ ही दुर्बोध्य है। ये सूक्त अथर्ववेद के मौलिक अंश हैं। इनके सम्बन्ध में मैक्डॉनल का विचार है कि “ये सूक्त ऋग्वेद की दानस्तुतियों की कोटि के हैं। इनमें दानी राजा और यजमानों की श्लाघा की गई है जो वीर राजन्य और भटों के पराक्रमों का वर्णन करने वाले वीर काव्यों के पुरोगामी कहे जा सकते हैं।

अथर्ववेद के बीसों काण्डों में प्राप्त सम्पूर्ण विषय सामग्री को त्रिविधा विभाजित किया जा सकता है।

1. अध्यात्मिक वर्णन – ब्रह्म, परमात्मा, आत्मज्ञान आदि विषयों के मंत्र।
2. आधिदैविक वर्णन – विभिन्न देवताओं की स्तुतियों और नाना यज्ञों से सम्बद्ध मंत्र।
3. आधिभौतिक वर्णन – राज्य, युद्ध, चातुर्वर्ण्य, विवाह आदि विषयों के मंत्र।

3.5 देवताओं का स्वरूप अग्नि :

अग्नि वैदिक देवताओं में सर्वाधिक प्रकाशित देवता है। उससे सम्बन्धित ऋग्वेद में 200 सूक्त हैं। प्रकाश अग्नि का मुख्य गुण है जब वह वन राशि में विचरण करता है तो धरा उसी प्रकार वृक्ष रहित होकर चिक्कण हो जाती है जैसे नापित के क्षौरयंत्र से पुरुष की दाढ़ी। उसका मार्ग काले वर्ण का है।

प्रकाशमान्, स्वर्ण चमक सुन्दर और चित्ररूप अश्वों से चलायमान रथ पर आरूढ़ होकर वह विचरण करता है। इसी रथ में बैठाकर वह देवों को यज्ञ में ले आता है। देवों और मनुजों के मध्य वह दौत्यकर्म किया करता है। वह देवों का मुख है, जिससे कि वे हुतांश का ग्रहण करते हैं। उसे ऋत्विक्, होता और पुरोहित कहा गया है। स्वरूप की त्रयात्मकता अग्नि एक अन्य विशेषता है। द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूलोक— इन तीनों लोकों में उसका जन्म होना, उसके तीन शीर्ष, तीन जिह्वयें, तीन शरीर, तीन प्रकार के प्रकाश और तीन आश्रय स्थान, दिन में तीन बार उसका जन्म, तीन बार आहुति स्वीकार करना आदि उक्त तथ्य के प्रत्यायक हैं।

अग्नि का अनेक देवताओं से अभिन्न सम्बन्ध है। ऋग् के द्वितीय मण्डल के प्रथम सूक्त में तो अग्नि को द्यु, इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति, वरुण, मित्र, अर्यमा, त्वष्टा, रुद्र और भग का समरूप बतलाया गया है। वह प्रातः काल मित्र है, मध्याह्न में इन्द्र और सायंकाल वरुण। इसी प्रकार उत्पत्तिकाल में वह वरुण और प्रज्ज्वलन—काल में मित्र। अन्तरिक्ष में वह सवितृ है और याज्ञिकों के लिए इन्द्र।

अग्नि जननी—जनक हैं। त्वष्टा, आपस् उषस् द्यावा—पृथिवी, इन्द्र—विष्णु अथवा इन्द्र को अग्नि का उद्भावक कहा गया है। वह अरणियों के घर्षण से उत्पन्न होता है। उसके जन्म—काल में दस क्वॉरी कन्यायें (सम्भवतः याज्ञिक की दश अंगुलियाँ) उपस्थित रहती हैं। अरणियों में से ऊपर वाली को पति और नीचे वाली को पत्नि कहा गया है। जिनके संयोग से बालक के समान अग्नि का आविर्भाव होता है, किन्तु विडम्बना यह है कि यह शिशु उत्पन्न होते ही अपने माता—पिता का भक्षण कर जाता है। स्मरण रहे कि अग्नि को कभी वृषभ, कभी अश्व, कभी पक्षी, कभी गरुड़, कभी हंस और एक स्थल पर तो संकुद्ध उग्र सर्प के रूप में भी अवकल्पित किया गया है।

चाहे जो भी हो, मानव—जीवन से जितना सम्बन्ध अग्नि का है, उतना किसी अन्य वैदिक देवता का नहीं। उसे ‘गृहपति’ कहा गया है। प्रत्येक घर में उसका निवास है। अग्नि ही मात्र एक ऐसा देवता है जो कि मरणधर्मा मनुष्यों के साथ रहता है। उसे प्रायः पूजक का पिता, माता, भ्राता तो कभी पुत्र भी कहा गया है।

इस प्रकार ‘पुरोहितत्व’ प्रधान गुण वाला अग्नि दूर करने वाला, साधुजन रक्षक और इस प्रकार सर्वोपरि देवता है। देव और मनुष्य दोनों ही उसके शासन को मानते हैं। वह अमरता का स्वामी है, जिसे वह अपने आराधकों को प्रदान करता है।

पाठयक्रम में सम्मिलित सूक्तानुसार ‘अग्नि’ का स्वरूप इस प्रकार है—

अग्नि का रूप— अग्नि प्रकाशमान् है। प्रकाशित होना ही उसकी शोभा है। वह अंगारमय है। इसीलिये उसका नाम ‘अगिरा’ है। उसका यह नाम ‘अगिरस’ ऋषि का जनक होने के कारण भी है। मान्यता है कि

प्रजापति की पुत्री शरीरधारिणी वाक् के यज्ञस्थल पर आ उपस्थित होने पर कामोत्पीड़ित सूर्य और वरुण को जो सद्यः रेतस्खलन हुआ, उसे वायु ने प्रवर्त्यमान यज्ञाग्नि में निक्षिप्त कर दिया, जिससे कि अग्नि—ज्वालाओं से तो 'भुगु' की और अंगारों से 'अंगिरस' ऋषि की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार अग्नि 'अंगिरस' ऋषि का जनक है।

अग्नि का वैशिष्ट्य — वह प्रशंसनीय कर्म अथवा प्रजा वाला है। उसकी कीर्तियाँ विविध प्रकार की हैं, यह यज्ञों का रक्षक और सत्य का प्रकाशक है। इसके अतिरिक्त वह सत्यभूत अथवा सत्यधर्मी है। आशय यह कि कर्म—फल वह अवश्य प्रदान करता है।

अग्नि का पुरोहितत्व — अग्नि का यज्ञ से अभिन्न सम्बन्ध है। उसे यज्ञ का दैवी ऋत्विक् कहा गया है। उसे सभी कार्यों में (विशेषतः धार्मिक अनुष्ठानों में) आगे किया जाता है अर्थात् अग्रगण्य बनाया जाता है, इसीलिये वह 'पुरोहित' है। यजमान के हित (= सर्वविध कल्याण) का ध्यान सबसे पूर्व रखने के कारण भी वह हमारा 'पुरोहित' है।

अग्नि का प्रकाश कर्म— वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है और इसीलिये वह रात्रि को प्रकाश—युक्त बना देने में समर्थ है। उसमें नैशान्धकारोच्छेदकता का गुण विद्यमान है।

अग्नि का होतृत्व— अग्नि 'होता' स्वरूप भी है। यजमान की सुख—समृद्धि और रक्षा आदि की दृष्टि से ही वह देवताओं का आह्वान करता है। इतना ही नहीं वह यज्ञ के भागी देवताओं को लेकर यजमान के यज्ञ में स्वयं आ उपस्थित होता है। उसके द्वारा देवताओं का यज्ञ में ले आया जाना अनेकधा उल्लिखित है।

यजमान का उपकारक— वह यज्ञकर्ता का सतत भला करने वाला और कल्याणकर्ता है। जो व्यक्ति अग्नि को आहुति प्रदान करता है, वह उसका कल्याण अवश्यमेव करता है, इसमें संदेह का कोई लेश भी नहीं है। अग्नि के माध्यम से याज्ञिक को धन, पुष्टि, यश और वीर पुत्र—पौत्रादिक का लाभ होता है। वह उत्तम धनादिक का प्रदान करने वाला है। जिस प्रकार एक पिता अपने पुत्र के लिये कल्याण भावना रखता है, उसी प्रकार अग्नि भी हमारा कल्याण करने वाला है। इसीलिये तो सभी मनुष्य अपने कल्याण हेतु उसके साहचर्य की कामना करते हैं।

अग्नि का साक्षिकर्म — जिस पूजाकर्म या हवनादिक यज्ञकर्म का साक्षी अग्नि होता है, केवल उसका ही फल देवताओं को पहुँचता है। अन्य का नहीं। इसीलिये प्रत्येक अनुष्ठान में साक्षिरूपेण अग्नि की प्रस्थापना सर्वप्रथम की जाती है।

अग्नि की पूजनीयता — उपर्युक्त अनेकविध गुणों के कारण अग्नि हमारी पूजा का पात्र है। वह त्रिकालवर्ती ऋषियों का पूज्य रहा है। पुरातनकालीन और अर्वाचीन ऋषिगण उसकी पूजा—प्रार्थना किया करते हैं। मनुष्यगण भी अग्नि को ही पूजते हैं।

विष्णु देवता — ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 154 वें सूक्त में विष्णु की स्तुति की गई है। प्रस्तुत सूक्त के अनुसार 6 ऋचाओं में विष्णु की स्तुति है। ऋग्वेद में यद्यपि इनका उतना महत्वपूर्ण वर्णन नहीं है जितना कि अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं का है। परन्तु आगे चलकर इन्होंने आर्य देवताओं में सबसे प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था।

जहाँ तक व्युत्पत्ति का सम्बन्ध है विष्णु शब्द 'विष्' धातु से बनता है जिसका अर्थ है— व्यापनशील होना। व्यापनशील होने से ये सूर्य के वाचक हुए जिसका अर्थ है— 'तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला।'

(1) **त्रिविक्रम** — विष्णु के लिए 'त्रिविक्रम' शब्द का प्रयोग भी हुआ है, इसका अर्थ है— तीनों लोकों में अपनी किरणों को फैलाने वाला। विष्णु द्वारा तीन पगों में ब्रह्माण्ड को नापने के महत्वपूर्ण कार्य का वर्णन ऋग्वेद में किया गया है—

“यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।।”

अर्थात् प्रस्तुत प्रकरण के आधार पर बलि दैत्य को विष्णु द्वारा छलने की पौराणिक कथा कल्पित हुई होगी। इस कथा के अनुसार विष्णु ने वामन का रूप बनाकर बलि दैत्य से तीन पाँव भूमि माँगी। उसने एक पैर में पृथ्वी को और दूसरे में अन्तरिक्ष को नापकर तीसरा पाँव बलि के सिर पर रखकर उसे पाताल में पहुँचा दिया। वस्तुतः त्रिविक्रम का अभिप्राय है कि सूर्य रूप विष्णु, पृथ्वीलोक, द्युलोक और अन्तरिक्षलोक में अपनी किरणों का प्रसार करते हैं तथा इनके प्रकाश में जरायुज, अण्डज और उद्भिज सभी प्रकार की सृष्टि अनुप्राणित होती है।

- (2) **उरुक्रम और उरुगाय**— विष्णु सूक्त के अन्तर्गत ऋषि द्वारो विष्णु को उरुक्रम और उरुगाय भी कहा गया है। 'उरुक्रम' शब्द का अर्थ है— महान शक्तिशाली एवं 'उरुगाय' शब्द का अर्थ है— अनेक प्राणियों से स्तुति किया जाने वाला अथवा विशाल कीर्ति वाला।
- (3) **जगतरक्षक** — विष्णु को संसार का रक्षक एवं अनन्त शक्ति सम्पन्न देवता कहा गया है। पाशविक शक्ति की अपेक्षा उनकी बौद्धिक शक्ति का अधिक प्रबल है। इसलिए वह सब देवताओं में सबसे अधिक चतुर माना जाता है।
- (4) **इन्द्र के साथ सम्बन्ध** — विष्णु को इन्द्र का छोटा भाई भी कहा गया है। विष्णु शब्द का अर्थ क्रियाशील भी है। यह सभी देवताओं में सबसे अधिक क्रियाशील है तथा उनकी सहायता करता है। वृत्र-वध के समय विष्णु ने इन्द्र का भरपूर सहयोग दिया था।
- (5) **परमपद अधिष्ठाता** — विष्णु को परम पद का अधिष्ठाता कहा गया है— 'वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि।' उनका परम पद उच्च लोक है जहाँ मधु का उत्स है और बड़े सींगों वाली गायें रहती हैं—
 - (1) 'विष्णोः' पदे परमे मध्व उत्सः।
 - (2) 'यत्र गावो भूरिश्रृंगा अयासः।
- (6) **गोलोकधारी**— 'पुराणों के अनुसार विष्णु लोक को गोलोक कहा गया है। विष्णु के अनन्य भक्त इस लोक को जाते हैं तथा उत्तम पदार्थों का भोग करते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार विष्णु वह शक्ति है, जो इन्द्रियों और आत्मा को उनके कर्मों के अनुसार नियुक्त करती है एवं फल देती है। इस प्रकार विष्णु शरीर का अधिष्ठातृ देवता है।

पाठ्यक्रम में संगृहीत सूक्तानुसार विष्णु का स्वरूप इस प्रकार है —

परम वीर्य शाली — विष् धातु से व्युत्पन्न विष्णु पद का शाब्दिक अर्थ 'गतिशील, क्रियाशील अथवा उद्यमशील' होता है। अपने बल-विक्रम के ही कारण वह लोगों द्वारा स्तुत होता है। वह अनन्त वीर्यवाला है। इस गुण के कारण ही उसे प्रतीक रूप में 'वृषभ' भी माना गया है।

भयोत्पादक — अपने वीर्य अथवा वीर कर्मों के कारण वह शत्रुओं के भय का कारण है। उससे लोग उसी प्रकार डरते रहते हैं, जिस प्रकार किसी पर्वतचारी सिंह से 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।' 'परमेश्वराद् भीति' आदि श्रुति-वचनों से सामान्य जनों का भी उससे भय करना सिद्ध हो जाता है। उससे भयभीत होना अकारण नहीं है। वह शत्रु-वध आदि हिंसाकर्म करने वाला है।

विस्तीर्ण गति वाला — विष्णु विस्तीर्ण, व्यापक और अद्वितीय गति वाला है। 'उरुगाय' और 'उरुक्रम' आदि पद इस तथ्य के समर्थक हैं। 'उरुगाय' का अर्थ 'महज्जनों द्वारा स्तूयमान' अथवा 'प्रभूततया स्तूयमान' करने से भी विष्णु की महिमा विखण्डित नहीं होती। इस पद का अर्थ 'विस्तीर्ण गति वाला' करने के लिये हम इस लिये आग्रहवान हैं, क्योंकि उसे 'सभी लोकों में संचरण करने वाला' कहा गया है। उसके पद क्रम इतने सुदीर्घ होते हैं कि वह अपने तीन पाद-प्रक्षेपों से ही तीनों लोकों को नाप लेता है।

तीन पाद-प्रक्षेप— विष्णु के तीन पाद प्रक्षेपों का अनेक उल्लेख मिला है। सम्भवतः यह उसकी सबसे

बड़ी विशेषता है। उसके तीन पद—क्रम मधु से परिपूर्ण कहे गये हैं, यस्य त्रीपूर्णा मधुना पदानि। जो कभी भी क्षीण नहीं होते। उसके तीन पद क्रम इतने विस्तृत हैं कि उनमें सम्पूर्ण लोक विद्यमान रहते हैं (अथवा तदाश्रित रहते हैं)। 'त्रेधा विचक्रमाणः' भी प्रकारान्तर से उसके तीन पाद—प्रक्षेपों को ध्वनित करता है।

लोकोपकारक — विष्णु के तीन पद सृष्टि करते हैं, प्रतिष्ठापन, स्थापन करते हैं, धारण करते हैं तो वहीं पर वे आश्रित जनों का पालन—पोषण भी किया करते हैं। लोगों को अपना भोग्य अन्नादि उन्हीं तीन पद—क्रमों के प्रसादस्वरूप प्राप्त होता है, जिससे कि वे परम तृप्ति का अनुभव किया करते हैं। जो लोग विष्णु की स्तुति करते हैं, उनका वह सर्व प्रकार से कल्याण करता है, क्योंकि उनके यज्ञ स्तवनादि कर्म से उसे परम स्फूर्ति मिलती है। इस प्रकार स्फूर्ति—प्रदायिनी स्तुति विष्णु तक पहुंचा पाने के लिये सभी लालायित रहते हैं।

त्रयात्मकता — विष्णु के गुणों में भी त्रयात्मकता परिलक्षित होती है। वह तीन पद—क्रम वाला, तीन प्रकार की गति करने वाला, तीनों लोकों को नाप लेने वाला और लोकत्रय का धारक है। इसी प्रकार वह 'त्रिधातु अर्थात् सत्व, रज और तम का समीकृत रूप अथवा पृथ्वी, जल और तेज से युक्त भी है। य उ त्रिधातु पृथ्वीमुत द्याम्।'

सृष्टा और धारक — ऋग्वेद के देवता विष्णु पार्थिव लोकों का निर्माण और परम विस्तृत अन्तरिक्ष आदि लोकों का प्रस्तापन करने वाला है। वह स्वनिर्मित लोकों में तीन प्रकार की गति करने वाला है। उसकी ये तीन गतियाँ उद्भव, स्थिति और विलय की प्रतीक हैं। इस प्रकार जड़—जंगम सभी का वह निर्माता भी है, पालक भी और विनाश करने वाला भी। वह लोकत्रय का अकेला धारक है। वह अपने तीन पाद—प्रक्षेपों से अकेला ही तीनों लोकों को नाप लेता है। लोकत्रय को नाप लेने से भी यह फलित होता है कि लोकत्रय अर्थात् वहाँ के समग्र प्राणी उसके पूर्ण नियंत्रण में है।

विष्णु का प्रिय लोक — वैसे तो विष्णु को प्राणी में (गिरा में) निवास करने वाला भी माना जाता है, किन्तु उसका परम प्रिय आवास स्थल ऋग्वेद में बहुचर्चित है। 'गिरि' पद को लाक्षणिक रूप में 'पर्वत के समान उन्नत लोक' के अर्थ में यदि स्वीकृत कर लिया जाय तो समस्या का समाधान हो जाता है।

विष्णु का लोक 'परम पद' है अर्थात् गन्तव्य रूपेण वह सर्वोत्कृष्ट लोक है। उस 'परम पद' की विशेषता यह है कि वह अत्यधिक प्रकाश से युक्त है। वहाँ अनेक सींगों वाली गायें (अथवा किरणें) संचरण किया करती है। 'गावः' का अर्थ 'गायें' करने पर वहाँ दुग्ध—घृतादि भोज्यजात का प्राचुर्य एवं 'किरणें', करने पर वहाँ प्रकाश का बाहुल्य अनुमति किया जा सकता है।

विष्णु के 'परम पद' में मधु का स्थायी उत्स (= स्रोत) है। यह 'मधु' दिव्य अमृत भी हो सकता है, मधु नामक अवलेह पदार्थ भी और मधुर गुण भी। सर्वत्र सुस्वाद और तृप्ति का भाव प्राप्त होता है। इन गुणों से युक्त है। वह लोक पुण्यशाली लोग वहाँ तृप्ति का अनुभव करते हुये उल्लिखित भी है।

विष्णु के लोक में उसका सहचारी 'इन्द्र' भी सम्भवतः निवास करता है, जिसे एक स्थल पर 'वां' वास्तूनी के साक्ष्य पर कल्पित किया जा सकता है। ऐसे उक्त लोक की प्राप्ति की कामना सभी करते हैं।

कुल मिला कर कहा जा सकता है कि विष्णु हमारा परम हितैषी है।

इन्द्र का स्वरूप — ऋग्वेद में देवता स्तुति मुख्य प्रतिपाद्य है इन्द्र वैदिक भारतीयों के प्रिय राष्ट्रीय देवता हैं। ऋग्वेद के लगभग 250 सूक्तों में इनकी महानता की ख्याति है। यह संख्या ऋग्वेद के समस्त सूक्तों की भी लगभग चतुर्थ भाग है। किसी प्राकृतिक घटना का वाचक न होने के कारण इन्द्र का व्यक्तित्व अत्यधिक मूर्तिकृत हो गया है। यह प्रमुखतः आकाशीय गर्जन का (वर्षा का) देवता है। अवर्षण अथवा अंधकार के दैत्यों पर विजय तथा उसके फलस्वरूप जल की मुक्ति अर्थात् वर्षा इनके पुराकथा शास्त्रीय सार तत्व का निर्माण करता है। दूसरे स्तर पर इन्द्र युद्ध के देवता हैं जो आदिवासियों पर विजय प्राप्त करने में विजेता आर्यों की सहायता करते हैं।

दैहिक गुण — वज्रहस्त इन्द्र मध्य स्थान अर्थात् अन्तरिक्ष के प्रमुख देवता हैं। इसके अनेक दैहिक गुणों का उल्लेख है। इनके एक शरीर है, सिर तथा भुजाएँ हैं। सोमपान करने की इनकी शक्ति के संदर्भ में इनके पेट का भी प्रायः उल्लेख है। सोम से भरा होने पर इनके पेट की तुलना झील से की गई है। इन्द्र को 'सुशिप्र' कहा गया है, अर्थात् 'शोभन हनु वाला' इस विशेषण से इन्द्र द्वारा प्रतिदिन दाढ़ी बनाने का संकेत प्राप्त होता है। कभी-कभी इन्द्र को दाढ़ी रखने का शौक लग जाता था और वह 'बभ्रु' कहलाता था। वज्र धारण किये हुए इनकी भुजाओं का विशेषतः उल्लेख मिलता है। इन्द्र की भुजाएँ लम्बी, दूर तक फैलने वाली, विशाल, शक्तिशाली और सुदृढ़ हैं।

इन्द्र का अस्त्र — वज्र अनन्यतः केवल इन्द्र का ही अस्त्र है। यह वज्र बिजली गिरने का ही शास्त्रीय नाम प्रतीत होता है।

सोमपान की रूचि — यद्यपि सामान्य रूप से सभी देव सोम के प्रेमी हैं, तथापि इन्द्र इसके सर्वप्रमुख व्यसनी हैं। यह देवों और मनुष्यों में सबसे ज्यादा सोमपान करने वाले हैं। इन्द्र का प्रिय पोषक पेय सोम है। 'सोमपा' बहुप्रयुक्त उपाधि इन्हीं की विशिष्टता है, कभी-कभी यह कहा गया है कि सोम इन्द्र को महानतम दिव्य कार्य जैसे पृथ्वी और आकाश को धारण अथवा पृथ्वी का विस्तारण आदि करने की उत्तेजना प्रदान करता है।

दुर्जय योद्धा — प्रायः इन्द्र के जन्म लेने का भी उल्लेख है। जन्म लेते ही यह एक योद्धा बन गया, यह जन्म से ही दुर्जय है, इनके जन्म लेने पर दृढ़ पर्वत, आकाश और पृथ्वी डर से प्रकम्पित हो उठते हैं, इनके जन्म के समय आकाश और पृथ्वी इनके क्रोध से भयभीत होकर काँपने लगे और सभी देवता इनसे भयभीत हुए, इन्द्र को अन्य देवताओं के साथ सम्बद्ध किया गया है, अग्नि के साथ इन्द्र को एक युगल देव के रूप में किसी भी अन्य देव की अपेक्षा कहीं अधिक बार संयुक्त किया गया है, यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि विद्युत भी अग्नि का ही एक रूप है। यह भी कहा गया है कि इन्द्र ने दो पत्थरों के बीच से रगड़ से अग्नि को उत्पन्न किया।

इन्द्र की महानता — इन्द्र की महानता और शक्ति की अत्यन्त उन्मुक्त रूप से प्रशंसा की गई है। जन्म ले चुके अथवा जन्म लेने वालों में से कोई भी इनके समान नहीं है, किसी भी ऐसे व्यक्ति ने चाहे वह दिव्य हो अथवा पार्थिव, न तो जन्म लिया और न जन्म लेगा, जो इनके बराबर हो। देवता अथवा मनुष्य कोई भी न तो इनके बराबर है और न इनसे अधिक। न तो प्राचीन इनके बाद के और न अर्वाचीन प्राणी ही इनके शौर्य की समता कर सकते हैं, न तो देव, न मनुष्य और न जल ही इनके पराक्रम की सीमा तक पहुँच सकते हैं, इनके समान देवों में भी कोई नहीं। कोई भी जन्म लेने वाला, भूत अथवा वर्तमान, इनकी समानता नहीं कर सकता है।

चराचर जगत् के अधिपति — इन्द्र देवों में भी अति श्रेष्ठ हैं। शक्ति और पराक्रम में सभी देव इनसे कम हैं। देवता भी अन्य दिव्य वैभव और राजकीय प्रतिष्ठा में अपने को हीन मानते थे। सभी देव इनके कृत्य और इच्छाओं की विफल करने में असमर्थ हैं। यहाँ तक कि वरुण और सूर्य भी इनके आदेशों के अधीनस्थ हैं। घोड़े, गाय, गाँव और रथ जिसकी आज्ञा में हैं, जिसने सूर्य और उषा को उत्पन्न किया है, जो जल का नेता है, वह इन्द्र है —

“यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामाः यस्य विश्वे रथासः।

यः सूर्यं यः उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः।।”

विजय दिलाने वाले — ऋग्वेद में मित्र, अर्यमन् और वरुण के शत्रुओं को विनष्ट करने के लिए इन्द्र का स्तुतिपरक गान किया गया है और यह कहा गया है कि युद्ध द्वारा इन्होंने देवों के लिये पर्याप्त स्थान अर्जित किया। केवल इन्द्र ही समस्त संसार में सम्राट् हैं। ये सभी जंगम व जीवित प्राणियों के अधिपति हैं। ये सभी गतिशील और देखने वाले प्राणियों के नेत्र हैं। यह मानव और दिव्य जाति के लोगों के नायक हैं।

असुर एवं शक्र की उपाधि — इन्द्र को अनेक बार एक सार्वभौमिक सम्राट तथा अपेक्षाकृत और अधिक बार आत्मनिर्भर, सर्वसत्तासम्पन्न राजा कहा गया है। यह भी कहा गया है कि प्राचीन द्रष्टा के रूप में

अपने पराक्रम से यह अकेले ही शासन करते हैं। कुछ बार इनके लिए “असुर” उपाधि का भी प्रयोग किया गया है। अभिव्यक्ति शक्ति से अनेक चारित्रिक गुणों से इन्द्र को सम्पन्न बताया गया है। ‘शक्र’ का इन्द्र के लिए 35 बार तथा अन्य देवों के लिए केवल 5 बार ही प्रयोग किया गया है।

इन्द्र और वृत्र — सोमपा इन्द्र के व्यक्तिगत गुणों और चरित्र का निरूपण कर लेने के पश्चात् अब हम उस महान् पुराकथा का अध्ययन करेंगे, जो इनकी प्रकृति का आधार है। सोमपान से उल्लसित और सामान्यतया मरुतों द्वारा रक्षित होकर इन्द्र अवर्षण के उस प्रमुख दैत्य पर आक्रमण करता है, जिसे बहुधा अवरोधक “वृत्र” और प्रायः “अहि” अर्थात् सर्प भी कहा गया है। इनका यह युद्ध अत्यन्त भयंकर है। आकाश और पृथ्वी भी उस समय भय से प्रकम्पित हो उठते हैं, जबकि इन्द्र अपने वज्र से वृत्र पर प्रहार करता है। इसने अपने वज्र से जल को रोक रखने वाले वृत्र को मारा अथवा उस दैत्य का वध किया जो जल के चारों ओर शयन कर रहा था। इसने जल में छिपे और आकाश को अवरुद्ध करने वाले दैत्य का वध किया इसीलिए “अप्सु जित्” एकमात्र इन्द्र का गुण कहा गया है।

इन्द्र और जल वर्षा — अनेक उषाओं और शरद् ऋतुओं में इन्द्र ने वृत्र का वध करके जल धाराओं को प्रवाहित किया है। इन्द्र पर्वतों को तोड़कर जल-धाराओं को प्रवाहित करते हैं, और “दानव” का वध करते हैं। वृत्र के साथ युद्ध और जलों को मुक्त करने का संदर्भ, ऋग्वेद में अत्यधिक बार मिलता है। स्थिर प्रकार के लाक्षणिक शब्दों जैसे वज्र, पर्वत, आप अथवा नदियों द्वारा प्राकृतिक घटनाओं का प्रायः सदैव संकेत मिलता है, जबकि विद्युत् आकाशीय गर्जन वर्षा का कदाचित ही प्रत्यक्ष से नामकरण किया गया है। प्रवाहित कराई गई नदियाँ निः संदेह पार्थिव ही है, किन्तु इस पर भी संदेह नहीं किया जा सकता कि ऋग्वेद में जल और नदियों को दिव्य या अन्तरिक्षीय होने की कल्पना की गई है।

आर्यों के सहायक — इन्द्र ही सूर्य तथा साथ ही साथ उषा को उत्पन्न करते हैं। यहाँ कहा गया है कि इन्द्र ने कम्पित होने वाले पर्वतों तथा भूमि को दृढ़ किया। इन्द्र ने उन पर्वतों के पंख काट दिये जो पहले जहाँ कहीं चाहते थे उतर जाते थे और इस प्रकार पृथ्वी को अस्थिर बना रखा था। ये आकाश और पृथ्वी को उत्पन्न करने वाले हैं। वज्र धारण करने वाले इन्द्र का, जो युद्ध में अन्तरिक्षीय दैत्यों का वध करते हैं, योद्धाओं द्वारा नित्य ही आवाहन किया जाता है। अपने पार्थिव शत्रुओं के साथ संघर्ष करते समय आर्यों ने अपनी सहायता के लिए युद्ध के महान् देवता के रूप में इन्द्र का भी अन्य देवताओं की अपेक्षा कहीं अधिक वार आह्वान किया है।

इन्द्र की अनुपम कृपा — इन्द्र आर्यों के वर्ण की रक्षा करते हैं और काली त्वचा पर आधिपत्य करते हैं। इन्होंने दस्युओं के ठिकानों को विनष्ट करके उनको आर्यों के अधीनस्थ किया, अधिक सामान्य रूप से इन्द्र को एक सहानुभूतिपूर्ण सहायक, ‘अपने स्तोताओं का मुक्तिदाता व समर्थक, उनकी शक्ति और सुरक्षा की दीवार आदि के रूप में व्यक्त किया गया है इन्द्र के मित्र का न कभी वध हो सकता है और न वह कभी विजित ही हो सकता है। प्रायः इन्द्र को उनके स्तोताओं का मित्र कहा गया है। इन्द्र उस व्यक्ति से मित्रता करने की इच्छा नहीं रखते, जो स्तुति नहीं करता। किन्तु यह पवित्र व्यक्तियों को धन-धान्य से समृद्ध करते हैं और इसलिए भी इनकी स्तुति की गई है कि अन्य स्तोताओं द्वारा इनका ध्यान दूसरी ओर चला न जाये। सभी व्यक्ति इनके उपकारों से लाभान्वित होते हैं।

समृद्धि व उदारता के कोष — इन्द्र के दोनों हाथ धन से परिपूर्ण हैं। यह समृद्धि के सागर हैं। समृद्धि के सभी पथ इनकी ओर उसी प्रकार अग्रसर होते हैं, जिस प्रकार नदियाँ समुद्र की ओर। उदारता इनके चरित्र की इतनी अधिक विशिष्टता मानी गई है कि ‘मधुवन’ होने का बहुप्रयुक्त गुण ऋग्वेद में केवल इनके लिए ही प्रयुक्त हुआ है। वैदिकोत्तर साहित्य में भी यह एकमात्र इन्हीं की उपाधि है। वसुपति (धन के अधिपति) उपाधि भी प्रमुखतः इन्द्र के लिए ही व्यवहृत हुई है।

उपसंहार — उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि इन्द्र के गुणों में प्रमुखतः भौतिक संसार का प्रभुत्व

और प्राकृतिक श्रेष्ठता का भाव लक्षित होता है। सक्रिय कृत्य इनकी विशेषता है। इन्द्र एक सार्वभौमिक सम्राट हैं, जो न तो विश्व के चिरन्तन नियम के प्रयोगकर्ता के रूप में और न एक नैतिक शासक के रूप में, वरन् एक ऐसे योद्धा के रूप में, जिनका शक्तिशाली हाथ विजय अर्जित करता है, जिनकी अक्षय उदारता मानवता में श्रेष्ठतम समृद्धियाँ प्रदान करती हैं और जो उल्लासप्रद महान् सोमयज्ञों में आनन्द का अनुभव करते हैं। स्तुतियों को सम्पन्न करने वाले पुरोहित वर्ग पर समृद्धि की वर्षा करते हैं। इन्द्र की व्युत्पत्ति संदिग्ध है, किन्तु इसके धातु का 'इन्द्र' से सम्बद्ध होना सम्भव प्रतीत होता है।

हिरण्यगर्भ— ऋग्वेद के देवी-देवताओं के विषय में अध्ययन यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें एक परमात्मा का वर्णन ही अभीष्ट था, जिसके विविध नाम, रूप और क्रियायें हैं। देवताओं की विविधता होने पर भी ऋग्वेद में एकेश्वरवाद ही प्रतिष्ठित है, बहुदेवत्ववाद नहीं, क्योंकि प्रायः प्रत्येक देवता को समान गुणोपेत बतलाया गया है। (हिरण्यगर्भ) प्रजापति भी ऐसा ही एक देवता है।

प्रजापति का आविर्भाव — युगान्त में सुविस्तृत जलराशि सम्पूर्ण सृष्टि को समावृत कर लेती है, तब उसी में बीजरूपेण स्थित तथा देवताओं के प्राणस्वरूप 'प्रजापति' का नूतन-सृष्टि-सम्पादनार्थ आविर्भाव होता है। सृष्टि के पूर्व उसकी विद्यमानता— 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इस उल्लेख में द्योतित होती है। 'अग्रे' का अर्थ 'सृष्टि' में सर्वप्रथम करने पर भी उसकी सापेक्ष प्राग्भाविता पर आंच नहीं आती। वह कम से कम सृष्टि में समुत्पन्न तत्त्व तो है ही।

उत्पादकत्व — प्रजापति ही सम्पूर्ण सृष्टि का उत्पादक है। एक स्थल पर कहा गया है कि प्रजापति ने अपनी महिमा से सर्वतः व्याप्त अप्रकृत सलिल (= प्रलयकालिक जलराशि) को इस योग्य बना दिया कि वह सृष्टि रूपेण वर्धिष्णु दक्षप्रजापति को गर्भवत् धारण करे और सृष्टि-समुत्पादिका ऊष्मारूपी अग्नि को उत्पन्न करें। ईश्वररूपी प्रजापति के कामनारूपी रेतस् के बिना सृष्टि की आधारभूता उक्त जलराशि का भी उद्भव ईश्वर-स्वरूप वह प्रजापति ही है। वह जड़ और चेतन उभयविध जगत् का निर्माता है। पर्वत, समुद्र और नदियों को उसकी महिमा बतलाने का मूल प्रयोजन उन पर उसके कर्तृत्व सामर्थ्य को उद्भासित करना ही है। उसे 'आत्मदा' कह कर यह प्रख्यापित किया गया है कि वह विविधरूप आत्माओं का जनक अथवा उन्हें गति प्रदान करने वाला है। बिना स्फुरण और गति के जीवजगत् भी तो जड़ जगत् ही रहेगा। इसलिये प्रजापति को 'बलदा' कह कर उक्त संदेह की स्थिति का निराकरण कर दिया गया है।

जड़ और जीव उभयविध जगत् के आधारभूत लोकों का निर्माता भी, प्रजापति ही है। जिसने पृथ्वी को भी बनाया है और द्युलोक को भी। इसी बात का अधिक विस्तारपूर्वक अन्यत्र इस प्रकार कहा गया है कि 'उसने द्युलोक एवं सम्पूर्ण पृथ्वी को दृढ़ बनाया है, स्वर्गलोक ओर नाकलोक को स्तब्ध बनाया है तथा शून्य में अयनगति करने वाले अन्य अनेक लोकों को निर्मित किया है अथवा उन्हें भली प्रकार नाप लिया है।

व्यापकत्व और धारकत्व — ईश्वररूप प्रजापति सब में व्याप्त हैं। स्वनिर्मित लोकों में उसका व्यापकत्व स्वतः सिद्ध है। वर्तमान जगत् ही नहीं भूत जगत् को भी उसने व्याप्त कर रखा है। यह सामर्थ्य केवल उसमें है, किसी अन्य देवता में नहीं। उसके द्वारा द्युलोक और पृथिवी लोक के दृढ़ बनाये जाने एवं स्वर्गलोक तथा नाकलोक के स्थिर बनाये जाने के उपर्युक्त उल्लेख से भी उसकी धारिका शक्ति संकेतित होती है। एक स्थल पर उसे स्पष्टतः पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक का धारक कहा गया है। वह सूर्य का भी आधार है। उसे आधार बना कर ही सूर्य उदित होता है और प्रकाश फैलाता है।

अधिपतित्व — प्रजापति प्राणधारियों का एक मात्र अधिपति है वह मनुष्यादि द्विपद एवं अश्वादि चतुष्पद जीवों का स्वामी है। प्राणियों के जन्म और मृत्यु दोनों ही उसके अधिकार में है। मनुष्य तो क्या देवता भी उसके शासन को मानते हैं। उसका प्रभाव इतना है कि द्युलोक और पृथ्वीलोक के निवासी मन ही मन उससे काँपते रहते हैं। देहधारियों, देवताओं और विविध लोकों पर ही उसका आधिपत्य नहीं है, वह दिशाओं और विदिशाओं का भी स्वामी है। प्रस्तुत सूक्तगत प्रथम मंत्र की यह प्रतिज्ञा ही उसके प्रभुत्व का उद्घोष करती है कि 'वह सम्पूर्ण

समुत्पन्न सृष्टि का एक मात्र अधिपति था।

पूजनीयता — प्रजापति सबके लिये पूजार्ह है। हम बाधाओं से मुक्ति हेतु, कामनाओं की पूर्ति के लिये और धन-समृद्धि के लाभार्थ उसकी प्रार्थना-अर्चना करते हैं। देखा जाय तो सभी देवताओं के मध्य केवल वह ही हमारी यज्ञाहुति का अधिकारी है।

पुरुष देवता — पुरुष सृष्टि की मूल रचना करने वाला है। उसके सभी अंग सृष्टि के विभिन्न अंग बन जाते हैं। सृष्टि की रचना एक यज्ञ का रूप है, जिसमें पुरुष की बलि दी जाती है। पुरुष सूक्त में पुरुष के विराट् स्वरूप का वर्णन किया गया है। भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय के विराट् स्वरूप वर्णन पर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। सांख्य के पुरुषबहुत्व सिद्धान्त का मूल भी पुरुष सूक्त ही माना जा सकता है।

कुछ विद्वानों की अवधारणा यह है कि पुरुषसूक्त की रचना अर्वाचीन है क्योंकि इसमें एक पुरुष की उपासना की गई है तथा एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया गया है। सांख्य में जिस पुरुष की अवधारणा है वह भी उत्तर वैदिक काल की प्रतीत होती है, अतः पाश्चात्य विद्वान यह मानते हैं कि दशम मण्डल का कुछ अंश बाद में रचा गया हो।

वह परम पुरुष विराट् हजारों सिरों, आँखों तथा पैरों वाला है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त किये हुए है। यथा —

“सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।”

वही परम पुरुष वर्तमान, भूत एवं भविष्यत् कालीन जगत् है और वही देवताओं का स्वामी है। यह कालत्रयवर्ती समग्र जगत् उस परम पुरुष की महिमा मात्र है, इसका स्वरूप नहीं। समग्र जगत् इसका केवल चौथाई अंश है। तीन-चौथाई रूप में यह स्वयं अविनाशी रूप से स्वप्रकाश रूप में अवस्थित रहते हैं। यह जगत् से ऊपर उठा हुआ है अर्थात् वह परम पुरुष विश्व के गुण-दोषों से रहित है। इसके एक-चौथाई अंश से सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय होते रहते हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के बाद यही पुरुष चेतन-अचेतन जगत् को लक्ष्य करके विविध रूपों में व्याप्त रहता है। यथा—

“त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।

ततो विष्वङ्कामत् साशनानशने अभि।।

पुरुष देवता से ही ब्रह्माण्ड देह, व्यक्त जगत्, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि उत्पन्न हुए। ये सभी उसी पुरुष से व्याप्त हैं। उस परम पुरुष को हवि बनाकर देवताओं ने सृष्टि की उत्पत्ति हेतु मानसिक यज्ञ किया अर्थात् सृष्टि की रचना आरम्भ की। जिनसे वसन्त आदि ऋतुएँ उत्पन्न हुईं। परम पुरुष को ही आत्मरूप में आहूत कर सृष्टि का विकास प्रारम्भ हुआ, जिससे पक्षी, पशु, अश्व, गौ आदि तथा ऋग्, यजुष्, साम आदि वेद व छन्द उत्पन्न हुए। यथा —

“तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दासि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।।”

चारों वर्ण इस पुरुष के चार अंग हैं। परम पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। यथा—

“ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत।।”

उसी परम पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य, मुख से इन्द्र और अग्नि तथा प्राण से वायु उत्पन्न हुए। यथा—

“चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।

मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ।।”

उस प्रजापति रूप परम पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष लोक बना, सिर से द्युलोक, दोनों पैरों से भूमि और कानों से दिशाये उत्पन्न हुई। यथा—

“नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।

पदभ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोका अकल्पयन् ।।”

सृष्टि उत्पत्ति रूप मानस यज्ञ का सम्पादन करते हुए जब देवताओं ने विराट् पुरुष रूपी पशु को बाँधा तो इस यज्ञ की सात परिधियाँ और इक्कीस समिधायें बनाई गई, अर्थात् उस परम पुरुष से ही ये सप्त परिधियाँ व इक्कीस समिधायें उत्पन्न हुई।

स्वर्ग या नरक की प्राप्ति इस पुरुष रूप यज्ञ द्वारा होती है। पुरुष सूक्त के अनुसार भौतिक जगत् वृक्ष, पशु, तृण, सूर्य, चन्द्र इत्यादि की सृष्टि मनुष्य की सृष्टि से पहले हुई। इस परम पुरुष ने एक चरण से पृथिवी लोक की रचना की तथा तीन चरणों को ऊपर रखा। ऋषियों द्वारा इस पुरुष यज्ञ का विस्तार हुआ था अतः यज्ञवाद के प्रवर्तक रूप में भी पुरुष का महत्व गाया गया है—

“यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।”

पुरुष सूक्त का रहस्य यही है कि पुरुष रूप आत्मा के ज्ञान से अपना जीवन सफल बनाना चाहिए।

3.6 सारांश —

ऋग्वेद ऋचाओं अर्थात् मंत्रों का संग्रह है। ऋचाओं से स्तुति की जाती है, और जिसकी स्तुति हो उसे देवता कहा जाता है। इस प्रकार ऋग्वेद में मुख्य रूप से देवताओं के स्तुतिपरक मंत्र संकलित हैं। किन्तु केवल स्तुतिपरक मंत्र ही है, ऐसी बात भी नहीं है। ब्रह्मविद्या, धार्मिक विचार, व्यवहार सम्बन्धी अनेक मंत्र भी इसमें पाए जाते हैं। इसके साथ-साथ दार्शनिक सूक्त भी पाए जाते हैं। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक दशा का ज्ञान कराने वाले मंत्र भी इनमें समाहित हैं। संवाद-सूक्त ऋग्वेद की अपनी विशेषता है। जन-जीवन के चित्रों को प्रस्तुत करने वाले 40 सूक्त भी ऋग्वेद में पाए जाते हैं।

इस प्रकार विवेचन करने पर हम निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि अथर्ववेद में भौतिक तत्त्वों का प्राधान्य है। जबकि ऋग्वेद में आध्यात्मिक एवं आधिदैविक। यदि दोनों वेदों का एक साथ अध्ययन करे तो दोनों ही परस्पर पूरक प्रतीत होते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जन जीवन है तो ऋग्वेद का विशिष्ट जन।

3.7 बोध प्रश्न —

- (1) ऋग्वेद की विषयवस्तु लिखिए।
- (2) ऋग्वेद के सूक्तों की श्रेणियाँ कौन-कौनसी हैं?
- (3) यजुर्वेद की दो शाखाएँ कौन-कौन सी हैं।
- (4) यजुर्वेद की विषय वस्तु लिखिए।
- (5) यजुर्वेद में किसका संग्रह है?
- (6) यज्ञ विज्ञान के चार पुरोहित कौन-कौन से हैं?
- (7) अथर्ववेद का प्राचीनतम नाम क्या था?

- (8) अथर्ववेद की विषय वस्तु का प्रतिपादन कीजिये।
- (9) अग्नि एवं इन्द्र का स्वरूप लिखिये।
- (10) पुरुष एवं विष्णु के स्वरूप का विवेचन कीजिये।

3.8 उपयोगी पुस्तकें –

- (1) वेद चयनम्।
- (2) न्यू वैदिक सलेक्शन – तैलंग एण्ड चौबे
- (3) संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्यय
- (4) संस्कृत साहित्य का इतिहास (वैदिक खण्ड)– डॉ. प्रीतिप्रभा गोयल

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर –

- (1) देखिये – 3.3
- (2) देखिये – 3.3
- (3) देखिये – 3.4
- (4) देखिये – 3.4
- (5) देखिये – 3.4
- (6) देखिये – 3.5
- (7) देखिये – 3.5
- (8) देखिये – 3.5
- (9) देखिये – 3.6
- (10) देखिये – 3.6

उपनिषद् : कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय : प्रथमवल्ली (संस्कृत-व्याख्या)

इकाई की रूपरेखा

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 मंत्रों की संस्कृत व्याख्या
- 4.3 सारांश
- 4.4 विशिष्ट शब्दावली
- 4.5 बोध प्रश्न
- 4.6 उपयोगी पुस्तकें
- 4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

1. शिक्षार्थियों को उपनिषदों से परिचित कराना।
2. शिक्षार्थियों को कठोपनिषद् में निहित ज्ञान राशि से अवगत कराना।
3. मंत्रों में निहित आत्म तत्त्व की जानकारी कराना।

4.1 प्रस्तावना – उपनिषद् का महत्व

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को चार प्रकार से विभाजित किया गया है— संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्। इन चारों में 'ज्ञान-काण्ड' के नाम से उपनिषदों का विशिष्ट महत्व है।

भारतीय अध्यात्म चिन्तन का प्रमुख स्रोत उपनिषद् ही है। ब्रह्म विद्या का प्रतिपादन वेद के जिस अत्युच्च शिरोभाग में किया गया है उसी का नाम 'उपनिषद्' है। इन्हीं उपनिषदों के मंत्रों का समन्वय तथा इनकी मीमांसा भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्म सूत्र में की है तथा इन्हीं उपनिषद् रूपी गौओं से भगवान् श्रीकृष्ण ने सुधी भोक्ताओं के लिये गीतामृत रूपी दुग्ध का दोहन किया था— "सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।" यही कारण है कि उपनिषद् ब्रह्म सूत्र तथा श्रीमद् भगवद्गीता 'प्रस्थानत्रयी' कहलाते हैं।

4.2 मंत्रों की संस्कृत में व्याख्या –

ओ३म् सह नावतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहे।

तेजस्वि नावधीतमस्तु, मा विद्विषावहे।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः ॥

अन्वय – ओ३म् नौ सह अवतु, नौ सह भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहे। नौ अधीतम् तेजस्वि अस्तु, मा विद्विषावहे। ओ३म् शान्तिः शान्तिः, शान्तिः।

संदर्भ – मन्त्रोऽयं कृष्ण यजुर्वेदस्य कठशाखायाः निबद्धस्यः कठोपनिषदः प्रथमवल्लयाः उद्धृतोऽस्ति। प्रस्तुत मंत्रः मंगलात्मकमस्ति। ऋषिः मङ्गलकामनायै कथयति—

अनुवाद— परमेश्वरः नौ आवयोः गुरुशिष्यौ सह साकमेव अवतु रक्षतु, नौ आवां सह साकमेव भुनक्तु पालयतु। सह समेव वीर्यं पराक्रमं परिश्रम वा करवावहै कुर्याव। नौ आवयोः अधीतं पठितं तेजस्वि वीर्यवत् अस्तु स्याद्। आवां मा निषेधार्थेऽऽव्ययम् विद्धिषावहै परस्परं द्वेषम् ईर्ष्या वा आविष्करवावहै।

टिप्पणी— ओ३म् मङ्गलसूचकः शब्दोऽस्ति। भुनक्तु – भुज्+लोट् प्र.पु.ए.व.। तेजस्वि – तेजस् + विनि।

ओ३म् उशन् हवै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।

तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस।। 1।।

अन्वय – ओ३म् उशन वाजश्रवसः हवै सर्ववेदसं ददौ, तस्य नचिकेता नाम पुत्रः ह, आस।

संदर्भ – मन्त्रोऽयं कृष्णयजुर्वेदस्य कठशाखायाः सम्बद्ध कठोपनिषदः प्रथमवल्लया उद्धृतोऽस्ति।

संस्कृत व्याख्या – उशन् कामयमानः यज्ञफलस्य कामनायै वाजश्रवसः वजश्रवसः अपत्यम् विश्वजिद् नामकं यज्ञं कुर्वाणः सर्ववेदसं सम्पूर्णधनम् ददौ दानाय अददात् तस्य वाजश्रवस्य नचिकेता इत्यभिधेयः पुत्र आत्मज आस बभूवेत्यर्थः। ह इति निश्चायर्थेऽव्ययम्।

टिप्पणी—नचिकेता— नचिकेता इति वाजश्रवस पुत्रस्य नाम।

तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानसु।

श्रद्धा विवेश सोऽमन्यत।। 2।।

अन्वय – दक्षिणासु नीयमानासु तम् ह कुमारं सन्तं श्रद्धा विवेश। सः अमन्यत।

संदर्भ – पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या –

तं नचिकेतसं कुमारं सन्तं कौमार एव वर्तमानम्, दक्षिणासु दानद्रव्येषु पुरुषैर्नीयमानासु आदाय गम्यमानेषु, श्रद्धा विवेश तस्मिन् हृदये भक्तिः विवेश। सः कुमारो अमन्यत मनसि अचिन्तयत्।

टिप्पणी – नी + शानच् + सप्तमी बहुवचन।

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।

अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्।। 3।।

अन्वय – इमाः पीतोदकाः जग्धतृणाः, दुग्धदोहाः, निरिन्द्रियाः, ता ददत् सः तान् गच्छति लोकाः अनन्दाः नाम।

संदर्भ – पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या –

वाजश्रवसः दक्षिणायां दीयमानाः ताः वृद्धाः गाः दृष्ट्वा नचिकेता अचिन्तयत्— अनेन दानेन किम्? यतो इमाः पीतोदकाः पीतम् उदकं याभिः ताः समाप्तप्रायमेतासां पानीयं स्वल्पजीवनावशेषत्वात्। जग्धतृणा जग्धं भक्षितं तृणं याभिः ताः, स्वाल्पायुष्वाद् यावदेव भुक्तं तावदेव ताभ्य अलम् नान्यत् भोक्तव्यमवशिष्टम्। दुग्धदोहाः दुग्धः दोहः यासां ताः समाप्तदुग्धा अतएव निष्प्रयोजनाः। निरिन्द्रियाः दुर्बलेन्द्रिया, अतएव भाविनी प्रसूतिरिपि तासां नाशास्यते, अतएव निरर्थकाः। ता एताः वृद्धायाः ददत् स मम पिता तान् लोकान् गच्छति गमिष्यति ये लोका अनन्दाः नाम आनन्दरहिताः सन्ति।

टिप्पणी— गच्छति – गम् + लट् प्र. पु. ए. व.।

स होवाच पितरं 'तात कस्मै मां दास्यतीति'।

द्वितीयं तृतीयं, तं होवाच, 'मृत्यवे त्वा ददामीति'।। 4।।

अन्वय – स ह पितरम् उवाच 'तात माम् कस्मै दास्यति इति। द्वितीयं तृतीयम् उवाच। तम् ह उवाच

मृत्यवे ददामि इति ।

संदर्भ – पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या –

सः नचिकेता पितरम् उवाच प्राह—तात् । माम् स्वपुत्रम् भवान् कस्मै दास्यति? तस्मिन्नेवं पृच्छति सति तत् पिता किञ्चिदपि न प्रत्युवाच । पुत्रस्तु त द्वितीय द्विधा तृतीय त्रिधा चेत्थमेव पप्रच्छ अनन्तरं तत्पिता तमुवाच— अहं त्वां मृत्यवे यमाय ददामि इति ।

टिप्पणी— दास्यति – दा + लृट् – प्र. पु. ए. व. । कस्मै – किम् चतुर्थी एकवचनम् पुल्लिङ्ग, नपुंसक लिंग ।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।

किं सिव्द यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ 5 ॥

अन्वय – बहूनाम् प्रथमः एमि बहूनाम् मध्यमः एमि । यमस्य किं सिव्द कर्तव्यं यन् मया अद्य करिष्यति ।

संदर्भ – पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या –

पितुः वचनमाकर्ण्य नचिकेताः चिन्तयामास यत् बहूनां पुत्राणां अहं प्रथमः ज्येष्ठः एमि अस्मि, अपरेषां बहूनां पुत्राणां अहं मध्यमः कनिष्ठः एमि अस्मि । यमः मृत्योः किं सिव्द किं कर्तव्यं कार्यमस्ति, यत् मया अद्य अधुना पिता पूर्णं करिष्यति ।

टिप्पणी— करिष्यति – कृ + लृट् प्र. पु. ए. व. ।

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे ।

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः ॥ 6 ॥

अन्वय – यथा पूर्वे अनुपश्य, तथा अपरे प्रतिपश्य । मर्त्यः सस्यम् इव पच्यते, सस्यम् इव पुनः आ जायते ।

संदर्भ – पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या –

तातस्य वचनं श्रुत्वा नचिकेता अकथयत्—यथा पूर्वे अस्माकं पूर्वपुरुषाः आसन् तान् प्रति अनुपश्य त्वं विचारय, तथा अपरे अन्ये च पुरुषाः पश्चात् भवाः सन्ति तान् प्रति प्रतिपश्य अवेक्षस्व । मृत्यः मरणशीलमनुष्यः सस्यम् इव पच्यते परिणमति अन्तं च गच्छति, सस्यमिवैव पुनरपि आजायते उत्पद्यते । सस्यमिव मनुष्यस्य परिणतिर्जामरणमनन्तरं जन्म चावश्यम्भावीति कृत्वा पूर्वेषामाचारमाचर ॥ 6 ॥

टिप्पणी— अस्मिन् मन्त्रे उपमाऽलङ्कारोऽस्ति ।

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिब्रह्मणो गृहान् ।

तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति, हर वैवस्वतोदकम् ॥ 7 ॥

अन्वय – ब्राह्मणः अतिथिः वैश्वानरः गृहान् प्रविशति । तस्य एताम् शान्तिम् कुर्वन्ति वैवस्वतोदकं हर ।

संदर्भ – पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या –

नचिकेता पितुर्वचनानुसारं यमगृहे समायातः । यमराजस्य परिजनो मन्त्रायाम यत् अतिथिः पूज्यो विद्वान् यजमानस्य गृहस्थस्य गृहान् वैश्वानर एव भूत्वा अग्निरूपेण प्रविशति । स अग्निरिव पूज्यमातिथेयमर्हसि इति भावः । एवं भूतस्याग्निरूपस्यातिथेरेतां शान्तिं कुर्वन्ति अर्घ्यपाद्योदकादीनां दानेन शान्तिं कर्तुमर्हन्ति गृहमेधिनः इत्ययं सनातनः शिष्टाचारः अतः वैवस्वतस्य विवस्वतः सूर्यस्यापत्यम् यमः तस्यातिथिमुद्दिश्येदं निर्दिश्यमानमुदकं जलं हर

गृहाण तस्य अर्घ्यपाद्याये च दातुमर्हसीत्यर्थः ।

टिप्पणी— अतिथि— अतति गच्छति न तिष्ठतीति । नञ् + तिथिः – अतिथिः ।

आशाप्रतीक्षे सङ्गत सूनुनां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूश्च सर्वान् ।

एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

अन्वय — यस्य अल्पमेधसः पुरुषस्य गृहे अनश्नन् ब्राह्मणः वसति । (तस्य) आशाप्रतीक्षे संगतं सूनुताम् इष्टापूर्ते सर्वान् पुत्रपशून् च एतत् वृङ्क्ते ॥ ८ ॥

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — अतिथीनामुपेक्षा सर्वेषामपि पुण्यानां फलं क्षिणातीति प्रतिपादयन्नाह यमः यस्य अल्पमेधसः तुच्छबुद्धेः पुरुषस्य गृहे अनश्नन् अभुञ्जानो ब्राह्मणो वसति तस्य आशा प्रतीक्षा चेति आशा स्वर्गदिकमुद्दिश्यः कृतानां कर्मफलानामाशा, ऐहिक—जन्मनि प्राप्तव्यानां कर्मणां फलमिह प्रतीक्षेति तयोर्भेदः संगतम् सत्संगतेः फलं सूनुतां मधुरभाषणस्य फलम् पुण्यम् इष्टापूर्ते यज्ञादीष्टकर्मणां कर्मणां च फलानि सर्वान् च पुत्रान् पशूश्च इदं सर्वमपि वृङ्क्ते नयतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

टिप्पणी— प्रतीक्षा— निर्जात प्राप्यार्थं प्रतीक्षणं प्रतीक्षा ।

तिस्त्र रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।

नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्तिमेऽस्तु, तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ९ ॥

अन्वय — हे ब्रह्मन्! नमस्यः अतिथि यत् (त्वम्) अनश्नन् मे गृहे तिस्त्रः रात्रीः अवात्सीः (हे) ब्रह्मन् ते नमः अस्तु, मे स्वस्ति अस्तु, तस्मात् त्रीन् वरान् प्रति— वृणीष्व ॥ ९ ॥

संदर्भ — पूर्ववत् ।

संस्कृत व्याख्या —

अतिथिमुपेक्षमाणो यमोऽनुतप्यमानो नचिकेतसं व्याजहार—हे ब्रह्मन् । त्वं यमस्य अतिथिरभ्यागतोऽसि । यत् अनश्नन् अभुञ्जान एव मे मदीये गृहे त्वं तिस्त्रो रात्रीः अवात्सीरवसः इति मे महान् सन्तापः । नमस्तेऽस्तु त्वां नमस्करोमि आत्मनः अपराधं क्षमयितुं भवन्तमतिथिं च शिष्टाचारेणाहमभिवादये । अधुना त्वदाराधनेन मे मम स्वस्ति कल्याणं भवतु त्वं त्रीन् वरान् प्रतिवृणीष्व उररीकृत्य स्वीकुरु । यतस्त्वया तिस्त्रः रात्री अनश्नता यापिताः । अतः प्रतिरात्रमेकं वरं प्रति गृहाणेति एव ॥ ९ ॥

टिप्पणी— नमः — नमः योगे चतुर्थी विभक्तिः स्यात् ।

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्दीतमन्युगौतमो माभि मृत्यो ।

त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथम वरं वृणे ॥ १० ॥

अन्वय — हे मृत्यो! यथा गौतमः मा अभि शान्तसंकल्पः सुमनाः वीतमन्युः स्यात् त्वत् प्रसृष्टम् मा अभि प्रतीतः वदेत् एतत् त्रयाणाम् प्रथमम् वरम् वृणे ॥ १० ॥

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — यमेन वरगृहणायोपयाचितो नचिकेता यमं प्रथम वरं याचते—हे मृत्यो यमराजः यथा गौतमवाजश्रवसः मे पिता शान्तसंकल्पः विगतचिन्तः सुमनाः स्वस्थचित्तः वीतमन्युः विगतरोष इति भावः स्यात् । तथा च त्वत्प्रसृष्टं त्वद्विप्रसृष्टं मा माम् स प्रतीतः प्रसन्नमना सन् अभि अभिनन्देत् । एतत् अहं त्रयाणां मध्ये प्रथमं वरं याचामि ॥ १० ॥

टिप्पणी— प्रसृष्टम् — प्र + सृज् + क्त ।

यथा पुरस्ताद्वविता प्रतीतः औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।

सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

अन्वय — मत् प्रसृष्टः औद्दालकिः आरुणिः पुरस्तात् यथा प्रतीतः भविता । मृत्युमुखात् प्रमुक्तं त्वाम् ददृशिवान् वीतमन्युः रात्रीः सुखं शयिता ॥ 11 ॥

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — नचिकेता मे प्रथम वरं ददानो यमः तमाह—मत् प्रसृष्टो मम कृपयाविष्ट औद्दालकिः उद्दालकवंशोत्पन्नः आरुणिः अरुणस्यापत्यम् त्वत्पिता पुरस्तात् यथा यथापूर्वं प्रतीतः विस्त्रब्ध (त्वां प्रति) भविता भविष्यति । (एवं च) मृत्युमुखात् यमात् प्रमुक्तम् प्रत्यागतं त्वां ददृशिवान् दृष्टवान् वीतमन्युः क्रोधरहितः (सः) रात्रीः सुखं सुखपूर्वकं शयिता शेष्यते ।

टिप्पणी— प्रमुक्तम् — प्र + मुच् + क्त ।

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति, न तत्र त्वं, न जरया विभेति ।

उभे तीर्त्वा, अशानायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ 12 ॥

अन्वय — स्वर्गलोके किंचन भयं नास्ति । न तत्र त्वम्, न जरया विभेति । अशानायापिपासे उभे तीर्त्वा शोकातिगः स्वर्गलोके मोदते ।

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — नचिकेताप्राहः — स्वर्गलोके किंचिदपि भयं नास्ति तत्र त्वम् (मृत्युरपि) नास्ति न तत्र कश्चिद् जरया वृद्धतयाभिभूतो विभेति । स्वर्गस्थानाम्— जरामरणत्वाद् न तत्र वार्धक्यस्य मृत्योर्वा भयमस्ति इति भावः । तथा च अशानायां बुभुक्षां पिपासां तृषां च उभे तीर्त्वा अतिक्रम्य परिहायेत्यर्थः शोकातिगः शोकादतितरां निष्क्रान्तः स्वर्गलोके मोदते प्रसीदति । स्वर्गे अजरः अमरश्च भूत्वा बुभुक्षां पिपासां च परिहाय सर्वतोभावेन सुखमेव शाश्वतं भुङ्क्ते इति भावः ।

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषु मृत्यो, प्रब्रूहि तं श्रद्धधानाय मह्यम् ।

स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ 13 ॥

अन्वय — मृत्यो! स त्वम् स्वर्ग्यम् अग्निम् अध्येषु, तम् श्रद्धधानाय मह्यम् प्रब्रूहि । स्वर्गलोकाः अमृतत्वम् भजन्ते, एतद् द्वितीयेन वरेण वृणे ॥ 13 ॥

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — तस्य स्वर्गस्य हेतुभूतमग्निं जिज्ञासमानो नचिकेतास्तस्येवानुष्ठानं विधिं च यमं पृच्छन्नाह— हे मृत्योयमराज! सः प्रथितस्त्वं स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितम् अग्निमिति शेषः अध्येषु सरहस्यं वेत्सि । जानन्नपि अहं यमः खलु अश्रद्धयते न वक्तुं शक्नोमि अत आह श्रद्धधानाम् श्रद्धाभाजे मह्यम् प्रब्रूहि प्रकर्षेण विस्तारेण ब्रूहि आख्याहि उपदिशेत्यर्थः । स्वर्गलोका स्वर्गगताः प्राप्तम् वा लोकाः अमृतः भजन्तः इति ।

प्र ते ब्रूमीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।

अनन्तलोकापिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥ 14 ॥

अन्वय — नचिकेतः प्रजानन्ः स्वर्ग्यम् अग्निम् (अहम्) ते प्रब्रूमीमि । (अर्थ) तदु मे निबोध । त्वम् अनन्तलोकापि प्रतिष्ठाम् एतं गुहायां निहितं विद्धि ।

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — (यमः नचिकेतसमाह) हे नचिकेतः! प्रजानन् प्रकर्षेण जानन् सम्यक् तथा जानन् स्वर्ग्यमग्निं स्वर्गहेतुकं (त्वत्पृष्टम्) अग्निं अहम् यमराजः ते तव प्रब्रूमीमि सविस्तरं कथयामि । (अथ) तदु तद्धि (त्वं) मे मतो निबोध निः शेषेण जानीहि । त्वमेतमग्निमनन्तलोकापिमनन्तलोकान्मापिः प्राप्तिरनेन एवं च (जगतः) प्रतिष्ठाम् आधारभूतगुहायाम् गह्वरे निहितं तिरोहितं सामान्यैः पुरुषैर्जातुमाशक्यं विद्धि जानीहि ।

टिप्पणी— निहितं — नि + धा + क्त ।

लोकादि मग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।

स चापि तत्प्रत्यवदत् यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ 15 ॥

अन्वय — तम् लोकादिम् अग्निम् तस्मै उवाच, याः यावतीर्वा यथा वा इष्टका, स अपि च तत् यथोक्तं प्रत्यवदत् । अथ तुष्टः मृत्यु एव पुनः अस्य आह ।

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — तम् लोकस्य विश्वस्यादिं प्रथमग्निमादौ जायमानं विराट् रूपमग्निमिति करः तस्मै नचिकेत यमः उवाच आचक्षे । (तथा च तस्मै) याः यावतीः यथा वा इष्टकानां चयनविधिः संख्या च त सर्व व्याचख्यौ सः अपि नचिकेतस्तत्सर्व मृत्युं तत्कथानुसारं प्रत्यवदत् प्रत्युवाच । ततः सन्तुष्टः प्रीतो मृत्युः यमः एव पुनः अस्य नचिकेतस्य प्राह ।

टिप्पणी— तुष्टः — तुष् + क्त ।

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।

तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृड्.कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ 16 ॥

अन्वय — प्रीयमाणः, महात्मा तम् अब्रवीत्, तव इह अद्य भूयः वरं ददामि । अयम् अग्निः तव एव नाम्ना भविता, इमां च अनेक रूपां सृड्.का गृहाण ।

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — प्रीयमाणो नितरां सन्तुष्टो महात्मा यमस्तमब्रवीदुवाच । तव ते इह अद्य इदानीं भूय पुनरपि वरं ददामि । अयं वरः अतिरिक्त एव वेदितव्यः । अग्नेराराधनविध्यादिकं यथोक्तं प्रतिवदते नचिकेतसे प्रीयमाणेन यमेनातिरिक्त एवायं वरो दत्तः । अयमग्नि यथोक्तप्रकारः तवैव नाम्ना भविता तवैव नाम्ना प्रसिद्धिमेष्यति । इतीत्थमिमां अनेकरूपां विविधग्रथनप्रकारां अनेकारूपां सृड्.कां मालां गृहाण स्वीकुरु ।

टिप्पणी— प्रीयमाणः — प्री—शानच् ।

त्रिणाचिकेतसिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।

ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेहि ॥ 17 ॥

अन्वय — (यः) त्रिणाचिकेतः त्रिभिः सन्धिम् एत्य त्रिकर्मकृत् (स) जन्म मृत्यु तरति । ब्रह्मजज्ञं ईड्यं देवं विदित्वा इमां निचाय्य अत्यन्तं शान्तिम् एति ॥ 17 ॥

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — यम आह—यः कश्चित् त्रिणाचिकेतः त्रि त्रिधा नाचिकेत नचिकेतसमग्निमाराधयन् मात्रा पित्रा आचार्यो च एभिः त्रिभिः देवैः दीयमानं परामर्शं परिपालयन् त्रिकर्मकृत् यज्ञः, वेदाध्ययनं दानमिति कर्मत्रयम् तस्य कर्ता भवति सः जन्ममृत्यू जन्म च मृत्युं च तरति । जन्ममरणाभ्यां मुक्तः भवति । ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मण जनित इयम् देवम् स्तुत्यमग्निं विदित्वा ज्ञात्वा, इमां निचाय्य इमां प्रक्रियाफलं निश्चयपूर्वकमधिगत्य पुरुषः अत्यन्तं शान्तिमेति गच्छति, प्राप्नोति ॥ 17 ॥

टिप्पणी— विदित्वा — विद् + क्त्वा ।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद् विदित्वा य एवं विद्वान्श्चिनुते नाचिकेतम् ।

स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ 18 ॥

अन्वय — त्रिणाचिकेतः एतत् त्रयं विदित्वा यः विद्वान् नाचिकेतम् एवं चिनुते । सः मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य, शोकातिगः स्वर्गलोके मोदते ।

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — यः कश्चिद् त्रिधा नाचिकेतसेनाग्निना यजमानस्त्रयमेतद् उपर्युक्तप्रकारं विद्वान्

जानन् नाचिकेतसमग्निं चिनुते चिनोति (यथाविधि पूजनमाचरितुं इष्टकाद्याश्चिनोति) सः मृत्युपाशात् मरण जालात् पुरतः प्रणोद्य अभिमुख प्रमोच्य शोकातिगः शोकमतिक्रम्य गच्छन् स्वर्गलोके मोदते प्रसीदति ।

टिप्पणी— विदित्वा — विद् + क्त्वा ।

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।

एतमग्नि तवैवं प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ 19 ॥

अन्वय — (हे) नचिकेतः एषः ते स्वर्ग्यः अग्निः यम द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः । जनासः एतम् अग्निम् तव एव प्रवक्ष्यन्ति । नचिकेत, तृतीयम् वरम् वृणीष्व ।

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — हे नचिकेतः! एष ते तव स्वर्ग्योऽग्निः स्वर्गहेतुको नाचिकेतसोऽग्नि अग्निं यद् विषये त्वम् द्वितीयेन वरेण स्वकीयं द्वितीयं वरं कृत्वा अवृणीथाः अयाचथाः । जनासः एतमग्नि तवैव (नाम्ना) प्रवक्ष्यन्ति कथयिष्यन्ति । (अधुना) हे नचिकेतस्त्वमात्मनस्तृतीयं वरं वृणीष्व याचस्व ।

टिप्पणी — प्रवक्ष्यन्ति — प्र + वच् + लृट् प्र.पु.ब.व. ।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये— ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।

एतद् विद्याम् अनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ 20 ॥

अन्वय — मनुष्ये प्रेते या इयं विचिकित्सा, एके अस्ति इति, एके च अयं न अस्ति इति अहम् त्वया अनुशिष्टः एतत् विद्याम् । वराणाम् एष तृतीयः वरः ।

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — नचिकेता यममाह— मनुष्ये प्रेते प्रकर्षेण अत्यन्तं यथा इते गते मृते सति भावः या इयं विचिकित्सा संशयः अस्ति । तमेव संशयं विवर्णयन्नाह—अस्तीत्यादि एके केचिद् आचार्याः मृतम् अस्तीति एके अपरे पुनर्नास्तीति प्रतिपादयन्ति । अहं त्वया अनुशिष्ट उपदिष्टः एव एतद्विषये निश्चयात्मकं विद्याम् ज्ञानीयामिति । वराणामेष तावत्तृतीयो मे वरोऽस्ति ।

टिप्पणी — अनुशिष्ट — अनु + शास् + क्त्वा ।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः ।

अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा उपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ 21 ॥

अन्वय — पुरा देवैः अपि अत्र विचिकित्सितम् । एषः धर्मः अणु, न हि सुज्ञेयम् । नचिकेत अन्यम् वरम् वृणीष्व मा मा उपरोत्सीः इति एनम् मा अति सृज ।

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — यम आह—पुरा प्राचीनकाले देवैरपि अत्र अस्मिन्विषये विचिकित्सितम् संशयितम् आसीदिति यतो हि एषः धर्मः एतद्रहस्यमणुः सुसूक्ष्ममतो वर्णयितुं शक्यते न हि सुविज्ञेयम् न सम्यग् सुखेन वा ज्ञातुं शक्यम् नाप्यवबोधनीयं सुकुमारधियां वर्तते । हे नचिकेतः । त्वं अन्यं वरं वृणीष्व याचस्व । मा माम् अस्मिन् विषये मा निषेधार्थेति भावः उपरोत्सीः रूपद्वयाः नानुरूपद्वि अनुरोधं मा कुरु । माम् एनम् अतिसृज माम् एतस्मान्मुञ्चयेत्यर्थः ।

टिप्पणी — मा मा — निषेधार्थकपदः ।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ ।

वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ 22 ॥

अन्वय — मृत्यो! अत्र देवै अपि विचिकित्सितम् किल, त्वम् च यम् सुविज्ञेयम् न (इति) आत्थ । अस्य च त्वादृग् अन्यः वक्ता न लभ्यः अन्यः कश्चित् वरः एतस्य न तुल्यः ।

संदर्भ – पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या – नचिकेता प्राह—हे मृत्यो! यम अत्रास्मिन् विषये देवैरपि पुरा विचिकित्सितं संशयितमासीत् यथा च त्वं यत्सुविज्ञेयं नास्तीत्येवमात्थ कथयसि मया अपि अस्मिन् विषये अन्यः कश्चित् त्वादृग् त्वादृशः वक्ता उपदेष्टा न लभ्यो न प्राप्यः मृत्योर्नियन्ता त्वमेवास्मिन् विषये समुपदेष्टुमर्हसि । अतएव एतस्य वरस्य तुल्यः समानः कश्चिद् अन्यो वरो नास्ति ।

टिप्पणी – वक्ता – वच् + तृच् ।

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।

भूमेर्महदायतनं वृणीष्व, स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छासि ॥ 23 ॥

अन्वय – शतायुषः पुत्रपौत्रान् बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् वृणीष्व भूमेः महत् आयतनम् वृणीष्व स्वयं च यावत् शरदः इच्छसि जीव ।

संदर्भ – पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या – यम आह— हे नचिकेतस्त्वं तृतीयेन वरेण शतायुष शतवर्षः जीविनः पुत्रान् पौत्रांश्च, पशून् तद्यथा हस्तिनः हिरण्यं सुवर्णं तथा च अश्वान् वृणीष्व याचस्व । भूमेः पृथिव्या महदायतनं खण्ड वृणीष्व स्वयं च आत्मनोऽर्थे यावत् शरदः जीवितुम् इच्छसि तावद् जीव । आत्मनोऽर्थे इच्छाधीनं जीवनं याचस्व । परं मैत्रं वरं वृणीष्व ।

टिप्पणी – इच्छसि – इच्छ् + लट् म. पु. ए. व. ।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं, वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।

महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ 24 ॥

अन्वय – यदि एतत्तुल्यं (अन्यम्) वरं मन्यसे, वित्तम् चिरजीविकां च वृणीष्व । नचिकेतः त्वम् महाभूमौ एधि । त्वा कामानां कामभाजं करोमि ।

संदर्भ – पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या – यमः पुनः आह—हे नचिकेतः । यदि त्वम् मदुक्तं वरं एतत् तुल्यम् स्वकीयस्य मृत्युरहस्यज्ञानस्य तुल्यं मन्यसे तर्हि त्वं वित्तद्रव्यादिकं चिरजीविकां च याचस्व स्वीकुरु । तथा च हे नचिकेतः । त्वं महाभूमौ पृथितायां पृथिव्याम् एधि भव तत्र स्वामित्वेन तस्या आधिपत्यं स्वीकुरु इत्यमहं सर्वेषां कामानां ऐहिकानामिच्छानां कामभाजं यथेच्छभोक्तारं करोमि ।

टिप्पणी – कामानां – काम षष्ठी विभक्तिः ब. व. । ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके । सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व ।

इमा रामाः सरथाः सतूर्याः, न हीदृशा लम्बनीया मनुष्यैः ।

आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व, नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ 25 ॥

अन्वय – ये ये कामाः मर्त्यलोके दुर्लभाः सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व इमाः सरथाः सतूर्याः रामाः, ईदृशा मनुष्यैः न हि लम्बनीयाः । मत् प्रत्ताभिः आभिः परिचारयस्व हे नचिकेत! मरणं मा अनुप्राक्षीः ।

संदर्भ – पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या – यमः पुनः नचिकेतसं प्राह— ये ये कामाः भोगाः मर्त्यलोके मनुष्यलोके दुर्लभाः सन्ति तान् सर्वान् त्वम् छन्दतः इच्छानुसारेण यथेच्छमिति यावत् प्रार्थयस्व माम्, तानहं सर्वान् तुभ्य दातुं शक्नोमि । इमाः समुपस्थिताः सरथाः सतूर्याः रथैः सहिता तूर्यैः वाद्यैः सहिताः रामाः नार्य (अप्सरसः) सन्ति तास्त्वं यथेच्छमादद्याः । हि यतः ईदृशाः यथाप्सरसः इमास्तथा लावण्ययुक्ताः मनुष्यैः मर्त्यैर्न लम्बनीयाः प्रापणीयाः । मत्प्रत्ताभिः महताभिः आभिरप्सरोभिः परिचारयस्व परिचर्या सेवां कारय परन्तु हे नचिकेतः । मरणं मृत्युं मरणानन्तरनात्मन सत्ताविषयकं

प्रश्नं मानुप्राक्षीः मा पृच्छः ।

टिप्पणी — लम्बनीया — लम् + अनीयर् ।

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ 26 ॥

अन्वय — (हे) अन्तक यत् एतत् श्वोभावाः मर्त्यस्य सर्वेन्द्रियाणां तेजः जरयन्ति । जीवितम् अल्पम् एव, वाहाः तव एव, नृत्यगीते तव (एव) ।

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — नचिकेता यममाहः हे अन्तक यम । इमे सर्वे भावास्तावत् श्वमात्रस्थायिनः क्षणभंगुरा इति भावः । यद् मर्त्यस्य मरण धर्मणो मनुष्यस्य सर्वेषामिन्द्रियाणां तेजः शक्ति नाशयन्ति दीर्घमपि सर्वं जीवितं जीवनम् अल्पेवास्ति नश्वरत्वादिति भावः । अत इमे वाहा अश्वाः समीपे सन्तु त्वत्पार्श्वे एव तिष्ठन्तु, इमे नृत्यगीते नृत्यं च गीतम् च यत्वया मह्यं दातुं प्रतिश्रुतं तत् तवैव समीपेऽस्तु ।

टिप्पणी— जरयन्ति — जृ + लट् प्र.पु.ब.व. ।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वितमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।

जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः सः एव ॥ 27 ॥

अन्वय — मनुष्यः वित्तेन न तर्पणीयः, चेत्—त्वा अद्राक्ष्म वित्तम् लप्स्यामहे । यावत् त्वम् ईशिष्यसि जीविष्यामः । मे वरणीयः वरः तु स एव ।

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — नचिकेता आह— मनुष्यः वित्तेन धनेन कदापि न तर्पणीयः सन्तोषं प्राप्नोति, यदि त्वा त्वाम् अद्राक्ष्म द्रक्ष्यामस्तदा सर्वं वित्तं धनम् लप्स्यामहे प्राप्स्यामः । यावत्त्वम् ईशिष्यसि तदेव वयं जीविष्यामः । त्वदधीनं ह्यस्माकं जीवनम् अस्ति । अतः वरणीयः प्रार्थनीयः स एव वरः अस्ति ।

टिप्पणी— वरणीयः — वृ + अनीयर्

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन् ।

अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदा नतिदीर्घं जीविते को रमेत ॥ 28 ॥

अन्वय — क्वधः स्थः जीर्यन् मर्त्यः प्रजानन् अजीर्यताम् अमृतानाम् उपेत्य वर्ण—रतिप्रमोदान् अध्यायन् कः अतिदीर्घं जीविते रमेत ।

संदर्भ — पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या — क्वधः स्थः को पृथिव्याः अधः नीचैस्तिष्ठति इति क्वधः स्थः जीर्यन् जीर्णो भूत्वा मर्त्यो मरणशीलः सर्वं नश्वरं प्रजानन् अनुभवेन् सम्यक्तया जानन् अजीर्यताम् अजराणाम् अमृतानाम् अमराणां (लोके) उपेत्य गत्वापि सर्वमनुभवसिद्धं नश्वरत्वं वेद एव । अतस्तत्रामरलोके गत्वापि वर्णरतिप्रमादान् वर्णस्य सौन्दर्यस्य रतेः प्रेमभावस्य च प्रमोदान् विलासान् अहेतुभूता अप्सरसः इत्यर्थः अभिध्यायन् चिन्तयन् का नाम विपश्चित् अतिदीर्घं जीविते रमेन रतिं कुर्यात् ।

टिप्पणी— उपेत्य — उप + इ + ल्यप् ।

यस्मिन्निद विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।

योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ 29 ॥

अन्वय — मृत्यो! यस्मिन् इदं विचिकित्सन्ति यत्, महति साम्पराये, तत् नः ब्रूहि । यः अयं गूढम् अनुप्रविष्टः

तस्मात् अन्यं नचिकेता न वृणीते ।

संदर्भ – पूर्ववत्

संस्कृत व्याख्या – हे मृत्यो यमराज! यस्मिन् विषये इदमुपरितनप्रकारकाः पुरुषाः विचिकित्सन्ति यत्साम्यपराये करणे महति गूढे महाविषय सहितस्य सत्ता वा असत्ता वेति प्रश्नएव मेऽभिमतः । तत् नावतरति । अतस्तसमान्न्यं वरं नचिकेता न वृणीते नादातुमिच्छति । नचिकेता वदित-नन्वहं सर्वमपि त्यक्त्वा त्वां मृत्युमुपागतोऽस्मि अत इदमेव रहस्य मया त्वतो वेदनीयमिति भावः ।

टिप्पणी— अनुप्रविष्टः – अनु + प्र + विश् + क्त ।

4.3 सारांश –

उपनिषत् – साहित्य में कठोपनिषद् का अपना पृथक् से महत्व तथा गौरव है। कठोपनिषद् में दो अध्याय हैं तथा दोनों ही अध्यायों में तीन-तीन वल्ली है। इस प्रकार कुल छः वल्ली है। प्रथम अध्याय की प्रथम वल्ली में 29 मंत्र हैं, वाजश्रवस् ने स्वर्ग सुख की कामना से सर्ववेदस् नामक यज्ञ किया, जिसमें उसने अपना सर्वस्व प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। उसने दान में उन वृद्धा गायों को भी दिया, जो दूध देने में समर्थ न थी। कठोपनिषद् के पात्र नचिकेता ने अपने चरित्र से जिस उदात्त भावना का परिचय दिया है, वह प्रत्येक पिता के पुत्र के लिए और प्रत्येक गुरु के शिष्य के लिए अनुकरणीय एवं माननीय है। अपने पिता को सर्वस्व दान देते हुए देखकर नचिकेता के हृदय में यज्ञ के प्रति और यज्ञ में दी जाने वाली दक्षिणा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। इस श्रद्धावश ही नचिकेता ने अपने पिता से यह प्रश्न किया था कि आप मुझे किसको देंगे। कितना निश्छल और निष्कपट प्रश्न था। यहाँ पर पुत्र का पिता के प्रति क्या कर्तव्य होता है या होना चाहिये इसकी शिक्षा प्रत्येक पुत्र को मिलती है। यमराज के घर पहुँचकर तीन दिन बिना भोजन किये यमराज के आने की प्रतीक्षा करना, प्रत्येक शिष्य को अपने गुरु के प्रति कैसा आचरण करना चाहिए इसकी शिक्षा मिलती है। यमराज से जिन तीन वरों को नचिकेता ने माँगा है, वे वर सामान्य होते हुए भी असामान्य हैं। इस कठोपनिषद् के माध्यम से यमराज ने जिस अमृत तत्त्व की प्राप्ति का मार्ग नचिकेता को दिखाया है, वह मार्ग प्रत्येक जिज्ञासु के लिए अभीष्टतम है।

4.4 विशिष्ट शब्दावली— टिप्पणी के अनुसार

4.5 बोध प्रश्न – अधोलिखित मन्त्राणां व्याख्या करणीया

1. मन्त्र संख्या 2, 4, 7
2. मन्त्र संख्या 9, 10, 13
3. मन्त्र संख्या 15, 16, 17
4. मन्त्र संख्या 20, 21, 24
5. मन्त्र संख्या 25, 27 29

4.6 उपयोगी पुस्तकें

1. उपनिषत्संग्रह
2. कठोपनिषद् गीता प्रेस गोरखपुर
3. संस्कृत साहित्य का इतिहास – बलदेव उपाध्याय

4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. देखिये इकाई— 4.2
2. देखिये इकाई— 4.2

3. देखिये इकाई— 4.2
4. देखिये इकाई— 4.2
5. देखिये इकाई— 4.2

कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय : प्रथम एवं द्वितीय वल्ली

इकाई की रूपरेखा

- 5.0 उद्देश्य
- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 प्रथम अध्याय : प्रथम वल्ली (श्लोक संख्या 1–29 की व्याख्या)
- 5.3 प्रथम अध्याय : द्वितीय वल्ली (श्लोक संख्या 1–25 की व्याख्या)
- 5.4 सारांश
- 5.5 पारिभाषिक शब्दावली
- 5.6 बोध–प्रश्न
- 5.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 5.8 बोध–प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य –

आप बी. ए. तृतीय वर्ष के द्वितीय प्रश्न पत्र की इकाई संख्या 5 का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई को पढ़कर आप कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की प्रथम एवं द्वितीय वल्ली में निरूपित–

- ↑ नचिकेता व उसके पिता के संवादों को पढ़ेंगे।
- ↑ कठोपनिषद् का मूल समझ सकेंगे।
- ↑ यम व नचिकेता के संवाद को जान पायेंगे।
- ↑ नचिकेता को यम से प्राप्त तीनों वरों के बारे में जानेंगे।
- ↑ श्रेय और प्रेय को समझ सकेंगे।
- ↑ आत्मज्ञान के फल को जानेंगे।
- ↑ कर्मफल की अनित्यता को जानेंगे।
- ↑ ओंकारोपदेश को जान सकेंगे।
- ↑ आत्मा के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- ↑ आत्मज्ञान के अनधिकारी के विषय में जान सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

वाजश्रवस नाम के एक ऋषि थे। जिन्होंने स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के लिये विश्वजित यज्ञ का आयोजन किया। विश्वजित यज्ञ में यजमान को अपना सर्वस्व दान करने का विधान है। वाजश्रवस के पुत्र ने जब सब कुछ दान देते हुए कुछ व्यर्थ गायों को भी दान दिये जाते देखकर सोचा कि कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरे पिता मुझे भी दान में दे दे? इस शंका से उसने पिता से प्रश्न किया। खीझकर पिता के वचनों के प्रभाव से वो कहां पहुँचा? उसे क्या प्राप्त हुआ? यही सब कठोपनिषद् की विषय–वस्तु है।

मन्त्रः — ओउम् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं
करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।।

ॐ शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः।।

हिन्दी अर्थ — ॐकार स्वरूप जो परमात्मा है वह हम आचार्य और शिष्य दोनों की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन-पोषण करें। हम साथ-साथ विद्या सम्बन्धी तेज प्राप्त करें। हम दोनों का अधीत ज्ञान चिरस्थायी हो। हम कभी भी द्वेष ना करें।

व्याख्या — ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति हेतु ग्रन्थारम्भ मंगलाचरण से किया जाता है। अतः कामना की गई है कि वह परब्रह्म हम दोनों गुरु-शिष्यों का भरण-पोषण करे। हमारी रक्षा करे। हमें विद्याधन प्रदान करे। हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़े और हम कदापि द्वेष-भाव ना रखें। इस प्रकार हरिचिन्तन और हरिसमर्पण द्वारा ग्रन्थारम्भ किया गया और त्रिविध तापों की शान्ति की कामना की गई।

वाजश्रवा का सर्वमेधयज्ञ

प्रसंग : नचिकेता का संक्षिप्त परिचय

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।

तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस।।1।।

अन्वय : — ॐ उशन् वाजश्रवसः ह वै सर्ववेदसं ददौ, तस्य नचिकेता नाम पुत्रः ह आस।।

हिन्दी अर्थ — वाजश्रव के पुत्र वाजश्रवस ने यज्ञ की कामना करते हुए अपने सम्पूर्ण धन का दान कर दिया। उनके एक नचिकेता नाम का पुत्र था।

व्याख्या — वाजश्रव के पुत्र वाजश्रवस ने जो कि एक वैदिककालीन ऋषि हैं) स्वर्ग की कामना से किये जा रहे विश्वजित यज्ञ में आहुतिस्वरूप अपना सारा धन दान में दे दिया। उस वाजश्रवस ऋषि के नचिकेता नाम का एक पुत्र था।

विशेष —

- 1 विश्वजित् यज्ञ वह यज्ञ है, जिसमें सर्वस्व समर्पण किया जाता है।
- 2 सर्ववेदस अर्थात् जिसने अपना सब कुछ दान कर दिया है।
- 3 नचिकेता— जो जानता नहीं है अपितु जानने की जिज्ञासा रखता है।

प्रसंग — नचिकेता के मन में दार्शनिक भाव का उदय।

तँ ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु

श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत।।2।।

अन्वय— कुमारं सन्तं तं दक्षिणासु नीयमानासु, श्रद्धा आविवेश, सः अमन्यत।

हिन्दी अर्थ— दक्षिणा में (गायों को) जाता हुआ (देखकर) बाल्यवस्था में विद्यमान भी उस (नचिकेता) में श्रद्धा प्रविष्ट हुई (एवं) वह सोचने लगा।

व्याख्या — जब नचिकेता ने यह देखा कि यज्ञ के दान में उसके पिता जो गायें दे रहे हैं, वे प्रजनन के अयोग्य हैं। नचिकेता ने उन गायों को ले जाते हुए देखकर अपने मन में इस प्रकार विचार किया कि इन अयोग्य गायों को दान में देकर मेरे पिता को किसी भी फल की प्राप्ति नहीं होगी। इस प्रकार की आस्तिक्य बुद्धि नचिकेता की हो गई।

विशेष: —

1 श्रद्धा — अयोग्य लौकिक दान से पिता को कोई लाभ नहीं होगा ऐसा सोचकर पिता की जो चिन्ता नचिकेता को हुई उस आस्तिक्य बुद्धि को यहाँ श्रद्धा शब्द से बताया गया है।

नचिकेता की शंका

प्रसंग — जननशक्ति विहीन गायों को दान देने से हानि।

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।

अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥३॥

अन्वय — पीतोदकाः जग्धतृणाः दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ताः (गाः) ददत् सः (यजमानः) तान् लोकान् गच्छति ते लोकाः अनन्दा नाम।

हिन्दी अर्थ — जो जल पी चुकी हैं, जो घास खा चुकी हैं, जिनका दूध निकाल लिया गया है। (एवं जो) प्रजनन-शक्ति-विहीन हैं (ऐसी बूढ़ी) उन (गायों) को दान में देता हुआ वह (यजमान) उन लोकों में जाता है, जो आनन्दविहीन है।

व्याख्या — यहाँ पर जो गायें दान में दी जा रही हैं उनके विशेषण बताए जा रहे हैं कि जो गायें जल पी चुकी हैं, जिनका घास खाना समाप्त हो चुका है, अर्थात् जिनकी घास खाने की शक्ति भी समाप्त हो चुकी है। प्रजनन शक्ति भी जिनकी क्षीण हो चुकी है। इससे तात्पर्य है कि ऐसी गायें ही दान में देनी चाहिये जिनमें प्रजनन क्षमता हो, जो घास खाने के लिये लम्बी दूरी तक चलने का सामर्थ्य रखती हों। अन्यथा ऐसा थोथा दान देने से दानदाता को किसी भी प्रकार का आनन्द नहीं प्राप्त होता सिर्फ आनन्दशून्य लोक की प्राप्ति होती है।

विशेष—

पीतोदका— जो पानी पी चुकी हैं।

जग्धतृणा — जो घास खा चुकी हैं अर्थात् जिनकी घास खाने के लिये अब चलने का भी सामर्थ्य नहीं रहा है अर्थात् अतिवृद्ध गायें या मरणासन्न गायें।

प्रसंग — सब कुछ दान देने वाले पिता के द्वारा जब वृद्धा गायों का दान दिया जा रहा था तब नचिकेता के मन में ये जिज्ञासा हुई कि जब पिता के द्वारा सर्वस्व दान दिया जा रहा है तो पिता मुझे किसको दान में देंगे इसका प्रत्युत्तर —

पिता—पुत्र संवाद —

स होवाच पितरं तात कस्मै मां दास्यतीति।

द्वितीयं तृतीयं, तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥४॥

अन्वय — स ह पितरम् उवाच “तात मां कस्मै दास्यति इति द्वितीयं तृतीयं (वारम् उवाच) तं ह उवाच त्वा मृत्यवे त्वा ददामि इति।”

हिन्दी अर्थ — उस (नचिकेता) ने पिता से कहा “ मुझे आप किसे देंगे? उसने दूसरी व तीसरी बार कहा (तब पिता ने उससे कहा) तुम्हें मैं मृत्यु को दूँगा।” इस प्रकार (उस नचिकेतो को पिता ने चिढ़कर कहा)।

व्याख्या — बालक स्वभाव से ही जिज्ञासु होते हैं। जब नचिकेता ने देखा कि पिता सब कुछ दान कर रहे हैं तो मैं भी तो उनका ही हूँ, जब इतनी वृद्धा गायों को ही दान में दे रहे हैं, तो निश्चित रूप से वो मुझे भी दान में दे देंगे।

तब उस बालक नचिकेता ने अपने पिता से पूछा पिताजी मुझे किसको दान में दोगे? दो-तीन बार प्रश्न दोहराने पर पिता ने झुंझलाकर कहा कि तुझे मैं मृत्यु (यम) को दूँगा।

प्रसंग — इस श्लोक में नचिकेता की मानसिक व्यथा को प्रदर्शित किया गया है।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।

किं स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति।।5।।

अन्वय — बहूनाम प्रथमः एमि, बहूनाम मध्यमः एमि, यमस्य किंस्वित्, कर्तव्यम्, यत् मया, अद्य, करिष्यति।

हिन्दी अर्थ — बहुतों (शिष्यों) में मैं श्रेष्ठ हूँ, बहुतों में मैं मध्यम हूँ (फिर भी क्रोधवश मुझे मृत्युदेव को सौंप कर) पिताजी मेरे माध्यम से यम का आज क्या प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं?

व्याख्या — नचिकेता यहाँ विचार कर रहा है कि पिता ने मुझे ऐसा क्यों कहा कि मैं तुझे मृत्युदेव यम को सौंपता हूँ; जबकि मैं तो बहुत से शिष्यों से श्रेष्ठ हूँ, बहुत से शिष्यों में मध्यम श्रेणी का हूँ अर्थात् अधम नहीं हूँ; तो फिर ऐसा कौनसा विशेष कार्य है, जो मेरे पिता यम के लिये आज मुझसे कराना चाहते हैं? अतः पिता के पक्ष में यम को प्रसन्न करने के लिये नचिकेता का क्या उपयोग हो सकता है। इसी विषय पर विचार करते-करते नचिकेता का मन खिन्न सा हो रहा है।

विशेष —

- 1 यहाँ नचिकेता की विचार दृष्टि को देखकर यह कहा जा सकता है कि धर्मात्मा, सात्विक एवं श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति की पितृभक्ति, गुरुभक्ति एवं परोपकारिता महान् से महान विघ्न उपस्थित होने पर भी नष्ट नहीं होती।

प्रसंग — नचिकेता के मुख से इस तरह की यमलोक जाने से सम्बन्धित बातें सुनकर पिता को बड़ी चिन्ता होने लगी कि मैंने यह क्या कह दिया। यम यह विचार कर रहे थे उस समय नचिकेता बोला —

अनुपश्य यथापूर्वं प्रतिपश्य तथापरे।

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।।6।।

अन्वय — पूर्वं यथा (वृत्ताः) अनुपश्य तथा अपरे प्रतिपश्य। मर्त्यः सस्यम् इव पच्यते, पुनः सस्यम् इव आजायते।

हिन्दी अर्थ — (हे पिताजी) मनुष्य वनस्पतियों की तरह उत्पन्न होता है तथा मरता रहता है, (इसलिये) अपने पूर्व पुरुषों एवं वर्तमान में स्थित सज्जनों को देखिये। मनुष्य वनस्पतियों की भांति पकता है, या विनष्ट होता है। बार-बार, उत्पन्न होता है।

व्याख्या — नचिकेता अपने पिता द्वारा क्रोधवश कहे गए वचनों पर अडिग रहने के लिये प्रेरित कर रहा है वह कह रहा है कि “आप अपने पूर्वजों के द्वारा किये गये महान् कर्मों को देखिये और वर्तमान में किये जा रहे ऋषियों के महान् कर्मों को भी देखिये। बड़े लोग कभी भी अपने सत्य से विचलित नहीं होते और यदि आपको मेरे मरने का भय है तो, बिल्कुल भी संकोच मत कीजिये क्योंकि प्राणी तो मृत्युलोक में धान की तरह होता है। थोड़े समय में पककर समाप्त हो जाता है फिर समय से अन्न की तरह नए सिरों से उत्पन्न होता है।”

विशेष: —

- 1 “जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।” को सिद्ध किया गया है।
- 2 सदैव अपने कहे गए वचन का पालन करना चाहिये।
- 3 यम के पास जाने की बात सुनकर भी नचिकेता विचलित नहीं होता है।
- 4 फसल की तरह जीवन चक्र को बताया गया है। घटना, बढना, नष्ट होना, पुनः उत्पन्न होना जीवन, चक्र के ही अंग है।

प्रसंग — यमलोक पहुँच कर नचिकेता के द्वारा यमराज से आग्रह किया जा रहा है।

वैश्वानरः प्रविशत्यातिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।

तस्यैता शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

अन्वय — ब्राह्मणः अतिथिः (सन्) वैश्वानरः (इव) गृहान् प्रविशति, तस्य एताम् शान्तिं कुर्वन्ति वैवस्वत उदकम् हर ।

हिन्दी अर्थ — घर में वैश्वानर अग्नि ही ब्राह्मण अतिथि के रूप में प्रवेश करते हैं, जिसे (साधुजन) जलादि प्रदान कर शान्त करते हैं, अतः हे वैवस्वत यम! आप (भी) जल से (इस ब्राह्मण अतिथि का) सत्कार कीजिये ।

व्याख्या — कहा गया है कि ब्राह्मण अतिथि जब किसी गृहस्थ के घर में प्रवेश करता है तो वह साक्षात् अग्निस्वरूप होकर ही प्रवेश करता है। फिर वह गृहस्थ अर्घ्य, पाद्य, आचमन आदि के द्वारा उस अग्नि को शान्त करता है अतः नचिकेता यम से निवेदन कर रहा है कि हे यमराज! आपके द्वार पर उपस्थित इस अग्नि को जल से शान्त कीजिये ।

विशेष—

- 1 अतिथि—“ न (निर्धारिता) तिथिर्यस्य सः।” जिसके आने की कोई निश्चित तिथि न हो ।
- 2 यदि अतिथि निराश होकर घर से चला जाए तो वह उस घर की सुख शान्ति व पुण्य भी अपने साथ ले जाता है ।
- 3 भारतीय संस्कृति में अतिथि को देवतुल्य माना जाता है ।

प्रसंग — अतिथि असत्कार के दुष्परिणामों को बताया जा रहा है ।

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च इष्टापूर्ते पुत्र—पशूँश्च सर्वान् ।

एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥

अन्वय — ब्राह्मणः अनश्नन् यस्य गृहे वसति (तस्य अल्पमेधसः पुरुषस्य) आशाप्रतीक्षे संगतं सुनृताम् इष्टापूर्ते पुत्रपशून् सर्वान् एतत् वृङ्क्ते ।

हिन्दी अर्थ — जिस अल्पज्ञ व्यक्ति के घर में बिना खाये—पीये अतिथि ब्राह्मण निवास करता है उसकी ज्ञाताज्ञात वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा, प्रियवाणी, यज्ञादि का फल, पुत्र, पशु ये सभी नष्ट हो जाते हैं ।

व्याख्या — अर्थात् ब्राह्मण अतिथि के पास गृहस्थ का भला करने एवं उसके पुण्यों में वृद्धि करने की अपार शक्ति होती है। जिस गृहस्थ के घर में ब्राह्मण अतिथि बिना तृप्त हुए रहता है, उस पुरुष के संकल्प, मनोरथ, सत्संगति और उसके द्वारा किये गये धार्मिक कृत्यों को भी नष्ट करता है ।

विशेष—

- 1 पुरुष के लिये समस्त शुभ कर्मों में अतिथि—सत्कार श्रेष्ठ है ।
- 2 अतिथि सत्कार से इहलौकिक और पारलौकिक सन्तोष रूपी फल की प्राप्ति होती है ।
- 3 अतिथि को ईश्वरतुल्य माना गया है ।

यमराज का वरप्रदान

प्रसंग — जब नचिकेता यम के द्वार पर पहुँचकर अतिथि सत्कार हेतु निवेदन कर रहा था तब यम किसी आवश्यक कार्य के लिये गये हुए थे। वापस लौटने पर जब उन्हें मन्त्रियों द्वारा यह ज्ञात हुआ कि एक ब्राह्मण अतिथि तीन रात्रियों से मेरे द्वार पर भूखा—प्यासा बैठा है तो यम नचिकेता के सम्मुख आकर कहता है—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे अनश्नन्ब्रह्मन्तिथिर्नमस्यः ।

नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥९॥

अन्वय — हे ब्रह्मन् यत् अतिथिः त्वम् अनशनन् मे गृहे तिस्रो रात्रीः अवात्सीः तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व । हे ब्रह्मन् ते नमः अस्तु मे स्वस्ति अस्तु ।

हिन्दी अर्थ — हे ब्रह्मविद् (ब्राह्मण-पुत्र नचिकेता) आप नमस्करणीय हैं। चूँकि आपने अतिथि रूप में बिना खाये-पिये मेरे घर में तीन रात तक निवास किया, अतः मैं आपको नमस्कार करता हूँ। (आप के यहाँ आगमन से) मेरा कल्याण हो, (तथा आपके द्वारा व्यतीत तीन रात्रियों के बदले आप) तीन वर (मुझसे) माँग लें।

व्याख्या — यमराज बोले— हे ब्राह्मण अतिथि! मेरे पुण्यों को नष्ट होने से बचा लो। तीन रात्रि के कष्ट के बदले आप मुझसे कोई तीन वर माँग लो।

विशेष —

- 1 अतिथि की सन्तुष्टि को महत्वपूर्ण बताया गया है।
- 2 अज्ञानवश जो त्रुटि यम से हो गई है उसके प्रायश्चित्त स्वरूप वरदान दे रहे हैं।

प्रथम वर— पितृपरितोष

प्रसंग —यम के द्वारा तीन वर दिये जाने की बात सुनकर नचिकेता ने अपने अभिलषित वरों को मांगने के क्रम में प्रथम वर मांगा—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।

त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीतः एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

अन्वय — मृत्यो! मा अभि गौतमो वीतमन्युः सुमना शान्तसंकल्पः यथा स्यात्, त्वत्प्रसृष्टं । मा अभिप्रतीतः (सन्) वदेत् इति एतत् (एव) त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ।

हिन्दी अर्थ — हे मृत्युदेव! जिससे (मेरे पिता) गौतमवंशोत्पन्न वाजश्रवा मेरे प्रति शान्त संकल्प वाले, प्रसन्न मन वाले एवं क्रोध रहित हो जायें तथा आप द्वारा मुक्त होकर जब मैं (मर्त्यलोक में) अपने पिता के सम्मुख जाऊँ तो मेरे पिता प्रसन्न होकर मुझसे बातें करें, यही तीन वरों में से पहला वर मैं माँगता हूँ।

व्याख्या— नचिकेता कह रहा है कि मेरे पिता ने क्रोधवश मुझे डाँट तो दिया है, किन्तु अब वे बड़े खिन्न हैं। तो हे यमराज! कुछ ऐसा करो कि जब वो सोकर उठें तो वे अपने क्रोध के बारे में सब कुछ भूलकर शान्तचित्त होकर मुझसे बड़े प्रेम से मिलें। मैं यमलोक से पुनः जाऊँ तो मुझे सहज में स्वीकार लें। तीन वरों में से आप मुझे पहले वर के रूप में यही दीजिये।

विशेष—

- 1 नचिकेता की पितृभक्ति द्रष्टव्य है। वह किसी भी सूरत में पिता को अपने वचन से च्युत भी नहीं करना चाहता और स्वयं के कारण पिता को कष्ट भी नहीं देना चाहता।

मृत्युरूवाच

प्रसंग —यम नचिकेता को प्रथम वर की स्वीकृति दे रहे हैं—

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।

सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥११॥

अन्वय — औद्दालकिः आरुणिः पुरस्तात् यथा प्रतीतः आसीत् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् त्वाम् ददृशिवान् । वीतमन्युः भविता (तथा च) सुखं शयिता रात्रीः (भवितेति) ।

हिन्दी अर्थ— मेरे अनुग्रह से उद्दालक वंश में उत्पन्न अरुण का पुत्र आरुणि तुम्हें मृत्यु के मुख से मुक्त

देखकर क्रोधरहित हो जायेगा तथा तुमसे पूर्ववत् स्नेहभाव से व्यवहार करता हुआ वह आरुणि आने वाली रात्रियों में सुखपूर्वक सोयेगा।

व्याख्या — यमराज बोले — औद्दालक के पुत्र आरुणि अज्ञानतावश जो तुम्हे कहकर पछता रहे हैं अब वे मृत्यु के मुख से लौटे तुम्हे देखकर निश्चिन्त होकर सोएंगे। वे तुम पर किया हुआ क्रोधादि सब भूल जाएंगें। इस प्रकार यमराज नचिकेता को प्रथम वर प्रदान कर आश्वस्त कर रहे हैं।

विशेष —

- 1 औद्दालक— उद्दालक वंश का होने के कारण औद्दालक कहा गया है।
- 2 आरुणि: — अरुणस्य अपत्यम् अर्थात् अरुण का पुत्र आरुणि।

नचिकेता उवाच—स्वर्ग स्वरूप प्रदर्शन

प्रसंग — नचिकेता प्रथम वर प्राप्त करने के पश्चात् द्वितीय वर के बारे में कहता है, अतः प्रसंगवश स्वर्ग लोक का वर्णन करता है—

स्वर्ग लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।

उभे तीर्त्वाशनायापियासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोक॥12॥

अन्वय — स्वर्ग लोके किंचन भयं न अस्ति तत्र त्वं न (स्थितोऽसि) न च जरया बिभेति उभे अशनाया पिपासे तीर्त्वा शोकातिगः स्वर्ग लोके मोदते।

हिन्दी अर्थ— स्वर्ग लोग में न तुम = मृत्यु हो न वृद्धावस्था से कोई घबराता है, न अन्य किसी भय से। भूख प्यास को जीतकर शोकरहित जीव वहां आनन्दपूर्वक रहता है।

व्याख्या — स्वर्गलोक में सभी लोग निर्भीक होकर भ्रमण करते हैं। जरामरण का भी वहाँ भय नहीं होता है। स्वर्ग में रहने वालों को भूख—प्यास, रोगादि किसी भी चीज का भय नहीं होता। इस श्लोक में नचिकेता यम के समक्ष अपने द्वितीय वर हेतु भूमिका बना रहा है।

द्वितीयवर— स्वर्गसाधनभूत अग्निविद्या

प्रसंग— इस श्लोक में नचिकेता यम से अपना द्वितीय वर मांगता है—

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्धधानाय मह्यम्।

स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्वितीयेन वृणे वरेण॥13॥

अन्वय — (हे) मृत्यो! स त्वं स्वर्ग्यम् अग्निम् अध्येषि त्वम् श्रद्धधानाय मह्यम् प्रब्रूहि (येन) स्वर्गलोकाः अमृतत्वम् भजन्ते एतत् द्वितीयेन वरेण (अहं) (नचिकेता) वृणे।

हिन्दी अर्थ — हे मृत्युदेव! जिस अग्नि विद्या के ज्ञान से स्वर्गलोकवासी जन अमृतत्व को प्राप्त करते हैं, उस अग्नि को आप जानते हैं। (अतः) श्रद्धावान् मुझे उसका उपदेश दीजिये, यही मैं दूसरे वर के रूप में चाहता हूँ।

व्याख्या — नचिकेता यम से कहता है कि “स्वर्ग की जिस साधनभूत अग्नि को आप जानते हैं उसका मुझे उपदेश कीजिये”। जिस अग्नि को जान लेने के बाद स्वर्ग के लोग भी अमृतत्व प्राप्त कर लेते हैं वही अग्नि नचिकेता जानना चाहता है।

विशेष —

- 1 स्वर्गलोक में मानसिक शान्ति रहती है। आनन्दयुक्त लोक ही स्वर्गलोक है। स्वर्ग्य अग्नि के ज्ञान से जरामरण से मुक्ति मिल जाती है।

प्रसंग — नचिकेता द्वारा जब स्वर्ग्य अग्नि के स्वरूप का ज्ञान द्वितीयवर के रूप में मांगा गया तब यमराज

नचिकेता को उस ज्ञान का फल दर्शाते हुए कहते हैं—

प्रते ब्रवीमि तद् मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।

अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥14॥

अन्वय — स्वर्ग्यम् अग्निम् प्रजानन् ते प्रब्रवीमि तद् उ मे निबोध नचिकेतः त्वम् एतम् अनन्तलोकाप्तिम् अथो प्रतिष्ठाम् गुहायाम् निहितम् विद्धि ।

हिन्दी अर्थ — हे नचिकेता! तुम्हें मैं (अग्निविद्या विद् यम) स्वर्ग प्रदान कराने वाले अग्नि के विषय में कहता हूँ इसे समझो, इस अनन्त लोकप्राप्ति के साधनभूत संसार के आश्रय रूप अग्नि को (हृदय या विद्वानों की बुद्धिरूप) गुफा में स्थित समझो ।

व्याख्या — जिस अग्नि के ज्ञान से श्रीविष्णुलोक की प्राप्ति होती है उसे यम नचिकेता को बताने जा रहे हैं। यमराज कहते हैं कि ये अग्नि विद्वानों की बुद्धिरूपी गुफा या हृदय स्थल में ही निहित है।

प्रसंग — प्रस्तुत श्लोक में यम द्वारा नचिकेता को अग्निविद्या का उपदेश दिया जा रहा है।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै, या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।

स चापि तत् प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥15॥

अन्वय — तं लोकादिम् अग्निं तस्मै (नचिकेतसे) उवाच, याः यावतीर्वा यथा वा इष्टका, स अपि च तद् यथोक्तम् प्रत्यवदत् । अथ मृत्युः अस्य तुष्टः (सन्) पुनः एव आह ।

हिन्दी अर्थ— (यम ने) संसार के आदि कारणभूत स्वर्ग्य अग्नि के चयन की प्रक्रिया, इष्टका के प्रकार एवं संख्या आदि के विषय में जो कुछ (नचिकेता को उपदेश दिया था, उसे यथोक्त रूप से उस (नचिकेता) ने भी यम को कह सुनाया। अतः मृत्यु देव ने सन्तुष्ट होकर पुनः कहा।

व्याख्या — इसके अनन्तर यम ने नचिकेता के लिये स्वर्ग की साधनभूत अग्नि का कथन किया तथा उस अग्नि के चयन में जैसी और जिस प्रकार की भी कच्ची सामग्री (यथा ईट, पत्थर आदि) का प्रयोग होता है। उनका चयन किया जाता है, इन सभी से सम्बन्धित उपदेश दिया। यद्यपि यह लम्बा वृत्तान्त सुनकर तत्क्षण ही स्मरण कर लेना कठिन था तथापि यम ने नचिकेता से पुनः स्वर्ग्य अग्नि के विषय में पूछा तो नचिकेता ने पूरा वृत्तान्त तथावत् सुना दिया। इससे यम बहुत प्रसन्न हुए।

विशेष — गुरु शिष्य द्वारा विषय समझ लिये जाने पर अतीव प्रसन्न होता है, यह भाव दिखाया गया है।

प्रसंग — यम नचिकेता द्वारा स्वर्ग्य अग्नि का वृत्तान्त तत्क्षण ही पुनः सुनकर अतीव प्रसन्न होकर बोले—

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।

तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चामामनेकरूपां गृहाण ॥16॥

अन्वय — प्रीयमाणः महात्मा तम् अब्रवीत्, तव इह भूयः, अद्य वरं ददामि। अयम् अग्निः तव एव नाम्ना भविता। इमां च अनेकरूपाम् सृङ्काम् गृहाण ।

हिन्दी अर्थ — प्रसन्न होकर महात्मा (यम) ने उस (नचिकेता से कहा कि आज यहीं तुम्हें पुनः एक और वरदान देता हूँ कि यह (स्वर्ग्य) अग्नि (लोक में) तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगी। (अतः) इस विचित्र (रत्नजड़ित) अतएव शब्दवती माला को स्वीकार कीजिये या धारण कीजिये।

व्याख्या — नचिकेता की स्वर्ग्य अग्नि के प्रति आस्था देखकर यम ने प्रसन्न होकर कहा कि आज के बाद यह परमार्थरूप अग्नि तुम्हारे नाम से ही अर्थात् 'नचिकेत अग्नि' के नाम से जानी जायेगी। दूसरे वर के अतिरिक्त यह नामकरण यम ने नचिकेता को प्रसन्न होकर उपहार स्वरूप प्रदान किया।

विशेष—

- 1 शिष्य से जब गुरु प्रसन्न होता है तो वह शिष्य को अनेकों प्रकार से उपकृत करता है।
- 2 तीन वर के अतिरिक्त नचिकेता ने इस स्वर्ग्य अग्नि के नामकरण का एक अन्य वर प्राप्त किया।

पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाह —अग्नि चयन का फल

प्रसंग— जो व्यक्ति इस नचिकेत अग्नि का चयन कर नित्य पूजा कर्म इत्यादि करता है उसे किस प्रकार का फल प्राप्त होता है यह प्रस्तुत श्लोक का वर्ण्य है—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।

ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा, निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥17॥

अन्वय — त्रिणाचिकेतः त्रिभिः सन्धिम् एत्य त्रिकर्मकृत् (सन्) जन्ममृत्यू तरति। ब्रह्मजज्ञम् ईड्यं देवं विदित्वा निचाय्य इमामत्यन्तम् शान्तिम् एति।

हिन्दी अर्थ — नाचिकेतस् अग्नि का तीन बार अनुष्ठान करने वाला, अग्नि के त्रिविध (आहवनीयादि) रूप को जानकर माता—पिता एवं आचार्य के साथ रहता हुआ जो (यज्ञ, अध्ययन, दान) इन तीनों प्रकार के कर्मों को करता है, वह ब्रह्म विषयक स्तुत्य (अग्नि) देव को जानकर आत्मानन्द से उत्पन्न शान्ति को प्राप्त करता है।

व्याख्या— माता—पिता और आचार्य से सम्बन्ध रखता हुआ, यज्ञ, वेदाध्ययन और दान इन तीन कर्मों को मानकर परम शान्ति को प्राप्त करता है अर्थात् उपासना, कर्म एवं ब्रह्मज्ञान के मार्ग पर चलने वाला होकर अपने आपको सुख—दुःख से परे आनन्दमय स्वरूप में पहुँचा लेता है।

विशेष —

- 1 नचिकेत अग्नि ब्रह्मज्ञान का साधक है।
- 2 माता—पिता एवं गुरु के सानिध्य बिना मोक्षप्राप्ति सम्भव नहीं है।

प्रसंग — नचिकेत अग्नि की निर्माण प्रक्रिया सहित जो इसका भोग जानता है उसे किस लोक की प्राप्ति होती है? यह इस श्लोक में बताया गया है—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एव विद्वान्शिचनुते नाचिकेतम्।

स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥18॥

अन्वय — यः सः मृत्युपाशान्, च पुरतः यः त्रिणाचिकेतः विद्वान् एतत् त्रयम् विदित्वा नाचिकेतसं चिनुते सः पुरतः मृत्युपाशान् प्रणोद्य शोकातिगः स्वर्गलोके मोदते।

हिन्दी अर्थ — जो विद्वान नाचिकेतस् अग्नि के चयनोपयोगी इष्टका, इष्टकासंख्या एवं प्रकार इन त्रिविध तत्त्वों को जानता हुआ इसका चयन करता है वह इस भौतिक देह नाश के पूर्व ही मृत्यु के पाश से मुक्त होकर मानसिक सन्ताप से दूर हो जाता है तथा (देहनाशोपरान्त) स्वर्गसुख को प्राप्त करता है।

व्याख्या — यहाँ मूल बात यह है कि जो विद्वान इस अग्नि की त्रयी को जान जाता है—

- 1 ईदें कौनसी हों?
- 2 संख्या में कितनी हों?
- 3 अग्नि का चयन किस प्रकार किया जाए?

वह इस ज्ञानोपरान्त जब नचिकेत अग्नि का वरण करता है तो मृत्युपर्यन्त तो मानसिक सन्ताप से मुक्ति प्राप्त करता है और मरणोपरान्त स्वर्गलोक का सुख भोगता है।

विशेष —

1 नचिकेत अग्नि का वरण ज्ञानपूर्वक करना चाहिये।

प्रसंग — प्रस्तुत श्लोक में यम नचिकेता से तीसरे वर को मांगने का आग्रह कर रहे हैं—

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।

एतमग्निं तदैव प्रवक्ष्यन्ति जनास—स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व॥19॥

अन्वय — हे नचिकेत! एष ते स्वर्ग्यः अग्निः यं द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः। जनासः एतम् अग्निं तव एव प्रवक्ष्यन्ति। नचिकेत! तृतीयम् वरणम् वृणीष्व।

हिन्दी अर्थ — हे नचिकेता! तुमने जो द्वितीय वर के रूप में जो (स्वर्ग्य अग्नि के विषय में) याचना की थी इस स्वर्ग्य अग्नि को तुम्हारे ही नाम से लोग जानेंगे। हे नचिकेता (अब) तीसरा वर मांगो।

व्याख्या — यहाँ नचिकेता के ऋण से उऋण होने के लिये उसे कहते हैं कि तुम्हारा दूसरा वर तो मैंने दे दिया है। चतुर्थ वर के रूप में स्वर्ग्य अग्नि का नामकरण भी नचिकेताग्नि कर दिया है अतः अब तुम अपना तृतीय वर मांगो।

विशेष —

1. यम यहाँ तीसरे वर को मांगने का इसलिये कह रहे हैं कि कहीं नचिकेता अग्नि के नामकरण को अतिरिक्त वर को तीसरा ना मानें क्योंकि यह वर तो यम की अनुकम्पास्वरूप है।

तृतीय वर— आत्मरहस्य

प्रसंग — नचिकेता द्वारा मांगा गया तीसरा वर —

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।

एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥20॥

अन्वय — मनुष्ये प्रेते या इयं विचिकित्सा एके अस्ति इति एके अयं नास्ति इति च त्वया अनुशिष्टः एतत् विद्याम् एषः वराणाम् तृतीयवरः।

हिन्दी अर्थ — कुछ (विद्वान्) जो यह शंका उठाते हैं कि मनुष्य के मर जाने पर (वह आत्मा) विद्यमान रहता है एवं कुछ कहते हैं कि वह नहीं रहता। अतः इस संशय को दूर करने के लिए (ही) मैं आप द्वारा उपदिष्ट होकर इस आत्म तत्त्व को जान लूँ (यही) मेरा तृतीय वर है।

व्याख्या— आत्मा के विषय में लोगों को जो संशय है उन संशयों का निराकरण करने के लिये नचिकेता उस आत्मतत्त्व के ज्ञान को तृतीय वर के रूप में मांगता है अर्थात् मृत व्यक्ति के विषय में जो इस प्रकार का सन्देह है कि शरीर, इन्द्रिय मन और बुद्धि से अतिरिक्त देहान्तर से सम्बन्ध रखने वाला आत्मा रहता है या नहीं रहता है? यह आत्मज्ञान नचिकेता का जिज्ञास्य विषय है।

विशेष—

1 आत्मा के अस्तित्व—विषयक दो मत यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं।

(1) आत्मा अजर—अमर है। अनश्वर है।

(2) आत्मा लौकिक/भौतिक वस्तु है। नश्वर है।

प्रसंग — यम नचिकेता को अन्य कोई वर मांगने के लिये कहता है—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।

अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥21॥

अन्वय — देवैरपि अत्र पुरा विचिकित्सितं हि (अस्मिन् विषये) (तस्मात्) न सुज्ञेयम् एष धर्मः अणुः । नचिकेतः अन्यं वरं वृणीष्व । मा मा उपरोत्सीः मा एनम् अतिसृज ।

हिन्दी अर्थ — हे नचिकेता! इस (आत्मतत्त्व के) विषय में पहले देवताओं ने भी शंका की थी। यह आत्म ज्ञान रूप धर्म अणुरूप होने के कारण सुविज्ञेय नहीं है। अतः अन्य (कोई) वर मांगो। इसके लिए मुझसे आग्रह मत करो। (इस आत्मतत्त्व की जिज्ञासा छोड़ दो)।

व्याख्या — यम नचिकेता से कहते हैं कि यह आत्मतत्त्व बहुत सूक्ष्म है। प्राचीन काल में एक बार देवता गणों ने भी इस तत्त्व की जिज्ञासा की थी किन्तु उसे जान नहीं पाए थे। अतः तुम भी और कोई वर मांग लो।

नचिकेता की स्थिरता

प्रसंग — नचिकेता आत्मतत्त्व के ज्ञान के लिये कृत संकल्प है अतः वो अपने वर को परिवर्तित नहीं करता है और कहता है कि —

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ ।

वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ।।22।।

अन्वय — अत्र देवैरपि विचिकित्सितम् किल हे मृत्यो! त्वं च यत् न सुविज्ञेयम् आत्थ (तदा) अस्य वक्ता त्वादृक अन्यः न लभ्यः एतस्य तुल्यः अन्य कश्चिद् वरः न (अस्तीति शेषः)

हिन्दी अर्थ — हे मृत्यु देव! आपने जो कहा है कि इस आत्मविद्या के विषय में पहले देवताओं ने भी संशय किया था (तथा यह) सरलता से (उन्हें भी) लभ्य नहीं है। (इसलिये) आप जैसा अन्य कोई इस विद्या को बताने वाला लभ्य नहीं है। (अतः) इसके तुल्य और कोई वर नहीं है।

व्याख्या— नचिकेता यम से कहता है कि आपने कहा कि यह इस आत्मतत्त्व जानना इतना सरल नहीं है। भले ही देवता इस तत्त्व को न जान पाए हों। फिर भी इस आत्मतत्त्व का आप जैसा इस विद्या का उपदेष्टा गुरु भी मुझ प्राप्त होना सम्भव नहीं है अतः मैं तो ये उपदेश आपसे ही प्राप्त करूँगा।

विशेष—

- 1 यहाँ नचिकेता की आत्मज्ञान के प्रति श्रद्धा द्योतित है।
- 2 नचिकेता यह जानता है कि यह आत्मज्ञान निःश्रेयस की प्राप्ति कराने वाला है अर्थात् नचिकेता ज्ञानी भी है।

यमराज का प्रलोभन

प्रसंग — यमराज नचिकेता को अन्य कोई वर मांगने के लिये तरह—तरह के प्रलोभन देते हैं—

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।

भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ।।23।।

अन्वय — शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यम् अश्वान्, भूमेर्महदायतनं (च) वृणीष्व । स्वयं च यावत् शरदः इच्छसि (तावद्) जीव ।

हिन्दी अर्थ — (हे नचिकेता) तुम सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र—पौत्र मांग लो, बहुत से पशु, हाथी, घोड़े एवं स्वर्ण मांग लो, पृथ्वी का बहुत विस्तृत भाग मांग लो तथा स्वयं जितने (शरद ऋतु पर्यन्त जीने के लिये) वर्ष चाहते हो (उतने वर्षों तक) जीओ।

व्याख्या — यम नचिकेता को कहते हैं कि हे नचिकेता तुम भौतिक सुखों में जो चाहे मांग लो। चाहे शतायु पुत्र—पौत्र, अपार राज—काज, लम्बी आयु, भौतिक सुख सुविधाएँ जैसे अश्व, हाथी आदि जो इच्छा हो मांग लो। इस प्रकार का प्रलोभन देकर यम ने नचिकेता को अपने वर को बदलने के लिये प्रेरित किया।

विशेष—

- 1 वे सभी सम्भव प्रलोभन जिससे एक सामान्य व्यक्ति प्रलोभित हो जाए, यम द्वारा नचिकेता को दिये गये।
- 2 पृथ्वी का विस्तृत आयतन अर्थात् समुद्र पर्यन्त एक छत्र राज्य की कामना।

प्रसंग— इसी प्रसंग में यम—नचिकेता को और प्रलोभन देते हैं—

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।

महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि।।24।।

अन्वय — एतत्तुल्यम्, यदि वरं (कंचिदन्यम्) मन्यसे, वित्तं चिरजीविकां च (त्वम्) वृणीष्व। हे नचिकेतः त्वं महाभूमौ एधि त्वा (अहं यमः) कामानां कामभाजं करोमि।

हिन्दी अर्थ — हे नचिकेता! तुम इस (आत्म ज्ञान या मृत्यु रहस्य ज्ञान) के तुल्य यदि अन्य कोई वरदान मांगना चाहते हो तो मांग लो। धन एवं चिरकालीन जीविका का साधन माँगो, पृथ्वी का साम्राज्य प्राप्त कर बढ़ो, तुम्हें मैं सभी कामनाओं को भोगने वाला बनाता हूँ।

व्याख्या— यमराज नचिकेता की आत्मतत्त्व जिज्ञासा की इच्छाशक्ति का मूल्याङ्कन करने के उद्देश्य से कहते हैं कि इस वर के बराबर अगर तुम किसी और वर को समझते हो तो अपना वर बदल लो। अपने लिये सुवर्ण रत्नादि धातुएँ मांग लो। उनका चिरस्थायित्व मांग लो। यम कहते हैं कि नचिकेता मैं तुम्हें दैवी और मानुषी सभी कामनाओं का भोगने वाला बना देता हूँ। इस वर के बजाय अन्य कोई वर मांग लो।

विशेष—

- 1 यम नचिकेता के दृढसंकल्पत्व की परीक्षा ले रहे हैं।
- 2 लौकिक और स्वर्गीय सुखों का प्रलोभन देकर नचिकेता को आत्मतत्त्व के ज्ञान से अन्यत्र चिन्तन की ओर प्रेरित कर रहे हैं।

प्रसंग — यम नचिकेता को अप्सराओं के भोग आदि से सम्बन्धित सुखों का प्रलोभन दे रहे है।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व।

इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्बनीया मनुष्यैः।

आभिर्मत्प्रताभिः परिचारयस्व

नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।।25।।

अन्वय — ये ये कामाः मर्त्यलोके दुर्लभाः (सन्ति तान्) सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व। इमाः सरथाः सतूर्याः रामाः ईदृशाः मनुष्यैः न लम्बनीयाः। हि मत्प्रताभिः आभिः परिचारयस्व (हे) नचिकेतः! मरणं मा अनुप्राक्षीः।

हिन्दी अर्थ — हे नचिकेता! जो जो कामनाएँ मनुष्य लोक में दुर्लभ हों (उन) सभी कामनाओं को (मुझसे) इच्छानुसार मांग लो। ये रथयुक्त एवं बाजों के साथ अप्सरायें या स्त्रियाँ हैं। इस प्रकार के पदार्थ सामान्य लोगों द्वारा अप्राप्य हैं, (अतः) मेरे द्वारा प्रदत्त इनसे (अपनी) सेवा कराओं (किन्तु) मृत्यु विषयक प्रश्न मत पूछो।

व्याख्या— यम कहते हैं नचिकेता! स्वर्ग की अप्सराओं के जैसा दुर्लभ सुख चाहे तो तु प्राप्त कर ले, पर आत्मतत्त्व जैसा मरण सम्बन्धी प्रश्न मत पूछ। यम नचिकेता को विभिन्न प्रकार के प्रलोभन देकर उसका ध्यान आत्मतत्त्व से अन्यत्र करने का प्रयास कर रहे है।

नचिकेता की निरीहता

प्रसंग— यमराज के विभिन्न प्रलोभनों को सुनकर भी नचिकेता के मन में लोलुपता नहीं आती है। वे निरीह भाव से यम से कहते हैं—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥26॥

अन्वय — अन्तक! श्वोभावा: मर्त्यस्य सर्वेन्द्रियाणां यत्तेजः एतत् जरयन्ति अपि सर्वम् जीवितम् अल्पम् एव तव वाहा नृत्यगीते तव एव (कृते स्युरिति भावः)

हिन्दी अर्थ — हे मृत्युदेव! ये सभी (आप द्वारा प्रोक्त सुखसाधन कल तक रहने वाले या अस्थायी है।) (तथा) मनुष्य की इन्द्रियों की शक्ति को क्षीण कर देते हैं। (एवं) मनुष्य का जीवन भी थोड़ा ही होता है। (अतः) आप के घोड़े, आप के नृत्य-गीत आपके ही (पास रहने दीजिये) रहें (मुझे नहीं चाहिये)।

व्याख्या— नचिकेता यम से कहते हैं कि मैं जो भोग विलास के वर आप मुझे लेने के लिये कह रहे हो ये तो भौतिक सुख है। ये सब तो श्वोभाव है अर्थात् ये सब कल रहेंगे या नहीं इसमें सन्देह है और रही ये अप्सरा आदि के भोगों की बात। तो ये भोग मनुष्य की सम्पूर्ण इन्द्रियों का तेज क्षीण करते हैं अर्थात् ये धर्म, वीर्य, प्रज्ञा, तेज, यश और समृद्धि का क्षय करने वाले होने से अनर्थ के कारण हैं। यम के सारे प्रलोभन नचिकेता को व्यर्थ लगते हैं। वे कहते हैं कि “आपके ये सारे रथादि वाहन, ये नाच-गान, घोड़े-हाथी ये सब आपको ही मुबारक हो।”

प्रसंग— यम की बातों से नचिकेता अपनी बात से डिगा नहीं और वाक्पटुता प्रदर्शित करते हुए बोला—
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो, लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।

जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥27॥

अन्वय — वित्तेन मनुष्यः न तर्पणीयः, त्वा चेद् अद्राक्ष्म वित्तं (तु) लप्स्यामहे यावत् त्वम् ईशिष्यसि (तावत् वयम्) जीविष्यामः वरस्तु मे स एव वरणीयः।

हिन्दी अर्थ — (हे यम!) मनुष्य धन से सन्तुष्ट होने योग्य नहीं है (एवं) यदि हम तुम्हें देखेंगे तो धन प्राप्त कर (ही) लेंगे (तथा) जब तक तुम (हमारे) स्वामी बनें रहोगे, तब तक जी लेंगे (अतः) मेरा मांगने योग्य वर तो वही (आत्मज्ञान ही) है।

व्याख्या— नचिकेता का वाक्चातुर्य इस श्लोक का मूल भाव है। जब यम ने उसे विविध प्रकार के धन, तेज और अमरत्व आदि प्रलोभन दिये तो नचिकेता ने कहा कि यम के दर्शन से ही मनुष्य धन धान्य से सम्पन्न हो जाता है तो धन आदि सम्पत्ति तो मुझे ऐसे ही प्राप्त हो जायेगी। और “आपके दर्शन से मृत्यु पर विजय तो स्वाभाविक ही है और अल्पायु तो कोई मनुष्य आपके सम्पर्क में आकर रह ही नहीं सकता।” अर्थात् यम ने जो प्रलोभन देने का प्रयास किया नचिकेता ने कहा वे सब तो उसे यम के दर्शन से वैसे भी मिल ही जायेंगे अतः यम उसे अब मात्र आत्मतत्त्व का ज्ञान ही दें।

प्रसंग— नचिकेता यम को स्वर्गलोक को भूलोक से उच्च बताते हुए कहता है—

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन् ।

अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घं जीविते को रमेत ॥28॥

अन्वय — कः प्रजानन् जीर्यन् क्वधः स्थः अजीर्यतम् अमृतानाम् उपेत्य वर्णरतिप्रमोदान् अभिध्यायन् अतिदीर्घं जीविते (कः) रमेत?

हिन्दी अर्थ — नीचे पृथ्वी पर स्थित जीर्ण (होता हुआ) सौन्दर्य प्रेम एवं आमोद-प्रमोद (के विषयों की अनित्यता) का ध्यान में रखता हुआ, जरारहित एवं अमृत रूप (आप जैसे) देवों को प्राप्त कर कौन मनुष्य दीर्घ जीवन में रमण करेगा? (अर्थात् कोई भी संसार के यथातथ्य को जानकर उसमें रमण नहीं करेगा)।

व्याख्या इस श्लोक से यह पता चलता है कि नचिकेता कितना समझदार है। वो देवता और मनुष्य एवं देवलोक और भूलोक के बीच का भेद अच्छी तरह जानता है। वो कहता है कि ये कहाँ की समझदारी है कि

अमरलोक में पहुँचकर अब मैं नश्वर पृथ्वीतल की वस्तुओं, जो कि नश्वर है उन की कामना करुं? कोई भी समझदार मनुष्य ऐसा नहीं करेगा।

विशेष —

1 स्वर्गलोक— अमर

2 पृथ्वीलोक— नश्वर

प्रसंग— इस श्लोक में नचिकेता यम से स्पष्ट रूप से कह देता है कि इस वर के अतिरिक्त वह अन्य कोई वर नहीं मांगेगा।

यस्मिन्नदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।

योऽयं वो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते।।29।।

अन्वय — मृत्यो! यस्मिन् महति साम्पराये यद् इदं तत् नः ब्रूहि यः अयं वरः गूढम् अनुप्रविष्टः वरः (अस्ति) तस्मात् अन्यं नचिकेता न वृणीते।

हिन्दी अर्थ — हे मृत्युदेव! जिस महान् पारलौकिक (आत्मज्ञान के) विषय में (लोग या देव भी) संशय करते हैं (एवं) जिस रहस्यात्मक आत्मज्ञान के विषय में मेरा यह वर प्रविष्ट है उसी के विषय में (आप) मुझे कहिये। उस (आत्मज्ञान) से भिन्न अन्य कोई (वर) नचिकेता नहीं माँगता।

व्याख्या — नचिकेता कहता है कि इस आत्मतत्त्व के ज्ञान के अतिरिक्त मैं अन्य कोई भी वर नहीं लूंगा। अतः आप अपने व्यर्थ के प्रलोभन अपने पास रखें व मुझे पारलौकिक ज्ञान प्रदान करें।

।। प्रथम अध्याय की प्रथम वल्ली समाप्त।।

5.3 प्रथम अध्याय : द्वितीय वल्ली, श्लोक संख्या 1–25 की व्याख्या

प्रसंग — प्रथमवल्ली तक शिष्य नचिकेता की अध्यात्मविद्या योग्य पात्रता की परीक्षा के बाद यम द्वारा श्रेय एवं प्रेय के स्वरूप का उपदेश—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।

तयोः श्रेय आददानस्य साधुभवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।।1।।

अन्वय — अन्यत् श्रेयः अन्यद् एव उत प्रेयः नानार्थे ते उभे पुरुषं सिनीतः तयोः (श्रेय—प्रेयसोः) श्रेयः आददानस्य साधुभवति यः प्रेयः वृणीते उ सः अर्थात् हीयते।

हिन्दी अर्थ — हे नचिकेता (पारलौकिक मार्ग को प्रशस्त करने वाला) श्रेय (मार्ग) दूसरा है (तथा भौतिक लोक में भी भ्रमण कराने वाला) प्रेय (मार्ग) भिन्न है। ये दोनों विविध प्रकार के प्रयोजनों में पुरुष को बाँध देते हैं। इन दोनों में श्रेय मार्ग का अवलम्बन करने वाले का कल्याण होता है।

व्याख्या— यम ने शिष्य नचिकेता की ऐहलौकिक ऐश्वर्य के विषय में परीक्षा लेकर तथा उसमें उसे सर्वथा उत्तीर्ण समझकर मुमुक्षा की महिमा कहते हुए कहा कि जो मोक्ष का मार्ग है, वह श्रेयमार्ग तथा जो भोगों का मार्ग है, वह प्रेयमार्ग कहलाता है। ये दोनों ही भिन्नरुचि वाले पुरुषों को अपनी तरफ आकृष्ट करते हैं। इन दोनों के बीच जो धीर पुरुष श्रेय की प्राप्ति का यत्न करता है वह उत्तमगति को प्राप्त करता है तथा जो भोगाभिलाषा रखता है वह अधोगति को प्राप्त होता है। अतः श्रेय का आश्रयण ही श्रेयस्कर है।

विशेष —

1 यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। यह शास्त्रों में धर्म का लक्षण बताया है।

2 यद्यपि धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष चारों ही प्राप्तव्य पुरुषार्थ हैं तथापि परमप्रापणीय मोक्ष के बिना 84 लाख योनियों के चक्र से मुक्ति दुष्कर है।

प्रसंग— विवेकी व्यक्ति श्रेय एवं प्रेय के भेद को पहचान लेता है: एवं धीर व्यक्ति श्रेय का ही अवलम्बन करता है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥2॥

अन्वय — श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यम् एतः । धीरः तौ सम्परीत्य विविनक्ति । धीरः प्रेयसः श्रेयः अभिवृणीते । मन्दः योगक्षेमात् प्रेयः वृणीते ।

हिन्दी अर्थ — श्रेय एवं प्रेय अर्थात् मोक्ष मार्ग एवं भोग मार्ग ये दोनों ही मनुष्य को प्राप्त हैं। उन दोनों के विषय में भली भाँति विचार कर धीर मनुष्य उन्हें पहचान लेता है तथा धीर (मनुष्य) प्रेय की अपेक्षा श्रेय मार्ग का अवलम्बन करता है जबकि मन्दमति व्यक्ति योगक्षेम की दृष्टि से प्रेयमार्ग (भोग मार्ग) का वरण करता है।

व्याख्या— श्रेय और प्रेय दोनों ही प्राप्त करके विवेकी मनुष्य दोनों को हंस की तरह दूध और पानी की तरह पृथक् कर लेता है। उस समय धीर पुरुष प्रेय की अपेक्षा करके श्रेय को चुनता है और क्षीणबुद्धि योगक्षेम के लिये प्रेय की आकांक्षा करता है।

विशेष— योगक्षेम— अप्राप्त की प्राप्ति का नाम योग और प्राप्त की रक्षा क्षेम है।

नचिकेता की प्रशंसा

प्रसंग— यम द्वारा सांसारिक सुखों के प्रति नचिकेता के त्याग की प्रशंसा—

स त्वं प्रियान्प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।

नैताँ सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥3॥

अन्वय— (हे) नचिकेतः! स त्वम् प्रियान् प्रियरूपान् च कामान् अभिध्यायन् अत्यस्राक्षीः । वित्तमयीम् एताम् सृङ्कां न अवाप्तः यस्याम् बहवः मनुष्याः मज्जन्ति ।

हिन्दी अर्थ — हे नचिकेता! तुमने अपने प्रिय (पुत्र—पौत्रादि) चित्ताकर्षण रूपादि विषयों एवं (अन्य) कामनाओं का विश्लेषण करके (उन्हें) छोड़ दिया है। न ही (तुम ने) धनमयी माला को ग्रहण किया है जिसमें बहुत से लोग डूब जाते हैं।

व्याख्या— यम ने नचिकेता की प्रशंसा करते हुये कहा कि हे नचिकेता! तुमने विवेक द्वारा इन सभी प्रिय सम्बन्धियों एवं प्रिय रूपादि विषयों का परित्याग किया है। जिसमें सभी मनुष्य गोता खाते रहते हैं उस धन की जंजीर से भी जकड़े हुये नहीं हो।

प्रसंग— यम द्वारा नचिकेता को विद्यार्थी के रूप में मानकर उसकी अध्यात्म ज्ञानपिपासा की प्रशंसा—

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।

विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥4॥

अन्वय — या अविद्या या च विद्या इति एते दूरम् विपरीते विषूची च इति ज्ञाता नचिकेतसं त्वा विद्याभीप्सिनं मन्ये बहवः कामाः न (त्वा) अलोलुपन्त ।

हिन्दी अर्थ — (हे नचिकेता!) यह जो विद्या (श्रेय मार्ग) एवं अविद्या (प्रेय मार्ग) हैं। ये दोनों परस्पर बहुत विपरीत स्वभाव एवं फल वाली हैं। (मैं यम) तुम्हें विद्या की चाह वाला समझता हूँ (क्योंकि) अनेक प्रकार की (भौतिक) इच्छाएँ तुम्हें लुभा नहीं पायी।

व्याख्या— हे नचिकेता! यह जो काम कर्मात्मकरूप अविद्या है और वैराग्यतत्त्वरूपा ज्ञानात्मकरूपा जो विद्या है ये दोनों ही जीवन के मार्ग स्वरूपतः तथा फलतः परस्पर अधिक भिन्न हैं तथा विरुद्ध भी हैं। तुमको बहुत से प्रेयाभिलाष पदार्थ भी पथभ्रष्ट नहीं कर सके; अतः मैं तुम्हें विद्याभिलाषी मानता हूँ।

विशेष— अविद्या में निमग्न बड़े बड़े पण्डित ज्ञानी लोग भी अविद्या को ही विद्या मानकर उपदेश देते हुए देखें जाते हैं, जैसे अन्धों का नायक अन्धों को प्रकाश का उपदेश देता है।

प्रसंग— अविद्योपासना में लीन व्यक्ति की निन्दा—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।

दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥५॥

अन्वय — अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः, पण्डितम्मन्यमानाः मूढाः दन्द्रम्यमाणाः अन्धेन एव नीयमानाः यथा अन्धाः (तथैव) परियन्ति।

हिन्दी अर्थ — अविद्या के बीच में उलझे जन अपने आप को विद्वान् एवं पण्डित मानते हुए (स्वयं) जरामरण के दुःख से पीड़ित होने वाले ये मूर्ख (दुःखमय संसार में) उसी तरह भटकते रहते हैं, जैसे अन्ध (व्यक्ति) अन्धे लोगों को भ्रमण कराता रहता है।

व्याख्या— अविद्या के चक्कर में फंसे हुए और अपने को धीर, प्रज्ञावान्, पण्डित और शास्त्र कुशल मानते हुए बहुत से अविवेक जन्ममृत्युजराव्याधि आदि दुःखभार से पीड़ित होते हुए इस संसार सागर में भटकते रहते हैं। तथा औरों को भी पथभ्रष्ट कर देते हैं जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धे को ले चलता है और अपने साथ-साथ दूसरों को भी भवकूप में गिराता है।

प्रसंग — प्रेय मार्ग को सुखद समझने वाले विवेकहीन लोगों की निन्दा—

न साम्पराय प्रतिभाति बालं, प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी, पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥६॥

अन्वय — साम्परायः, प्रमाद्यन्तम् वित्तमोहेन मूढम् बालं प्रति न प्रतिभाति अयं लोकः नास्ति पर इति मानी पुनः पुनः मे वशम् आपद्यते।

हिन्दी अर्थ — धन-मद के कारण (जिस) प्रमादी बालक (की तरह) मूर्ख (व्यक्ति) को परलोक दिखाई नहीं देता (तथा जो) यही संसार है दूसरा नहीं (ऐसा) मानता है (वह) पुनः पुनः मेरे वश में हो जाता है।

व्याख्या— धन के मद से भ्रान्त जो लोग इस पांचभौतिक नश्वर संसार के अतिरिक्त दूसरे किसी परलोक आदि में विश्वास नहीं करते हैं। वे मूढबुद्धि बालक वद् भ्रान्त जन बार-बार यम के वश में आते रहते हैं। अर्थात् बार-बार मरते व जन्मते रहते हैं।

विशेष—

1 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्'।

भगवान् शंकराचार्य की यह उक्ति यहां चरितार्थ होती है॥

आत्मज्ञान की दुर्लभता

प्रसंग— अध्यात्मज्ञान की दुर्लभता पर यम का उपदेश—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥७॥

अन्वय — यः बहुभिः श्रवणाय अपि न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवः यं, न विद्युः। अस्य वक्ता आश्चर्यः लब्धा आश्चर्यः कुशलानुशिष्टः ज्ञाता च आश्चर्यः।

हिन्दी अर्थ — जो (आत्मा) बहुत से लोगों के द्वारा श्रवण के लिये (भी) प्राप्य नहीं पाते (उस) आत्मतत्त्व का कुशल उपदेष्टा दुर्लभ है, उस आत्मतत्त्व को प्राप्त करने वाला दुर्लभ है तथा कुशल (विद्वान्) द्वारा उपदिष्ट ज्ञाता (भी) दुर्लभ है।

व्याख्या— यह आत्मतत्त्व बहुतों को तो सुनने को ही नहीं मिलता, बहुत से सुनकर भी नहीं समझ पाते हैं। इस वस्तु का वक्ता और प्राप्त करने वाला अति दुर्लभ है तथा कुशलाचार्य से उपदेश गृहीता भी दुर्लभ है।

विशेष —

1 मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

यह गीतोक्त वचन भी इसकी दुर्लभता बताता है।

प्रसंग— सामान्य उपदेष्टा अतिसूक्ष्म एवं गम्भीर होने के कारण अध्यात्म विद्या का विवेचन नहीं कर सकता, इस प्रसंग में नचिकेता के प्रति यम का उपदेश।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।

अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति, अणीयान्हातर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८॥

अन्वय — एष अवरेण नरेण प्रोक्तः न सुविज्ञेयः बहुधा चिन्त्यमानः अनन्यप्रोक्ते अत्र गतिः नास्ति हि (एष आत्मा) अणु प्रमाणाद् अणीयान् अतर्क्यम्।

हिन्दी अर्थ — यह आत्मविद्या अणु प्रमाण से भी सूक्ष्म है, अतः तर्क द्वारा लभ्य नहीं है, न सद्गुरु के अतिरिक्त स्वयं विवेचन से ही इस अध्यात्मविद्या में प्रवेश होता है, न अल्पज्ञ व्यक्ति द्वारा उपदिष्ट स्वरूप के विषय में अनेक प्रकार से विवाद करने पर ही सहज भाव से समझ में आने वाला है।

व्याख्या— यह आत्मा न तर्क से लभ्य है, न स्वयं निर्णय का विषय है, न किसी सामान्य व्यक्ति द्वारा कहे गये स्वरूप पर शास्त्रार्थ करने से सुलभ है। यह तो शास्त्रमर्यादा के अनुसार सद्गुरु के सान्निध्य से ही प्राप्य है।

विशेष—

1 गतिरत्र नास्ति— इस संसारानल से बचने का गुरुकृपा के अतिरिक्त कोई भी अन्य उपाय नहीं हैं।

प्रसंग— यह अध्यात्मविद्या तर्क से लभ्य नहीं है।

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।

यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासित्वाद्दृङ्नो भूयान्चिकेतः प्रष्टा ॥९॥

अन्वय — (हे) नचिकेतः! त्वम् याम् आपः एष मतिः तर्केण न आपनेया (प्रत्युत) अन्येन एवं प्रोक्ता सुज्ञानाय (मन्यते) (त्वं) सत्यधृतिः अस्ति त्वादृक् (अन्यः) प्रष्टा न भूयात् ॥

हिन्दी अर्थ— (हे) प्रिय शिष्य नचिकेता! तुम जिस प्रकार की (आध्यात्मिक) बुद्धि प्राप्त कर चुके हो, वैसी (बुद्धि) तर्क द्वारा प्राप्य नहीं है (प्रत्युत) अन्य= सद्गुरु का उपदेश ही (इस विषय में) सहज ज्ञान कराता है। (हे) नचिकेता! तुम निश्चित रूप से निश्चल धारणा शक्ति वाले हो। काश! तुम्हारे जैसा ही प्रष्टा मुझ से (इस विषय में) पूछता।

व्याख्या — यम ने नचिकेता की प्रशंसा करते हुए कहा कि हे प्रिय शिष्य नचिकेता! यह आत्मतत्त्व सम्बन्धिनी मति तर्क के द्वारा नहीं प्राप्त की जा सकती है। किन्तु सदाचार्य गुरुपदेश द्वारा प्राप्तव्य है। उस प्रकार की बुद्धिप्राप्त करने के कारण ही तुम हमें अति प्रिय लगते हो। तुम्हारे जैसा कुशलप्रश्नकर्ता सभी लोग चाहते हैं।

विशेष—

1 योग्य शिष्य को प्राप्त कर योग्य गुरु की प्रसन्नता अभिव्यक्त की गई है।

कर्मफल की अनित्यता

प्रसंग— सांसारिक कर्म एवं भोग्य पदार्थों की अनित्यता का उपदेश—

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्

ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥10॥

अन्वय — शेवधिः अनित्यमिति अहं जानामि ध्रुवं तद् अध्रुवैः हि न प्राप्यते ततः मया नाचिकेतः अग्नि चितः अनित्यैः द्रव्यैः नित्यं प्राप्तवानस्मि ।

हिन्दी अर्थ— हे नचिकेता! मैं जानता हूँ (कि यह सांसारिक) निधि स्थायी नहीं है (एवं यह भी जानता हूँ कि) अनित्य के माध्यम से नित्य की प्राप्ति नहीं होती। अतः मैंने नाचिकेतस अग्नि का चयन करके अनित्य से नित्य (तत्त्व) को प्राप्त किया है।

व्याख्या — यम ने कहा हे नचिकेता! मैं लौकिक कर्म के स्वरूप एवं परिणामों को जानता हूँ। अनित्य वस्तु से नित्य वस्तु ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः मैंने इस नचिकेतस नामक अग्नि का चयन करके इसमें प्रदत्त लौकिक हवियों के द्वारा, इष्टका चयन के द्वारा या त्याग द्वारा शाश्वत शान्ति के लक्ष्यभूत आत्म स्वरूप को पहचान लिया है।

विशेष— शेवधि— कर्मफललक्षणो निधिः।

नचिकेता के त्याग की प्रशंसा

प्रसंग— विवेकपूर्वक अध्यात्मसुख की प्राप्ति के चयन के कारण यम द्वारा नचिकेता की पुनः प्रशंसा— कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम् ।

स्तोम महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यसाक्षीः ॥11॥

अन्वय— धृत्याधीरः (सन् त्वम्) नचिकेतः, च कामस्याप्तिम् जगतः प्रतिष्ठाम्, क्रतोः आनन्त्यम्, अभयस्य पारम् स्तोमम् महद् उरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा (सांसारिकं भोग्यम्) अत्यसाक्षीः ।

हिन्दी अर्थ — कामनाओं की प्राप्ति, जगत की प्रतिष्ठा (या अन्तिम परिणति), यज्ञ के आनन्त्य (यज्ञ फल के आनन्त्य), अभय की परमावधि स्तुति योग्य (अणिमादि अष्ट सिद्धियों की) महत्ता एवं (अध्यात्म क्षेत्र में) व्यापक गति (के कारण अपनी) प्रतिष्ठा को (अन्तः प्रज्ञा से समझकर देखकर धैर्यपूर्वक (तुमने) हे धीर! नचिकेता (ऐहिक वस्तुओं का) परित्याग कर दिया है।

व्याख्या— यम ने कहा — तुमने कामनाओं की प्राप्ति एवं परिणति, जगत् की चरम परिणति, यज्ञों के विविध फलों, अभय की चरमावधि, अणिमादि अष्टसिद्धियों की महत्ता एवं अध्यात्म क्षेत्र में अपनी व्यापकप्रतिष्ठा को समझ कर ऐहिक सुखों का परित्याग कर दिया है, यह तुम्हारी बुद्धि का वैशिष्ट्य है।

विशेष—

- 1 यह सम्पूर्ण मन्त्र तुलनात्मक भाव को प्रस्तुत करता है।
- 2 क्रतोरानन्त्यम्— इस पद से 'हिरण्यगर्भ' का भाव अभिव्यक्त हुआ है।

आत्मज्ञान का फल

प्रसंग— आत्म ज्ञान से दुःखनिवृत्ति—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवंमत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥12॥

अन्वय— तं, दुर्दर्शम् गूढम्, अनुप्रविष्टम्, गुहाहितम्, च गह्वरेष्ठम्, पुराणम् देवम्, अध्यात्मयोगाधिगमेन मत्वा धीरः हर्षशोकौ जहाति ।

हिन्दी अर्थ — (हे नचिकेता) उस कष्टसाध्य, गूढ (सभी पदार्थों में) प्रविष्ट, (हृदय—रूपी) गुफा में स्थित (रहस्य की) गहराई में स्थित, नित्य (दिव्य गुणवाले आत्मा रूपी) देव की धीर मनुष्य अध्यात्म योग की प्राप्ति द्वारा

जानकर हर्ष एवं शोक को छोड़ देता है।

व्याख्या— उस दिव्यगुणवाले हृदयस्थ गूढ, व्यापक एवं रहस्यात्मक आत्मतत्त्व को अध्यात्म योग के द्वारा प्राप्त करके बुद्धिमान्, धीर पुरुष अपने दुःख सुख दोनों का त्याग कर देता है। तथा परमानन्द प्राप्त करता है।

विशेष— हर्ष व शोक दोनों से अप्रभावित मानव परमानन्द प्राप्त कर लेता है।

प्रसंग— आत्मज्ञान से आत्मानन्द की प्राप्ति—

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।

स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सदम नचिकेतसं मन्ये ॥13॥

अन्वय— एतद्, अणुम् धर्म्यं श्रुत्वा, प्रवृह्य, सम्परिगृह्य, मोदनीयम् एतम् आप्य (तदर्थम्) विवृतं सदम लब्ध्वा स धीरः मोदते (अतः) नचिकेतसम् अपि विवृतं सदम मन्ये।

हिन्दी अर्थ — मनुष्य इस (आत्मतत्त्वविषयक उपदेश) को सुनकर (उस पर) विचार कर (तथा उसे) बुद्धिस्थ करके इस (धर्म के योग्य या) धर्मरूप, अणुरूप एवं आनन्दमय (आत्मतत्त्व) को (निश्चित रूप से) समझ लेता है। (तत्पश्चात्) उसे प्राप्त कर आनन्दित हो जाता है। अतः मैं यम नचिकेता के लिये आत्मज्ञान का द्वार खुला हुआ मानता हूँ।

व्याख्या— मरणधर्मा मनुष्य इस आत्मोपदेश को सुनकर, अच्छी तरह मनन करके तत्पश्चात् अणु, रूप, धर्मरूप, आनन्दरूप आत्मानन्द का अनुभव करता है। इस प्रकार तृतीय प्रश्न का उत्तर देते हुए यम मोक्षाधिकारी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि तुम्हारे आत्मज्ञान के मार्ग में कोई बाधा नहीं है।

विशेष— धर्म्यम्— यहाँ आत्मा को सभी धर्मों का मूल कहा गया है। न्याय वैशेषिक दर्शन में भी धर्माधर्म आत्मा के गुण बताये हैं।

सर्वातीतवस्तुविषयक प्रश्न

प्रसंग— आत्मा के विषय में नचिकेता की जिज्ञासा—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥14॥

अन्वय— यद् धर्मात् अधर्मात् अन्यत्र अस्मात् कृताकृतात्, अन्यत्र भूतात्, भव्यात्, च यत् तत् पश्यसि तद वद।

हिन्दी अर्थ — धर्म एवं अधर्म से भिन्न, कार्य—कारण भाव से भिन्न, तथा भूत—भविष्य से भिन्न जिस (आत्मतत्त्व) को आप देखते हैं, उसका मुझे उपदेश कीजिये।

व्याख्या— नचिकेता ने अपनी आत्मज्ञान प्राप्ति की पात्रता को जानकर यम से प्रार्थना की कि हे यम! यज्ञादि साधन कर्म से जो उपाय भूत है उससे विलक्षण तथा तत्कर्म साध्य फलभूत सुखादि से विलक्षण एवं कर्ता से विलक्षण और भूत, भविष्य और वर्तमान कालत्रय परिच्छेद से परे उस मोक्षरूप आत्मतत्त्व का निरूपण करें।

विशेष—

1 भव्यात्— भूतादन्यत्र।

‘भव्यं शुभे च सत्ये च योग्ये भाविनि तु त्रिषु।

अमरकोष (रामाश्रमीरी) यहाँ भविष्यत् अर्थ यह शब्द प्रयुक्त है।

ओङ्कारोपदेश

प्रसंग— यम द्वारा नचिकेता को “ॐ” का उपदेश—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्यमित्येतत् ॥15॥

अन्वय— सर्वे वेदाः, यत्पदम् आमनन्ति सर्वाणि तपांसि च यद् वदन्ति यद् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत् पदम् ते संग्रहेण ब्रवीमि ओम् इति एतत् ।

हिन्दी अर्थ— (हे नचिकेता!) जिसका प्रतिपादन सभी वेद करते हैं, सभी तप करते हैं, एवं जिसकी इच्छा से (लोग) ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, उस (ब्रह्मस्वरूपात्मक) “ओम्” पद का मैं (यम) तुम्हें संक्षेप में यह उपदेश देता हूँ।

व्याख्या— जिस रहस्यात्मक ओम् पद के विषय में सम्पूर्ण वेद, तप एवं ब्रह्मचर्यादि व्रत अपने अपने अनुसार व्याख्यान या उपदेश देते हैं, उसी ब्रह्म स्वरूपात्मक “ओम्” पद का संक्षेप में मैं तुम्हें उपदेश देता हूँ जो साधारण से साधारण एवं महान् से महान् है।

विशेष—

- 1 वह ओम् प्रणववाच्य परमात्मा है, यद्यपि उसमें अकार, उकार और मकार की वाच्यता भिन्न भिन्न हैं तथापि अन्त में एकार्थ का प्रतिपादन होता है।
- 2 “न जायते म्रियते वा कदाचित् ।”
“अविनाशि तु तद्विद्धि”,
“ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः”
इत्यादि भगवद्गीतोक्त वचनों से साम्यत्व है।

ऊँकार— प्रशंसा

प्रसंग— “ऊँ” कारोपासना की महिमा—

एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम् ।

एतद्धयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥16॥

अन्वय— एतत् अक्षरम् हि एव ब्रह्म एतत् हि एव अक्षरम्, च परम् । एतत् हि एव अक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।

हिन्दी अर्थ — यह “ऊँ” अक्षर ही ब्रह्म है, यही अक्षर सर्वोत्कृष्ट (दार्शनिक या आध्यात्मिक एवं व्यापक) है। जो इस अक्षर को जान लेता है, वह जो चाहता है, उसे प्राप्त कर लेता है।

व्याख्या— यह प्रणवात्मक अक्षर ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मप्राप्ति के साधन होने से अनेक वचनों से सिद्ध है कि ओम् इस अक्षर से परमपुरुष की उपासना करनी चाहिये। यही “ऊँ” कार्य ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म हैं, जिसे जानकर योगी कामचारी बन जाता है।

विशेष—

- 1 ब्रह्म — यहाँ सगुण ब्रह्म राम कृष्णादि है।
- 2 परम— यहाँ निर्गुण ब्रह्म है।

प्रसंग— ऊँ कारावलम्बन से श्रेय की प्राप्ति—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥17॥

अन्वय— एतद् श्रेष्ठम् आलम्बनम्, एतद् परम् आलम्बनम् । एतद् (एव) आलम्बनम् ज्ञात्वा ब्रह्मलोके (जनः)

महीयते ।

हिन्दी अर्थ— यही (ऊँ का) अवलम्बन श्रेष्ठ है, यही अवलम्बन (आध्यात्मिक) चरम अवलम्बन है। इसे जानकर (मनुष्य) ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है।

व्याख्या— इस प्रणवात्मक ब्रह्म का आश्रय सर्वश्रेष्ठ है इसलिये सर्वोत्कृष्ट भी है, इसको भली प्रकार से जानकर ब्रह्मलोक में भी जीव पूजनीय होता है।

आत्मस्वरूप निरूपण

प्रसंग— आत्मा के स्वरूप का विवेचन—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्नबभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥18॥

अन्वय— अयं विपश्चित् न जायते न वा म्रियते कुतश्चित् न बभूव अस्मात् किञ्चित् न अजः नित्यः शाश्वतः (अयम्) पुराणः शरीरे हन्यमाने न हन्यते ।

हिन्दी अर्थ — यह ज्ञानरूप आत्मा न उत्पन्न होती है, न मरती है न कहीं से उत्पन्न हुई है, न कोई (मनुष्यादि की तरह इस का उत्पादक) है। अजन्मा, नित्य, शाश्वत एवं पुराणरूप आत्मा शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता।

व्याख्या— यह सर्वविद् आत्मा जन्म और मृत्यु का आश्रय नहीं होता तथा कर्तृत्वरहित है। यह नित्य एवं शाश्वत होने के कारण किसी भी कारण सामग्री से उत्पन्न नहीं होता है। अविकृत आत्मा शरीर से भिन्न है, अतः शरीर नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता है।

विशेष—

1 विपश्चित्— यह आत्मा का विशेषण है, स्वरूपतः वह निर्गुण एवं ज्ञानरूप है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भविता वा नभूयः।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे। 2.20

गीता के प्रस्तुत श्लोक से साम्य दर्शनीय है।

प्रसंग— मृत्यु का कारण एवं मृत्यु का अनुभव ये दोनों ही मायावी बुद्धि के लक्षण है।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥19॥

अन्वय— हन्ता चेत् हन्तुं मन्यते, हतः चेत् हतं मन्यते, उभौ तौ न विजानीतः (यत्) अयम् न हन्ति न हन्यते ।

हिन्दी अर्थ— (जो इस आत्मा) को मारने वाला (अपने आपका) समझता है, यदि अपने को कोई मारा गया मानता है, (तो) वे दोनों ही आत्मा के विषय में नहीं जानते (कि) यह न किसी को मारता है। न स्वयं मारा जा सकता है।

व्याख्या— यम ने कहा कि जो इस अविनाशी आत्मा को मारने वाला या मरने वाला समझता है वे दोनों ही इस आत्मविषयक ज्ञान से शून्य हैं, क्योंकि वस्तुतः यह न किसी को मारता है न किसी से मारा जाता है।

विशेष— य एनं वेति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥2.19

इस गीतोक्त वचन का साम्य इस मन्त्र में है।

प्रसंग— आत्मा की सूक्ष्मता एवं व्यापकता का वर्णन किया गया है।

अणोरणीयन्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।।20।।

अन्वय — अणोः अणीयान् महतः महीयान् आत्म अस्य जन्तोः गुहायाम्, निहितः क्रतुः वीतशोकः धातुप्रसादात् आत्मनः तम् महिमानम् पश्यति।।

हिन्दी अर्थ — सूक्ष्म से भी सूक्ष्म महान् से भी महान् यह आत्मा जीव के (हृदय) गुफा में निहित है। ब्रह्म की कृपा से ही उस आत्मा की महिमा को निष्काम कर्म करने वाला वीतरागी व्यक्ति देखता है।

व्याख्या— यम नचिकेता को आत्मस्वरूप समझाते हुये कहते हैं कि यह आत्मा सर्वव्यापक एवं नित्य होने के कारण सूक्ष्मातिसूक्ष्म ही नहीं है: बल्कि यह महान् से भी महान् है। अतः यह आकाश, देश, कालादि की सीमा से परे है, जिसका वीक्षण निष्काम कर्म करने वाला वीत-शोक ही भगवत्कृपा से कर सकता है। यह आत्मा सगुणोपासक भक्तों के लिये सगुणरूप में तथा निर्गुणोपासक विशद्व अध्यात्मवादियों के लिये निर्गुणरूप में हैं।

विशेष—

1 ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।।

गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने निर्गुण-सगुण स्वरूपों को बताया है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतम् महत्।

उपनिषदों की सारभूत गीता के श्लोकों में उपर्युक्त मन्त्र शब्दतः और भावतः उपलब्ध होते हैं।

प्रसंग— वह आत्मतत्त्व एकत्र स्थित होकर भी सर्वत्र विद्यमान रहता है।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।

कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।21।।

अन्वय— आसीनः (सन्) दूरं व्रजति शयानः सर्वतः याति मदामदं देवं मदन्यः कः ज्ञातुम् अर्हति।

हिन्दी अर्थ— (यह आत्मा) बैठा हुआ भी दूर चला जाता है। सोया हुआ भी सर्वत्र चला जाता है (या गति करता है)। मेरे अतिरिक्त कौन (इस) हर्ष-अहर्ष रूप परमेश्वर को जान सकता है।

व्याख्या— सूक्ष्मातिसूक्ष्म यह आत्मा एक स्थान पर स्थित होकर भी दूर-दूर तक अभिव्याप्त है तथा सोता हुआ भी चारों ओर व्याप्त है। ऐसे हर्ष शोकादिरहित उस परम आत्मतत्त्व को भगवत्प्रसाद से अनुगृहीत हमसे भिन्न दूसरा कौन जानने में समर्थ है।

विशेष— 'मदन्यः' — इस पद से नचिकेता का भी उपलक्षण प्रतीत होता है क्योंकि उसमें भी आत्मज्ञान की अर्हता विद्यमान है।

प्रसंग— आत्मतत्त्व के विभुत्व का प्रतिपादन —

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।22।।

अन्वय— शरीरेषु, अनवस्थेषु, अशरीरम्, च अवस्थितम्, आत्मानम्, महान्तम्, विभुं मत्वा धीरो न शोचति।

हिन्दी अर्थ— अशरीरी (एवं) अन्य शरीरों का अवलम्बन लेकर नहीं रहने वाले (फिर भी व्यापक होने के कारण उन जीवों के) शरीरों में स्थित विभु एवं महान् आत्मा को जान कर धीर व्यक्ति शोक नहीं करता।

व्याख्या— आत्मा के सम्बन्ध में यम ने फिर कहा— अनित्य शरीरों में नित्य आत्मा स्वयं आकाररहित होकर रहता है। इसी नित्य, महान्, सर्वव्यापक आत्मा को भली प्रकार से जान लेने पर ज्ञानी व्यक्ति शोक मोह

से मुक्त हो जाता है।

आत्मा हरि-कृपा साध्य है

प्रसंग— इस आत्मा की दुरुहता का निरूपण —

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥23 ॥

अन्वय— अयम् आत्मा प्रवचनेन न लभ्यः, न मेधया न बहुना श्रुतेन (लभ्य इति शेषः) एष यं वृणुते, तेन एव लभ्यः एष तस्य स्वां तनूं विवृणुते।

हिन्दी अर्थ— यह आत्मा न प्रवचन से न मेधा (शक्ति) से न बहुत (उपदेश) सुनने से प्राप्त होता है। यह (आत्मा) वरण करता उसी द्वारा यह लभ्य है (तथा) उसी को अपना स्वरूप (प्रकाश) प्रकट करता है।

व्याख्या— यह आत्मतत्त्व न वेदादिशास्त्रों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर आत्मविषयक प्रवचन करने वालों को, न बुद्धि विशारद को, न अधिक उपदेशादि श्रवण करने वाले को प्राप्त होता है अपितु जिसे यह स्वयं कृपा पूर्वक अपनाता है केवल उसी को प्राप्त होता है और उसी के सम्मुख अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करता है।

आत्मज्ञान का अनधिकारी

प्रसंग— किस व्यक्ति को आत्मा अलभ्य है? इस प्रसंग में यम ने नचिकेता से कहा कि दुष्कर्म इत्यादि विपरीत भाव वालों को यह लभ्य नहीं है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥24 ॥

अन्वय— न दुश्चरितात् अविरतः न अशान्तः न असमाहितः न वा अशान्तमानसः अपि एवं प्रज्ञानेन आप्नुयात्।

हिन्दी अर्थ— दुश्चरित्र से विरत न रहने वाला, अशान्त रहने वाला, असावधान तथा चंचल मन वाला भी केवल प्रजा के बल पर इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

व्याख्या— जिसने पाप कर्मों से अपने मन को नहीं हटाया, जो अशान्त है, जिसका मन और इन्द्रियां जिसके वश में नहीं हैं एवं जो चंचल चित्तवाला है वह केवल अपने प्रचण्ड ज्ञानाभिमान से उस परमतत्त्व आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता है।

प्रसंग— सम्पूर्ण संसार का नियन्त्रक होने के कारण आत्मा का विषय सरलता से जान पाना कठिन है।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥25 ॥

अन्वय— यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे ओदनः भवतः मृत्युः यस्य उपसेचनम् इत्था सः यत्र (तिष्ठति) कः वेद।

हिन्दी अर्थ— जिस का ज्ञान एवं बल दोनों ओदन हो, मृत्यु जिसका (ओदन को सींचने वाला) वृत् इत्यादि उपस्कर हो, ऐसा वह आत्मा कहाँ रहता है। इसे कौन जानता है?

व्याख्या— जिस परमात्मा के ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही भोज्य पदार्थ हैं अर्थात् सम्पूर्ण विश्व ही जिसका भक्ष्य पदार्थ है, मृत्यु स्वयं जिसके भोज्य पदार्थों में चटनी की तरह स्थित है, उस परमतत्त्व को कौन बता सकता है कि वह कहाँ है? अर्थात् कोई भी नहीं बता सकता।

विशेष—

1 यह मन्त्र संकेत के माध्यम से आत्मा के व्यापक, नित्य एवं रहस्यात्मक स्वरूप को प्रकट करता

प्रतीत होता है।

॥ द्वितीय वल्ली समाप्त ॥

5.4 सारांश

कठोपनिषद् का आरम्भ वाजश्रवा के पुत्र वाजश्रवस नामक ऋषि के विश्वजिन्नामक यज्ञ से होता है जिसमें उन्होंने सर्वस्व धनादि ऋत्विजों को दान कर दिया। उनका एक नचिकेता नाम का पुत्र था। बाल्यावस्था में ही अत्यन्त विलक्षण बुद्धि होने के कारण उसके मन में आशंका उठी कि यदि मेरे पिताजी ऐसी वृद्ध, असमर्थ गायों का दान करेंगे तो उन्हें नरक में जाना पड़ेगा। ऐसा विचार कर उसने पिता से पूछा आप मुझे किसको दान करेंगे? पिता ने क्रुद्ध होकर कहा यमराज को। तदुपरान्त नचिकेता यमराज के पास जाते हैं, यम के द्वार पर तीन दिन विना अन्न जल ग्रहण किए रहते हैं, अतः यम प्रसन्न होकर तीन वर देने का उद्यत हो गये। प्रथम वर नचिकेता ने पिता की प्रसन्नता प्राप्ति का मांगा। द्वितीय वर के रूप में स्वर्ग प्राप्त कराने वाली अग्नि विद्या का उपदेश प्राप्त किया। अग्निविद्या के उपदेश को वैसे का वैसे सुनाने के कारण यमदेवता अतीव प्रसन्न होकर नचिकेता के नाम पर उस अग्नि विद्या का नामकरण कर देते हैं। तृतीय वर के रूप में आत्मरहस्य जानने के लिये प्रार्थना करने पर यम ने पहले स्वर्गादि भोगों का प्रलोभन दिया परन्तु बालक नचिकेता की मानसिक दृढ़ता के कारण उसे आत्मतत्त्व का ज्ञान दिया।

प्रथमाध्याय की द्वितीय वल्ली में सम्यक्तया आत्मतत्त्वज्ञान का विवेचन किया गया है। श्रेयमार्ग का आश्रय लेने से उत्तमगति तथा प्रेयमार्ग का आश्रय लेने से अधोगति की प्राप्ति होती है। विवेकी व्यक्ति श्रेय का तथा मन्दबुद्धि प्रेय का आश्रय लेता है। नचिकेता की प्रशंसा करते हुये अविद्या और विद्या तत्त्व का उपदेश दिया। जो अविद्या में निमग्न बड़े बड़े पण्डितमानी लोग अविद्या को ही विद्या मानकर उपदेश देते हुए देखे जाते हैं। वे अन्धे अन्धों को मार्ग दिखाने जैसा कार्य करते हैं। यम ने कहा कि इस आत्मतत्त्व को जानने वाला कोई विरला ही होता है। प्रवचन, योगाभ्यास दान, अध्ययनादि से इसे जान पाना असम्भव है। उस अजर, अमर, अविनाशी, पुरातन आत्मा को अनित्य सांसारिक वस्तुओं के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। उस आत्मज्ञान से सुखदुःखादि का नाश हो जाता है और परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

इसके बाद यमराज ने ऊँकार प्रणव की महिमा का वर्णन किया तथा इसको प्राप्त करने के बाद कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता है। वह आत्मा न कभी मरता है और न ही जन्म लेता है।

5.5 पारिभाषिक शब्दावली

अवतु	—	रक्षा करे
उशन्	—	कामना वाला
वाज	—	अन्न का दान
श्रव	—	यश
आविवेश	—	उत्पन्न हुई।
जग्धतृण	—	घास खाने में असमर्थ
दुग्धदोहा	—	दूध देने में असमर्थ
किंस्वित्	—	कौन सा
सस्यम्	—	धान्य
प्रतिपश्य	—	देखकर
उदकम्	—	जल

सुनृताम्	—	प्रिय वाणी
वृणीष्व	—	मांग लो
शयिता	—	सोयेंगें
तीर्त्वा	—	अतिक्रमण करके
प्रब्रूहि	—	उपदेश दो
निबोध	—	जान लो
निहितम्	—	निविष्ट
त्रिकर्मकृत	—	यज्ञ, वेदाध्ययन, दान।
निचाय्य	—	देखकर
प्रणोद्य	—	अतिक्रमण कर
उपरोत्सी	—	आग्रह न करो
अतिसृज	—	त्याग दो
विचिकित्सितम्	—	संशय किया है
आत्थ	—	कहा
शरद	—	एक वर्ष
महाभूमौ	—	पृथ्वी पर
परिचारयस्व	—	सेवा कराइये।
श्रेयः	—	कल्याण मार्ग
प्रेय	—	भोग मार्ग
अलोलुपन्त	—	लुभा सके
आपद्यते	—	आ पडता है
अवरेण	—	साधारण
नाचिकेतः	—	नाचिकेत नामक अग्नि का
इत्था	—	इस रूप में।

5.6 बोधप्रश्न

- 1 वाजश्रवा के पुत्र का क्या नाम था?
- 2 नचिकेता को कितने वरदान प्राप्त हुये?
- 3 यम ने नचिकेता को कौनसा अतिरिक्त वर प्रदान किया?
- 4 यमराज ने नचिकेता को क्या-क्या प्रलोभन दिये?
- 5 आत्मतत्त्व का निरूपण करो।

5.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- 1 कठोपनिषद्— डॉ. रामरंग शर्मा, भारतीय विद्या प्रकाशन
- 2 ईशादि नौ उपनिषद् — शांकरभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर

- 3 कठोपनिषद् – व्याख्या – डॉ. देवेन्द्रनाथ पाण्डेय, हंसा प्रकाशन
- 4 कठोपनिषद् – डॉ. आचार्य सुरेन्द्रदेव शास्त्री. चौखम्बा विद्याभवन।

5.8 बोधप्रश्नोत्तर

- 1 नचिकेता
- 2 तीन
- 3 स्वर्ग्य अग्नि का नामकरण नचिकेता के नाम पर किया।
- 4 लौकिक व पारलौकिक भोग व सुख की सामग्री अप्सरा आदि को प्राप्त करने के प्रलोभन दिए।
- 5 आत्मा ज्ञान रूप है, यह जन्म-मृत्यु से परे एक नित्य तत्त्व है। अणु से भी सूक्ष्म व महान् से भी महान् तत्त्व है। इसका उपदेश से ज्ञान प्राप्त नहीं होता, यह अपना स्वरूप स्वयं प्रकट करता है, अथवा आत्म साक्षात्कार से ही इसका ज्ञान सम्भव है।

कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय : तृतीय वल्ली

इकाई की रूपरेखा

- | | |
|-----|--|
| 6.0 | उद्देश्य |
| 6.1 | प्रस्तावना |
| 6.2 | कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय : तृतीय वल्ली (श्लोक, अनुवाद एवं व्याख्या) |
| 6.3 | सारांश |
| 6.4 | पारिभाषिक शब्दावली |
| 6.5 | बोध प्रश्न |
| 6.6 | कुछ उपयोगी पुस्तकें |
| 6.7 | बोध-प्रश्नों के उत्तर |

6.0 उद्देश्य —

हम बी.ए. तृतीय वर्ष के द्वितीय प्रश्न पत्र की इकाई संख्या 6 का अध्ययन करने जा रहे हैं। पाँचवी इकाई में हमने नचिकेता के तीन वर, आत्मा का स्वरूप, श्रेयप्रेय, ओंकारोपदेश आदि विषयों को जाना।

इस इकाई में हम कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की तृतीय वल्ली का अध्ययन करेंगे जिसमें हम —

- ↑ रथ ओर रथी के रूपक को समझ सकेंगे।
- ↑ विवेकी और अविवेकी के बारे में जान सकेंगे।
- ↑ निर्विशेष आत्मज्ञान से अमृतत्व की प्राप्ति को जानेंगे।
- ↑ आत्मा की सूक्ष्म बुद्धि ग्राह्यता को जान सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

यम के द्वार पर ब्राह्मण नचिकेता के तीन रात्रि तक भूखे-प्यासे रहने पर यम ने प्रायश्चित-स्वरूप नचिकेता से तीन वर मांगने को कहा। नचिकेता ने प्रथम वर पिता का पुनः प्रेम, द्वितीय वर स्वर्ग्य अग्नि का ज्ञान और तृतीय वर के रूप में आत्मज्ञान को मांगा कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की प्रथम वल्ली में इन वरों के विषय में वर्णन हम पढ़ चुके हैं। द्वितीय वल्ली में आत्मज्ञान के बारे में कुछ ज्ञात कर चुके हैं। उसी प्रसंग में आत्मा के भेदादि तृतीय वल्ली में प्राप्त होते हैं। अतः आत्मा को ही आधार बनाकर प्रवृत्त इस तृतीय वल्ली को हम प्रस्तुत इकाई में पढ़ेंगे।

6.2 कठोपनिषद् प्रथम अध्याय (तृतीय वल्ली) श्लोक, अनुवाद एवं व्याख्या

प्रसंग : — प्राप्ता और प्राप्तव्य स्थान तथा गमन करने वाले और गन्तव्य लक्ष्य का विवेक करने के लिये दो आत्माओं का उपन्यास करते हैं—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥१॥

अन्वयः — ब्रह्मविदः ये च पंचाग्न्यः, त्रिणाचिकेताः सुकृतस्य तं पिबन्तौ लोके परमे परार्धे छायातपौ (इव) प्रविष्टौ (इति) वदन्ति ।

हिन्दी अर्थः — गृहस्थाश्रम में निवास करने वाले या पंचाग्नि के उपासक, ब्रह्मवादी एवं नाचिकेतस अग्नि

का तीन प्रकार से अनुष्ठान करने वाले या तीन बार अनुष्ठान करने वाले विद्वान्, धूप एवं छाँव की तरह जीवात्मा एवं परमात्मा को अपने पुण्य का फल कराते हुए इस शरीर की बुद्धि रूपी गुफा में प्रविष्ट बताते हैं।

व्याख्या — इस श्लोक में बताया गया है कि जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों उपाधिसहित एवं उपाधिरहित एक ही परमात्मा के अंश हैं। गृहस्थाश्रमवासियों एवं नाचिकेतस् अग्नि का त्रिविध अनुष्ठान करने वाले विद्वानों ने इस विषय में विचार करते हुए कहा है कि इन दोनों में से एक तो सुन्दर कर्म का अवश्य प्राप्य फल भोगता हुआ सोपाधिक जीवात्मा है तथा दूसरा निरुपाधिक परमात्मा है। जीव और ईश्वर की दृष्टि से ये अलग प्रतीत होते हैं; किन्तु आत्मतत्त्व की दृष्टि से दोनों एक हैं, एवं इस शरीर की बुद्धिरूपी गुफा में प्रविष्ट हैं। यहाँ यद्यपि उपर्युक्त भाव पूर्ण रूप से शब्दों में नहीं कहे गये हैं। फिर भी द्विवचनान्त पदों की व्याख्या से इस प्रकार का अर्थ संगत प्रतीत होता है।

प्रसंग — इस संसार सागर को पार करने के लिये नाचिकेतस् अग्नि को सेतुरूप बताया गया है—

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।

अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि।।2।।

अन्वय — ईजानानाम् यः सेतुः पारं तितीर्षताम् यद् अभयम् अक्षरं परं ब्रह्म तं नाचिकेतसं शकेमहि।

हिन्दी अर्थ — जो अग्नि यजन करने वालों के लिये दुःखमय संसार सागर को पार करने का पुल है, जो अविनाशी ब्रह्म रूप (यह) नाचिकेतस अग्नि संसार सागर को पार करने वालों को अभय प्रदान करने वाला है, उसे हम जान सकते हैं।

व्याख्या — यम नचिकेता से कहते हैं कि यह नाचिकेतस अग्नि अभय प्रदान करने वाले सेतु का कार्य करती है, किन्तु सिर्फ उन लोगों को ही अभय प्रदान करती है जो यज्ञ-कर्म के द्वारा संसार सागर को पार करने की इच्छा रखते हैं और यज्ञ में अग्नि का आह्वान करते हैं। कहा गया है कि ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग दुरुह है। किन्तु यह अग्नि पुल बनकर इस मार्ग को सुगम बनाती है।

विशेष — पारं तितीर्षताम्— अर्थात् जो लोग इस संसार सागर से पार जाना चाहते हैं।

2 नचिकेतस अग्नि परमतत्वप्राप्ति की साधनभूत कही गई है।

शरीरादि से सम्बन्धित रथादि रूपक

प्रसंग — आत्मा व शरीर को रथ व रथी के रूपक द्वारा समझाया जा रहा है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।3।।

अन्वय— आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं तु रथम् एव। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनश्च प्रग्रहम् एव।

हिन्दी अर्थ — आत्मा को रथी जानो, शरीर को ही रथ समझो। बुद्धि को सारथि एवं मन को (रथ में योजित अश्वों की) लगाम समझो।

व्याख्या — नचिकेता को समझाते हुए यम कहते हैं कि नचिकेता तुम इस शरीर को रथ और उसमें रहने वाली आत्मा को रथी मानो। ये शरीर रथ अपने भीतर बन्धे हुए इन्द्रिय गण से खींचा जाता है और बुद्धि को सारथी मानो; क्योंकि निश्चय कराने वाली तो बुद्धि ही होती है। समस्त निश्चय, कार्य प्रायः बुद्धि के ही कर्तव्य होते हैं। मन को इस प्रक्रिया में लगाम समझो क्योंकि मन संकल्पात्मक विकल्पात्मक प्रवृत्ति वाला होता है। जिस प्रकार अश्व लगाम से नियन्त्रित होकर रथ चलाते हैं। उस प्रकार नेत्रादि इन्द्रियाँ मनरूपी लगाम से शरीर रूपी रथ को चलाती हैं।

विशेष —

आत्मा — रथी

शरीर — रथ
बुद्धि — सारथि
मन — लगाम

प्रसंगः — इस श्लोक में रथादि के अन्य रूपक दिये जा रहे हैं—

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥४॥

अन्वय— मनीषिणः इन्द्रियाणि हयान् तेषु विषयान् गोचरान् आहुः । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम् (शरीरस्थमात्मानम् मनीषिणः) भोक्ता इति आहुः ।

हिन्दी अर्थ — विद्वानों ने (इन) इन्द्रियों को विषयरूपी मार्ग पर (दौड़ने वाले) अश्व (एवं) इन्द्रिय तथा मन से संयुक्त आत्मा को भोक्ता के रूप में माना है ।

व्याख्या — ये शरीर रूपी रथ कहाँ एवं किस प्रकार से गमन करेगा? इसका गन्तव्य क्या होगा? इस विषय में यम नचिकेता से कहते हैं कि शरीररूपी रथ में इन्द्रियों को घोड़े के समान जानो । रूपादि जो विषय है उनका इस रथ का मार्ग जानो । शरीर, इन्द्रिय और मनसहित जो आत्मा है, उसे विवेकी पुरुष संसारी—भोक्ता कहते हैं ।

विशेष — यह जो भोक्ता आत्मा कही गई है, यह सोपाधिक है; क्योंकि निरुपाधिक आत्मा तो संसारी नहीं है, वह तो निर्लिप्त व निर्विकार है ।

अविवेकी की विवशता

प्रसंग— आत्मज्ञान के विषय में अविवेकी की दशा को यहाँ प्रदर्शित किया गया है—

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥५॥

अन्वय — यः तु अविज्ञानवान् सदा अयुक्तेन मनसा भवति, तस्य इन्द्रियाणि सारथेः दुष्टाश्वा इव अवश्यानि (भवन्ति) ।

हिन्दी अर्थ — जो अविवेकी व्यक्ति सर्वदा असावधान होता है, उसकी इन्द्रियाँ सारथि के दुष्ट घोड़ों की तरह विवश हो जाती हैं ।

व्याख्या— जो मनुष्य 'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' भाव को जानते हुए भी असावधान रहता है, उस अविवेकी व्यक्ति की इन्द्रियाँ अपने वश में ठीक उसी प्रकार नहीं रहती, जिस प्रकार अदक्ष सारथी के वश में दुष्ट घोड़े नहीं रहते । जिस प्रकार दुष्ट घोड़े सारथि को अलक्ष्य की ओर ले जाकर दुःख देते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी जीव को ब्रह्मोन्मुखी नहीं होने देतीं और उसे मायाजाल में फंसे रहने से मोक्ष नहीं मिलता ।

विशेष —

- 1 अध्यात्मविद्या की उपलब्धि के लिये इन्द्रियों को वश में रखा जाए ।
- 2 मन को एकाग्रचित्त रखा जाए ।

विवेकी की स्वाधीनता

प्रसंग — इस श्लोक में विवेकी व्यक्ति की मनः स्थिति का वर्णन किया गया है ।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥६॥

अन्वय — यः तु सदा युक्तेन मनसा विज्ञानवान् भवति तस्य इन्द्रियाणि सारथेः सदश्वा इव वश्यानि भवन्ति ।

हिन्दी अर्थ— जो सदा सावधान मन वाला विवेकी व्यक्ति होता है। उसकी इन्द्रियाँ अच्छे सारथि के अच्छे (सुनियन्त्रित) घोड़ों की तरह वश में रहने योग्य होती है।

व्याख्या — यहाँ यम नचिकेता को समझाते हुए कहते हैं कि अविवेकी व्यक्ति की तो इन्द्रियाँ वश में नहीं रहती हैं, किन्तु विवेकी पुरुष बुद्धि से काम करता है, कुशल और सर्वदा समाहितचित्त रहता है, उसके अधीन इन्द्रियाँ प्रवृत्त किये जाने पर इतनी समर्थ होती हैं, जितनी कि एक सारथी के लिये अच्छे घोड़े।

विशेष —

- 1 अच्छा सारथी रथ ठीक से चलाए इसके लिए आवश्यक है कि घोड़े भी अच्छे हों।
- 2 वशीकृत इन्द्रियाँ जीव को अपना लक्ष्य प्राप्त करने में मदद करती है।
- 3 संयतेन्द्रिय मनुष्य आत्मोन्मुख होकर समस्त जीवों का हित कर सकता है।

अविवेकी की संसारप्राप्ति

प्रसंग — अविवेकी पुरुष को सदैव संसार की ही प्राप्ति होती है। उस परमपद की नहीं। प्रस्तुत श्लोक में यह बात बताई गई है—

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाशुचिः।

न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥7॥

अन्वय — यः तु अविज्ञानवान् अमनस्कः सदा अशुचिः भवति सः तत् पदम् न आप्नोति संसारं च अधिगच्छति।

हिन्दी अर्थ — असावधान मन वाला अज्ञानी व्यक्ति हमेशा अपवित्र रहता है तथा वह उस ब्रह्म के परम पद को नहीं प्राप्त करता (बल्कि दुःखमय) संसार को ही प्राप्त करता है।

व्याख्या — अविवेकी पुरुष का चित्त चूंकि आत्मचिन्तन में नहीं रहता है और वह तो सदैव सांसारिक भोगों का विचार करता है अतः वह बड़ा ही अव्यवस्थित चित्त वाला और अपवित्र मन वाला होता है। परिणामस्वरूप उसे परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता है वह तो पुनः पुनः इस जन्म मरण के चक्र में फंसा जाता है।

विशेष—

- 1 अगर पारलौकिक तत्त्व को समझना है तो सांसारिक वस्तुओं से मोह त्याग देना चाहिये।

विवेकी की परमपद प्राप्ति

प्रसंग — इस श्लोक में बताया गया है कि विवेकी पुरुष किस गति को प्राप्त करता है—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ 8 ॥

अन्वय — यः तु विज्ञानवान् समनस्कः सदा शुचिः भवति सः तत् पदम् आप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।

हिन्दी अर्थ — जो सावधान मनवाला सर्वदा पवित्र रहने वाला विवेकी व्यक्ति (है) वही उस परम (मोक्ष) पद को प्राप्त करता है जहाँ से वह पुनः जन्म नहीं लेता।

व्याख्या — पूर्व श्लोक में जो स्थितियाँ अविवेकी पुरुष की होती हैं, विवेकी पुरुष उससे ठीक विपरीत होता है अर्थात् विवेकी पुरुष आत्मचिन्तन में रत रहता है, सांसारिक भोगों से विरक्ति रखता है। व्यवस्थित चित्त वाला एवं पवित्र मन वाला होता है। फलस्वरूप उसे परमपद की प्राप्ति होती है और वो भवसागर के बन्धन से मुक्त हो जाता है अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

प्रसंग — वह परमपद जिसे विवेकी मनुष्य प्राप्त करता है, वह क्या है इसके उत्तर में कहते हैं—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्तरः।

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥९॥

अन्वय— यः तु नरः विज्ञानसारथिः मनः प्रग्रहवान् सः अध्वनः पारं तद् विष्णोः परमं पदम् आप्नोति ।

हिन्दी अर्थ— जो मनुष्य ज्ञानरूपी सारथि वाला तथा मन रूपी लगाम वाला है, वह संसार रूपी मार्ग के पार ब्रह्म के चरम पद को प्राप्त करता है।

व्याख्या — जिस रथ के अर्थात् शरीर के बुद्धिरूपी सारथि रहता है वह नियन्त्रित रहता है तथा जिस रथ के मन रूपी लगाम रहती है, वह सांसारिक भोगों से निर्लिप्त रहता है। इस प्रकार का साधक उस परमतत्व को प्राप्त करता है।

विशेष —

1 मन एवं बुद्धि द्वारा इन्द्रिय निग्रह किए जाने पर ही परमतत्व की प्राप्ति की जा सकती है।

इन्द्रियादि का तारतम्य

प्रसंग — शरीर में आत्मा नाम का अंग कौनसा है। इसे बताते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१०॥

अन्वय— इन्द्रियेभ्यः हि पराः अर्थाः अर्थेभ्यः च परं मनः, मनसः, तु, परा, बुद्धिः बुद्धेः परः महान् आत्मा ।

हिन्दी अर्थ— इन्द्रियों से विषय, विषयों से मन, मन से बुद्धि एवं बुद्धि से आत्मा महान् या सूक्ष्म है।

व्याख्या— यम ने आत्मा को अत्यन्त सूक्ष्म बताने के लिये कहा है कि इन इन्द्रियों से भी सूक्ष्म है इन्द्रियों के विषय। विषयों से सूक्ष्म है मन, मन से सूक्ष्म है बुद्धि और बुद्धि से भी अतिसूक्ष्म है आत्मा।

प्रसंग — आत्मा की गति के बारे में बताते हैं—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।

पुरुषान्न पर किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

अन्वय— महतः अव्यक्तं परम्, अव्यक्तात् परः पुरुषः, च पुरुषात् परं न किञ्चित्, सा परा काष्ठा सा परा गतिः ।

हिन्दी अर्थ — महत् तत्त्व से सूक्ष्मतर अव्यक्त है, अव्यक्त से भी, पर = सूक्ष्मतर पुरुष = परमात्म तत्त्व है, पुरुष से पर अन्य कुछ (भी) नहीं है, वही (जीवों के लिये) पराकाष्ठा एवं पूर्ण गति है।

व्याख्या — यम नचिकेता को आत्मा की अत्यन्त सूक्ष्मता और सर्वोत्कृष्टता बताने के लिये कहते हैं कि महत् तत्त्व से सूक्ष्म अव्यक्त है और उससे भी सूक्ष्म परमात्म तत्त्व है और उससे सूक्ष्म इस दुनिया में कुछ नहीं है अर्थात् आत्म तत्त्व ही सबसे सूक्ष्म है। वही समस्त जीवों की परमगति है, जहाँ जाकर कोई भी वापस लौटकर नहीं आता।

आत्मा सूक्ष्मबुद्धिग्राह्य है

प्रसंग — आत्मा की अनुभूति किस तरह से की जा सकती है? इसे बताते हैं—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।

दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

अन्वय — सर्वेषु भूतेषु गूढः एष आत्मा न प्रकाशते सूक्ष्मदर्शिभिः तु अग्रयया सूक्ष्मया बुद्ध्या दृश्यते ।

हिन्दी अर्थ — सभी जीवों में छुपा हुआ यह आत्मा प्रकाशित नहीं होता है (बल्कि) सूक्ष्मदृष्टि वाले पण्डितों के द्वारा (अपनी) सूक्ष्म (एवं) तीक्ष्ण प्रज्ञा के द्वारा देख लिया जाता है।

व्याख्या — यम कहते हैं कि ये जो पुरुष है वह ब्रह्मा से लेकर लकड़ी के स्तम्भ पर्यन्त भूतों में छिपा

हुआ है। दर्शन, श्रवणादि कर्म तो करता है किन्तु अविद्या से आच्छादित है। अविद्या के कारण पुरुष अपने आपको परमतत्त्व, ब्रह्म इत्यादि नामों से नहीं जान पाता है; अपितु मेरा शरीर, कर्म, इन्द्रिय आदि रूपों से जानता है। अर्थात् जब तक व्यक्ति बहिर्मुखी रहता है सांसारिक भोग-विलासों से मोह रखता है तब तक वह परमपद को प्राप्त नहीं कर पाता है; किन्तु जब वह इन्द्रियों को वश में करना सीख जाता है, अन्तर्मुखी हो जाता है, तब योग, साधना, चित्तवृत्तियों के निरोध आदि से वह परब्रह्म को देख पाता है।

विशेष —

- 1 अन्तर्मुखी व्यक्ति ही अपने भीतर स्थित आत्मा को देख पाता है।
- 2 बहिर्मुखी व्यक्ति मात्र सांसारिक भोग विलासों को ही प्राप्त कर पाता है। आत्मतत्त्व को नहीं।

लयचिन्तन

प्रसंग— आत्मा को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। उसकी विधि बताते हैं—

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।।13।।

अन्वय — प्राज्ञः वाक् मनसी यच्छेत् तत् (मनः) ज्ञाने आत्मनि, ज्ञानम् आत्मनि महति नियच्छेत् तद् शान्ते आत्मनि नियच्छेत्।

हिन्दी अर्थ — बुद्धिमान् (साधक) सर्वप्रथम अपनी वाणी को मन में, मन को बुद्धि में, बुद्धि को महत् तत्त्व में एव महद् आत्म को शान्त रूप उस परमात्मा में लीन कर दे।

व्याख्या — यम नचिकेता को आत्मा की प्राप्ति की प्रक्रिया बताते हुए कहते हैं कि जो भी आत्मप्राप्ति का जिज्ञासु हो उसे सर्वप्रथम अपनी वाणी का विलय अपने मन में कर लेना चाहिये। तत्पश्चात् मन को बुद्धि में बुद्धि को महत् में और उस महात्मा को परमात्मा में लीन कर लेना चाहिये। यह जो क्रम है कि उससे यह स्पष्ट है कि साधक सविकल्पक समाधि से निकलकर निर्विकल्पक में प्रवेश करता है जिसमें वह ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी को समाप्त कर एक मात्र विशुद्ध ज्ञान में विलीन हो जाता है।

उद्बोधन

प्रसंग — आत्मज्ञान के लिये प्रेरणा देता यह श्लोक कहता है कि —

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया

दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति।।14।।

अन्वय— उत्तिष्ठत, जाग्रत, वरान् प्राप्य निबोधत, निशिता क्षुरस्य धारा दुरत्यया दुर्गम् तत् पथः (इति) कवयः, वदन्ति।

हिन्दी अर्थ— (हे मनुष्यों) उठो, जागो एवं श्रेष्ठ (विद्वान्) से आत्मतत्त्व को समझो (क्योंकि इस आत्मज्ञान के) मार्ग को विद्वानों ने अत्यधिक कठिन दुःख साध्य, छुरे की तीक्ष्ण धार की तरह कहा है।

व्याख्या — जो लोग अज्ञानान्धकार में डूबे हुए हैं जो सो रहे हैं उन्हें कहा जा रहा है कि आत्मज्ञान के अभिमुख हो जाओ। उठो और श्रेष्ठ आचार्यों के पास जाकर उनसे अन्तर्यामी आत्मा के विषय में जानो। जिस प्रकार छुरी की पैनी धार पर चलना अत्यन्त दुर्गम होता है उसी प्रकार यह ज्ञान मार्ग ज्ञेय के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण तद्वत् ही दुर्लभ है।

निर्विशेष आत्मज्ञान से अमृतत्वप्रापित

प्रसंग — यह आत्मा कैसी है और उसे जानने पर जीव की कैसी गति होती है। इसे बताते हुए कहा गया है कि —

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा रसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥15॥

अन्वय— तम् अशब्दम्, अस्पर्शम् अरूपम् अरसम् अगन्धवत् च अव्ययं अनित्यम् अनाद्यनन्तम् महतः परं ध्रुवं निचाय्य मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।

हिन्दी अर्थ— जो (आत्मतत्त्व) शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, गन्धरहित तथा रसरहित है, उस अव्यय (भयरहित) आदि—अन्तरहित, महत् तत्त्व से भिन्न, अनन्त (रूप आत्मतत्त्व) को जानकर (जीव) मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है। (अर्थात् मृत्यु को भी उस आत्मतत्त्व में स्थित देखकर आत्ममय स्वरूप हुआ वह मृत्युभय से विमुक्त हो जाता है)।

व्याख्या — अर्थात् जो आत्मा शब्दरहित है, जिसे स्पर्श नहीं किया जा सकता, जिसका कोई रूप नहीं है, जो अव्ययरहित है, रसहीन है, जो नित्य है, जो गन्धरहित है, अनादि है, अनन्त है एवं महत्त्व से भी परे है, जो निश्चल है, इन विलक्षण गुणों से युक्त आत्मा को जो व्यक्ति ज्ञान लेता है वह जरामरण के बन्धन से मुक्त होकर परमतत्त्व को प्राप्त करता है।

प्रस्तुत विज्ञान की महिमा

प्रसंग — यह आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य की क्या गति होती है। इस विज्ञान की महिमा क्या है? उसे बताते हुए कहते हैं कि—

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।

उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥16॥

अन्वय— मृत्युप्रोक्तं सनातनं नाचिकेतसम् उपाख्यानम् उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ।

हिन्दी अर्थ— मृत्युदेव द्वारा उपदिष्ट सनातन (रूप इस) नाचिकेतोपाख्यान को (कथा रूप में) कहने एवं सुनने वाला मेधावी (साधक) ब्रह्मलोक में आदर पाता है। (अर्थात् जो इस कथा को सुनाता है या स्वयं किसी पण्डित से सुनता है वह ब्रह्म लोक में आदर पाता है)।

व्याख्या — नाचिकेता द्वारा जो यह आत्मतत्त्वज्ञान सुना गया, और यम द्वारा जो कहा गया वह ज्ञान ऐसा है कि यदि व्यक्ति उस ज्ञान को सुन ले और जान ले तो वह निश्चित रूप से ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है।

प्रसंग— कठोपनिषद् की महिमा का बखान किया गया है।

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।

प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥

तदानन्त्याय कल्पत इति ॥17॥

अन्वय— य प्रयतः ब्रह्मसंसदि श्राद्धकाले वा इमं परमं गुह्यं श्रावयेत् तद् आनन्त्याय कल्पते । तद् आनन्त्याय कल्पते इति ।

हिन्दी अर्थ— जो पवित्रात्मा (व्यक्ति) इस परम रहस्यमय (ग्रन्थ को) ब्रह्म—विचार—गोष्ठी या श्राद्ध के अवसर पर सुनाता है, वह उस अनन्त ब्रह्म को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

व्याख्या — यह ग्रन्थ अगर कोई पुरुष श्राद्धकाल में सुनता है और विद्वत्सभा में सुनता है वह अपार फल देने वाला होता है और वह श्राद्धकाल भी अनन्त फल देने वाला होता है। अतः इस ग्रन्थ का श्रवण श्राद्धकाल में अवश्य करना चाहिये जिससे मृतात्मा को शान्ति प्राप्त हो।

6.3 सारांश

कठोपनिषद् की प्रथमाध्याय की तृतीय वल्ली में परमात्मा की प्राप्ति के साधनों का वर्णन किया गया है। पूर्व द्वितीय वल्ली में स्पष्ट किया जा चुका है कि परमात्मा की प्राप्ति ही जीवात्मा का परमलक्ष्य है। ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी

लोग, पाँच प्रकार से अग्नि की उपासना करने वाले साधारण गृहस्थ एवं आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि की विधिपूर्वक उपासना करने वाले विद्वान् लोग भी अपने कर्मों के फल को इस लोक में भोगने वाले, उत्कृष्ट हृदयाकाशरूपी बुद्धि में प्रविष्ट जीव और ब्रह्म को अज्ञान और प्रकाश के समान मानते हैं। नाचिकेतस अग्नि परमात्मप्राप्ति के मार्ग में पुल का कार्य करता है। यम ने कहा कि यह शरीर रथ है तथा आत्म इसका स्वामी रथारूढ है। तथा उसी प्रकार से बुद्धि इसकी सारथि है मन इसको वश में करने के लिये लगाम का कार्य करता है विवेकशील विचारवान् विचक्षणों ने इन्द्रियों को घोड़े, उनके विषयों को मार्ग बतलाया है। इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को फल भोगने वाला स्वीकार किया है। परन्तु जो विवेक शून्य बुद्धि (सारथि) सदा अस्त-व्यस्त बना रहता है उसके वश में इन्द्रियाँ उसी प्रकार नहीं रहतीं जिस प्रकार प्रमादी रथचालक के अधीन चंचल घोड़े नहीं रहते। अतः विवेक को कभी भी नष्ट नहीं होने देना चाहिये। आगे यम नाचिकेता को समझाते हुए कहते हैं कि ज्ञानी एवं एकाग्रचित्त वाले साधक के वश में इन्द्रियाँ एक सजग चालक के अधीन सुशिक्षित घोड़ों की तरह रहती हैं। भगवद्धाम के बारे में बताते हैं कि जो मनुष्य विवेकयुक्त-बुद्धि-सारथी से युक्त और मन को वश रखनेवाला होता है। वह परम साधक ही संसारार्णव से पार होकर भगवान् श्रीविष्णु के उस व्यापक परमपद को प्राप्त कर लेता है जहाँ जाकर पुनः इस मृत्युलोक पर नहीं आना पड़ता। परमात्मतत्त्व ही सर्वश्रेष्ठ है। वह ही सबके लिए परमाराध्य तथा परमप्रापणीय है जिसको पाकर फिर और कुछ लाभ बाकी नहीं रहता। क्रमशः इन्द्रियों से उनके विषय श्रेष्ठ हैं। विषयों से मन मन से मति तथा मति से भी श्रेष्ठतर महत्तत्त्व है। उस महत्तत्त्व से मूल प्रकृति श्रेष्ठ है और अव्यक्त प्रकृति से भी पुरुष पर है; परन्तु उस पुरुष से परे और कुछ नहीं है। वही पराकाष्ठा तथा परागति है। आत्म स्थूल बुद्धिग्राह्य नहीं है वह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जा सकता है। वह सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ होने के कारण सरलता से प्रकाशमान नहीं होता। उस परमात्मा की प्राप्ति के लिये अज्ञान निद्रा से जागकर ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। परमात्मप्राप्ति का ज्ञानमार्ग तलवार की धार के समान अति तीक्ष्ण और दुस्तर हैं। उस ब्रह्म को जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से दूर जाता है। जो इसे श्रद्धा भक्तिभाव से सुनकर सुनाकर इसका अनुसरण करता है वह ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है और जो इसे श्राद्धकाल में अथवा ब्राह्मणों की सभा में सुनाता है उसका वह श्राद्ध अनन्त फलवाला होता है।

6.4 पारिभाषिक शब्दावली

गुहाम्	—	बुद्धिरूपी गुहा में
ऋतम्	—	कर्मफल को
पिबन्तौ	—	भोगते हुए
त्रिणाचिकेताः	—	विधिपूर्वक अग्नि उपासक,
ईजानानाम्	—	यज्ञ करनेवालों के लिए।
शकेमहि	—	हम चयन करें।
विद्धि	—	जानो
प्रग्रहम्	—	(रास) लगाम
हयान्	—	घोड़े
आहुः	—	कहा है
गोचरान्	—	मार्ग
मनीषिणः	—	विद्वान् लोग
अयुक्तेन मनसा	—	अस्थिर मन से

दुष्टाश्वाः	—	दुष्ट घोड़े
अवश्यानि	—	अनियन्त्रित रहती हैं
विज्ञानवान्	—	विवेकशील
सदश्वाः	—	सुशिक्षित घोड़े
अविज्ञानवान्	—	अविवेकी
अमनस्कः	—	चंचल
अशुचिः	—	मन-कर्म-वचन से अशुद्ध
अधिगच्छति	—	प्राप्त करता है
भूयः	—	पुनः
समनस्कः	—	सावधान मन वाला
अध्वनः	—	मार्ग को
इन्द्रियेभ्यः	—	ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रियों से पर
पराकाष्ठा	—	चरमसीमा
गूढात्मा	—	अप्रकाशित रहस्यवान्
सूक्ष्मदर्शिभिः	—	तत्त्वज्ञपुरुषों के द्वारा
यच्छेत्	—	लय करे।
उतिष्ठत	—	आलस्य त्यागकर उठो
जाग्रत	—	मोह निद्रा से जागो।
वरान्	—	ज्ञानवान् पुरुषों को
निबोधत	—	उनसे अपने को जानो
निशिता	—	अत्यन्त तेज
दुरत्यया	—	अत्यन्त कठिन
क्षुरस्य	—	तलवार
निचाय्य	—	जानकर
मृत्युना प्रोक्तम्	—	यम द्वारा उपदिष्ट
नाचिकेतम्	—	नाचिकेता द्वारा सुने गये
उपाख्यानम्	—	उपदेश कथा
प्रयतः	—	जितेन्द्रिय
आनन्त्याय	—	ब्रह्मप्राप्ति के लिये
कल्पते	—	समर्थ होता है।

6.5 बोधप्रश्न

1. कठोपनिषद् के प्रथमाध्याय की तृतीयवल्ली का वर्ण्य विषय क्या है?
2. निम्न श्लोकों का हिन्दी अर्थ कीजिये

1. एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
2. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
3. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥

6.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. कठोपनिषद— डॉ. रामरंग शर्मा, भारतीय विद्या प्रकाशन ।
2. ईशादि नौ उपनिषद — शांकरभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर ।
3. कठोपनिषद — व्याख्या — डॉ. देवेन्द्रनाथ पाण्डेय, हंसा प्रकाशन ।
4. कठोपनिषद — डॉ. आचार्य सुरेन्द्रदेव शास्त्री. चौखम्बा विद्याभवन ।

6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. कठोपनिषद के प्रथमाध्याय की तृतीयवल्ली का वर्ण्य विषय आत्मा है ।
2. देखें इकाई 6.2 ।

इकाई 7

कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय : प्रतिपाद्य विषय

इकाई की रूपरेखा

- 7.0 उद्देश्य
- 7.1 प्रस्तावना
- 7.2 यम-नचिकेता संवाद
- 7.3 नचिकेता द्वारा मांगे गए तीन वर
 - 7.3.1 प्रथमवर – पितृपरितोष
 - 7.3.2 द्वितीय वर- स्वर्ग की साधनभूत अग्नि
 - 7.3.3 तृतीयवर – आत्मरहस्य
- 7.4 यम द्वारा दिये गये प्रत्युत्तर
 - 7.4.1 स्वर्ग स्वरूप विवेचन
 - 7.4.2 नाचिकेत अग्नि का वरदान
 - 7.4.3 यम द्वारा विभिन्न प्रलोभन देकर वर परिवर्तन का प्रयास
- 7.5 श्रेय-प्रेय विवेक
- 7.6 आत्मस्वरूप विवेचन
- 7.7 आत्मज्ञान का अनधिकारी
- 7.8 आत्मा के भेद
- 7.9 रथादि रूपकों की सिद्धि
- 7.10 आत्मज्ञान से अमृतत्व प्राप्ति
- 7.11 सारांश
- 7.12 पारिभाषिक- शब्दावली
- 7.13 बोध प्रश्न
- 7.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 7.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

आप बी.ए. अन्तिम वर्ष के (कठोपनिषद् प्रथम अध्याय के प्रथम, द्वितीय व तृतीय वल्ली) द्वितीय प्रश्न पत्र की सातवीं इकाई का अध्ययन करने जा रहें हैं। इस इकाई को पढ़कर आप –

- ↑ यम-नचिकेता संवाद को जानेंगे।
- ↑ नचिकेता द्वारा मांगे गये तीन वरों को जानेंगे।
- ↑ यम द्वारा दिये गये प्रत्युत्तर जान सकेंगे।
- ↑ श्रेय और प्रेय को समझ सकेंगे।

- † आत्मस्वरूप का विवेचन जानेंगे।
- † आत्मज्ञान के अनधिकारी के बारे में जान पायेंगे।
- † आत्मा के भेदों को जानेंगे।
- † रथादि रूपकों के विषयों को भी जानेंगे।
- † आत्मज्ञान से अमृतत्वप्राप्ति कैसे होती है यह जान सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

कठोपनिषद् कृष्णयजुर्वेद की कठ शाखा के अन्तर्गत आता है। इस कारण इस उपनिषद् का नाम भी कठोपनिषद् पड़ गया। कठोपनिषद् का दूसरा नाम 'नचिकेतोपाख्यान' अथवा 'नाचिकेतस उपाख्यान' भी है।

वस्तुतः सभी उपनिषद् प्रायः आरण्यक ग्रन्थों के ही विशिष्ट अंग हैं। सायणाचार्य की सम्मति में अरण्य में पाठ्य होने के कारण इन ग्रन्थों के मनन का स्थान अरण्य का एकान्त, शान्त वातावरण ही उपयुक्त था। आरण्यकों का मुख्य विषय यज्ञ और यागों के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा करना है। वेद के मन्त्रों में इन तथ्यों का स्पष्ट संकेत हमें उपलब्ध होता है। आरण्यकों में इन्हीं बीजों का अथवा बीजभूत तथ्यों का विस्तार से वर्णन किया गया है। अतः उपनिषद् विशेषरूप से आरण्यकों के भाग माने जाते हैं और उनमें भी इन्हीं आध्यात्मिक विषयों का विस्तार से वर्णन किया गया है जिनका सूक्ष्म संकेत हमें वैदिक संहिताओं में प्राप्त होता है।

कठोपनिषद् के अध्ययन से भी उपर्युक्त बात की ही पुष्टि होती है। इस उपनिषद् में भी महान् अध्यात्मतत्त्व का गम्भीर विश्लेषण किया गया है। इसमें दो अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में तीन-तीन वल्लियां हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में संकेतरूप में विद्यमान नचिकेता की उपदेशप्रद कथा से उसका प्रारम्भ होता है। नचिकेता के विशेष एवं बारम्बार आग्रह करने पर यमाचार्य उसे अध्यात्मतत्त्व का मार्मिक तथा हृदयंगम उपदेश देते हैं।

सांसारिक आवागमन एवं जन्म-मृत्यु के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर लेना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है और यह तभी सम्भव है जब कि हम अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान ले। इसके निमित्त आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान रूपी साधन का आश्रय प्राप्त करना परमावश्यक है, क्योंकि साधन के द्वारा ही साध्य की प्राप्ति किया जाना सम्भव है।

उपर्युक्त लक्ष्य को दूसरे शब्दों में इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि – त्रिविध तापों अथवा दुःखों से पूर्णरूप से छुटकारा प्राप्त कर लेना ही मानव-जीवन का प्रधान उद्देश्य है। ये त्रिविध ताप हैं— 1 आध्यात्मिक ताप 2 आधिदैविक ताप और 3 आधिभौतिक ताप। उदाहरणार्थ— 1 शरीर जब ज्वरादि शारीरिक कष्टों से अभिभूत हो जाता है। तब यह आध्यात्मिक ताप कहलाता है। 2 अतिवृष्टि अथवा अनावृष्टि आदि आधिदैविक ताप है। 3 सर्प इत्यादि के द्वारा काट लिया जाना अथवा अन्य प्राणियों द्वारा प्राप्त होने वाले कष्ट आधिभौतिक ताप है। इन्हीं त्रिविध तापों, कष्टों अथवा दुःखों के अन्तर्गत विश्व के समस्त दुःखों अथवा कष्टों का समावेश हो जाता है। इन तीनों ही प्रकार के दुःखों का जब अत्यन्त अभाव हो जाता है तब यही स्थिति अथवा अवस्था मुक्ति अथवा मोक्ष अथवा परमधाम आदि शब्दों द्वारा कही जाती है।

सांख्य तथा न्यायदर्शनकारों ने इसी बात का विश्लेषण निम्नलिखित सूत्रों द्वारा किया है:—

“अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः”। (सांख्यसूत्र. 1.1)

अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक— इन तीनों ही प्रकार के दुःखों (तापों) से छुटकारा प्राप्त कर लेने का ही नाम अत्यन्त पुरुषार्थ अथवा मोक्ष है।

“तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः” (न्यायसूत्र 1।1।22।)

उन दुःखों का अत्यन्त उच्छेद अथवा अभाव हो जाना ही अपवर्ग अथवा मोक्ष कहलाता है। इस स्थिति अथवा अवस्था को प्राप्त कर लेना ही मानव जीवन का प्रधानतम उद्देश्य है। इस स्थिति को प्राप्त कर मानव भगवान् के उस आनन्द की अनुभूति करने लगता है जिसकी प्राप्ति के लिये वह सतत प्रयत्नशील रहा करता है। जीवात्मा सत् एवं चित् है और परमात्मा सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप है। दोनों में मात्र आनन्द का ही अन्तर है अर्थात् जीवात्मा में आनन्द नहीं है। जब इस आनन्द की अनुभूति मानव को होने लगा करती है तब वह अपने को भूल जाता है और उस चिरन्तन आनन्द की अनुभूति में अपने को लय कर देता है। इसी का नाम तन्मयावस्था है। इस अवस्था अथवा मानव जीवन के इस लक्ष्य की प्राप्ति का प्रधान साधन है – आत्मज्ञान। परन्तु अपने शरीर के अभ्यन्तर विद्यमान और सर्वव्यापक परम आत्मतत्त्व के ज्ञान की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम पहले अपने आपको उस ज्ञानप्राप्ति का अधिकारी बनायें। कठोपनिषद् में यमाचार्य ने नचिकेता की अनेक प्रकार से परीक्षा ली और जब इस परिणाम पर पहुंच गये कि नचिकेता वास्तव में आत्मज्ञान की प्राप्ति का अधिकारी है, तब उस समय ही यमाचार्य ने नचिकेता को आत्मज्ञान-सम्बन्धी उपदेश दिया है। इस भावना को कठोपनिषद् के निम्न वाक्य द्वारा इस भांति स्पष्ट किया गया है:—

स त्वं प्रियान्प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यसाक्षीः ।

नैता सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो, यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ कठो. 1/2/3//

अतः —

विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥ कठो. 1/2/4 ॥

उस आत्मतत्त्व के साक्षात्कार का प्रधान साधन योग ही है। पतंजलि मुनि के सिद्धान्तानुसार 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (अर्थात् अपने चित्त की वृत्तियों का निरोध कर लेना ही योग है) योग का लक्षण है। योग के इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को पहले अपने चित्त की एकाग्रता स्थापित करनी पड़ती है और जब मानव इस प्रकार की चित्त की एकाग्रता अथवा स्थिरचित्तता प्राप्त कर लेता है तब वह आत्मचिन्तन करने का अधिकारी होता है। इस अधिकारी की योग्यता प्राप्त कर लेने पर मनुष्य की प्रायः सम्पूर्ण सांसारिक अभिलाषायें शान्त हो जाती हैं और वह आत्मज्ञान की उपलब्धि से अपने अज्ञान अथवा मायारूपी बन्धन को छिन्न-भिन्न कर अपने वास्तविक आत्मस्वरूप के दर्शन के निमित्त प्रयत्नशील हो जाता है। एक समय आता है कि जब वह आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ऐसी दशा में उसकी अपने शरीर के प्रति भी किसी प्रकार की कोई आकांक्षा अवशिष्ट नहीं रह जाती और वह अपने आपको इस मायाजन्य संसार से पृथक् देखता है। जब इस प्रकार की अवस्था प्राप्त हो जाती है तब उसी को शास्त्रकारों ने जीव-मुक्तावस्था नाम से कहा है। इसके पश्चात् वह आत्मा अपने इस भौतिक शरीर की समाप्ति के अनन्तर उस परमात्मतत्त्व में लीन हो जाता है। इसी को हम मोक्ष अथवा परमधाम कहते हैं।

जब मानव को जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त हो जाती है तब वह जीवन्मुक्त कहलाता है। तदनन्तर इस शरीर का त्याग हो जाने पर वह परब्रह्म परमात्मा के उस आनन्द की अनुभूति पूर्णरूप से करने लगा करता है जिसके लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील था और इस भांति वह सत्-चित् आनन्दस्वरूप होकर उस मोक्ष के आनन्द में लीन रहा करता है। अतः उसकी यह आनन्द की उपलब्धि कर्मजन्य है और उन कर्मों के फल को भोगकर; एक निश्चित समय के अनन्तर वह पुनः इस लोक में जन्म प्राप्त किया करता है।

इस प्रकार इस कठोपनिषद् में उस आत्मसाक्षात्कार के साधनों का विशेष रूप से वर्णन करते हुए उस अद्वितीय ब्रह्म का वर्णन अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ किया गया है।

7.2 यम-नचिकेता संवाद

नचिकेता के पिता यज्ञफल के इच्छुक वाजश्रवा ने विश्वजिन्नामक यज्ञ में अपना सारा धन दान कर दिया तथा कुछ वृद्ध असमर्थ गायों का दान करते समय पुत्र के बार-बार पूछने पर कि 'आप मुझे किसको दान में देंगे?'

तब पिता ने उससे क्रोध में ऐसा कहा कि 'मैं तुझे मृत्यु को दूँगा। इसके बाद पुत्र मृत्यु के पास जाने को अड़ गया तथा विविध भांति अपने पिता को समझाया। पुत्र के इस प्रकार कहने पर पिता ने अपने सत्य की रक्षा हेतु उसे यमराज के पास भेज दिया। वह यमराज के घर पहुँच कर तीन रात्रि विना अन्न जल टिका रहा, क्योंकि यम उस समय बाहर गये हुये थे। प्रवास से लौटने पर यमराज ने नचिकेता को नमस्कार किया तथा एक-एक रात्रि के लिये एक-एक वर प्रदान करने का वचन दिया। इस पर नचिकेता ने पितृपरितोष यह प्रथमवर मांगा तथा द्वितीय वर अग्निविद्या तथा तृतीयवर में आत्मरहस्य जानने की कामना की। इस पर यम ने प्रसन्न हो चतुर्थ वर के रूप में उस अग्नि का नाम 'नाचिकेत' यह रख दिया।

7.3 नचिकेता द्वारा मांगे गये तीन वर

7.3.1 प्रथमवर—पितृपरितोष—

नचिकेता ने तीन वरों की याचना यम से की है उन तीनों का सम्बन्ध क्रमशः इस लोक, परलोक और आनन्दलोक अथवा विष्णु के परमधाम से है।

प्रथम वर का सम्बन्ध इस लोक से है। वह इस लोक में मृत्यु को प्राप्त कर यम के समीप पहुँच चुका है। अन्तिम समय में उसकी इस लोक से सम्बन्धित केवल एक ही इच्छा अवशिष्ट रह गई थी और वह थी कि उसके बार-बार प्रश्न करने से उसके पिता उससे असन्तुष्ट हो गये थे तथा उनमें क्रोध का विकार भी उत्पन्न हो गया था और बाद में उनको मेरे यहाँ चले आने से शोक भी था। पुत्र का कर्तव्य है कि वह अपने माता-पिता को अपने आचरण एवं व्यवहार द्वारा प्रसन्न तथा शान्त मन रखे। 1।1।10-1 में इसी पुत्र के कर्तव्य का निम्न प्रकार से वर्णन प्रस्तुत किया है:—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।

त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीतः एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥

पुत्र पिता को (शान्तसंकल्पः) शान्त और प्रसन्नचित रखे, (सुमनाः) उत्तम मन से आनन्दयुक्त रखने का सदैव प्रयास करता रहे। (वीतमन्युः) उसका क्रोध दूर करे और (प्रतीतः) उत्तम व्यवहार करने की अनुकूलता उसके लिये बनाये रखे। यह (सुखं रात्रीः शयिता) ऐसी व्यवस्था करे कि जिससे रात्रि के समय पिता को उत्तम निद्रा आये।

जिस घर में ऐसे पुत्र हों वही आदर्श गृहस्थ-गृह कहा जा सकता है। पुत्र-पुत्रियों की शिक्षा ऐसी ही होनी चाहिये। इस प्रकार की शिक्षा से गृहस्थाश्रम सदैव सुखपूर्ण होता है।

इस लोक से सम्बन्धित नचिकेता की यही इच्छा थी कि उसके पिता उससे प्रसन्न रहें तथा उनका क्रोध नष्ट हो जाये (कि जिसके विकार के कारण मनुष्य कार्य का अकार्य कर बैठता है। सम्भव था कि उसका पिता भी कोई ऐसा अकार्य कर बैठे कि जिससे उसका भविष्य ही बिगड़ जाय, अतः नचिकेता को अपने पिता के सम्बन्ध में इस प्रकार की चिन्ता थी) और वे शान्तमन होकर अपने यज्ञ को पूर्ण करें तथा उनका भविष्य सुन्दर हो। अतः उसका प्रथम वर पितृ-परितोष सम्बन्धी था, यही उसे पुत्र भी सिद्ध करता क्योंकि पुं नरकात् त्रायते इति पुत्रः। आचार्य यम ने इस वर को उसे ज्यों का त्यों प्रदान किया।

7.3.2 द्वितीय वर—स्वर्ग की साधनभूत अग्नि

द्वितीय वर परलोक-विषयक है। इस वर में नचिकेता ने आचार्य यम से स्वर्ग की साधनभूत उस अग्नि के बारे में जानना चाहा है कि जिसको जानकर मनुष्य स्वर्गलोक की प्राप्ति कर लेता है, जहाँ पहुँचकर वह सांसारिक दुःखों और कष्टों से पृथक् होकर शान्ति, प्रसन्नता एवं आनन्द की अनुभूति करता है।

वस्तुतः मनुष्य को शास्त्रों का अध्ययन कर अपनी ज्ञानाग्नि को उद्दीप्त करना चाहिये। माता, पिता एवं आचार्य इन तीनों के द्वारा मानव-ज्ञान को प्राप्त किया करता है तथा संस्कार-सम्पन्न बनता है। इस प्रकार

ज्ञानार्जन कर तथा संस्कार—सम्पन्न बनकर यज्ञ, अध्ययन और तप अथवा दान कर्मों का आचरण करता हुआ सब प्रकार के सांसारिक कष्टों और दुःखों से मानव अपने को पृथक् कर लिया करता है। इस भाँति शोकरहित होकर प्रसन्नता का अनुभव किया करता है। अतः स्वर्ग लोक की साधनभूत इस ज्ञानाग्नि को भलीभाँति प्रज्वलित रखना ही परलोक की प्राप्ति के लिए महान साधन है।

7.3.3 तृतीय वर— आत्मरहस्य

तृतीय वर आनन्द—लोक की प्राप्ति विषयक है। इस लोक की प्राप्ति का प्रधान—साधन आत्मज्ञान है। इस विषय में नचिकेता भगवान यम से पूछता है कि—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।

एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥

कुछ (विद्वान्) जो यह शंका उठाते हैं कि मनुष्य के मर जाने पर (वह आत्मा) विद्यमान रहता है एवं कुछ कहते हैं कि वह नहीं रहता। अतः इस संशय को दूर करने के लिए ही) मैं आप द्वारा उपदिष्ट होकर इस आत्म तत्त्व को जान लूँ (यही) मेरा तृतीय वर है।

7.4 यम द्वारा दिये गये प्रत्युत्तर—

यम द्वारा दिये गये प्रत्युत्तर नचिकेता के प्रश्नों के उत्तर के रूप में अग्निविद्या तथा आत्मरहस्य का प्रवचन सम्मिलित है—

7.4.1 स्वर्गस्वरूप का विवेचन —

नचिकेता के स्वर्गसाधनभूत अग्नि का विवेचनपरक प्रश्न के उत्तर में यम ने कहा कि अग्नि विद्या को जानने से श्रीविष्णुलोक की प्राप्ति होती है, जो वेद में 'तद्विष्णोः परमं पदम्' कहा गया है। उस अग्नि के चयन में जैसी और जितनी ईंटें होती हैं वह सब भी कह दिया। नचिकेता ने सब ज्ञान यथावत् यम को सुनाकर उसे प्रसन्न कर दिया। इसे जानकर जीव (जन्म—मृत्यु के बन्धन से छुटकारा पाते हुए) देहपात से पूर्व ही मृत्यु को जीतकर स्वर्ग में परमानन्द पाता है।

7.4.2 नाचिकेत अग्नि का वरदान—

यद्यपि यम ने केवल तीन ही वरदान देने का वचन दिया था तथापि नचिकेता की प्रत्युत्पन्न मेधावी मति एवं आत्मज्ञान हेतु लगन व पिपासा से प्रसन्न होकर एक अतिरिक्त वर के रूप में उस अग्निविद्या का नाम नचिकेता के नाम पर कर दिया तथा तब से वह अग्नि नाचिकेताग्नि नाम से प्रसिद्ध हुआ।

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।

तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥

नाचिकेतस् अग्नि का तीन बार अनुष्ठान करने वाला, अग्नि के त्रिविधि (आहवनीयादि) रूप को जानकर माता—पिता एवं आचार्य के साथ रहता हुआ जो (यज्ञ, अध्ययन, दान) इन तीनों प्रकार के कर्मों को करता है, वह ब्रह्म विषयक स्तुत्य (अग्नि) देव को जानकर आत्मानन्द से उत्पन्न शान्ति को प्राप्त करता है।

7.4.3 यम द्वारा विभिन्न प्रलोभन देकर वर परिवर्तन का प्रयास—

नचिकेता ने पितृ परितोष, अग्निविद्योपदेश ये दो वर प्राप्त किये। तथा तृतीयवर के रूप में जब उसने आत्मरहस्य जानने की इच्छा प्रकट की तब यम ने उसे बहुत सारे ऐहलौकिक और पारलौकिक भोगेश्वर्य आदि के प्रलोभन से उसकी सच्ची जिज्ञासा की परीक्षा की। यह नचिकेता निःश्रेयसके साधन आत्मज्ञान के योग्य पूर्णतया है या नहीं— इस बात की परीक्षा करने के लिये यम ने कहा कि —

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।

भूमैर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ।।

(हे नचिकेता) तुम सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र-पौत्र मांग लो, बहुत से पशु, हाथी, घोड़े एवं स्वर्ण मांग लो, पृथ्वी का बहुत विस्तृत भाग मांग लो तथा स्वयं जितने (शरद ऋतु पर्यन्त जीने के लिये) वर्ष चाहते हो (उतने वर्षों तक) जीओ।

जिनकी सौ वर्ष की आयु हो ऐसे शतायु पुत्र और पौत्र माँग ले। तथा गौ आदि बहुत से पशु, हाथी और सुवर्ण तथा घोड़े और पृथ्वी का राज्य माँग ले। इसके साथ-साथ स्वयं के लिये भी शतायु का वरदान तथा अपार धन-दौलत भी माँग सकते हो -

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वाङ्कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।

इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्बनीया मनुष्यैः ।

आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ।।

सुन्दरी अप्सराओं सहित जो-जो दुर्लभ भोग पदार्थ हैं। वे सभी प्रदान करने का भी प्रलोभन दिया परन्तु नचिकेता इन सब से अप्रभावित केवल आत्मज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त करता रहा।

7.5 श्रेय-प्रेय विवेक

प्रयोजन भिन्न होते हुए भी श्रेय और प्रेय पदार्थ मानव को अपने बन्धन में बाँधते हैं, अर्थात् अपनी और आकृष्ट करते हैं। इतना होने पर भी श्रेय अपनाने वाले का कल्याण होता है और दूसरी और प्रेय-सांसारिक भोगवाले प्रवृत्ति-पथ के पथिक को बारम्बार 84 लाख योनियों में भटकना पड़ता है। सौभाग्य से नचिकेता ने श्रेय मार्ग को अपनाकर सांसारिक विविध प्रलोभन दिखाने वाले यम को चकित एवं प्रभावित किया है। नचिकेता की प्रशंसा करते हुए स्वयं यम ने कहा है कि मैं तुम्हें विद्याभिलाषी मानता हूँ।

ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने वाले हैं- भोग। जो भोगों में फँसता है वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। मनुष्य के समक्ष दो प्रकार के पदार्थ आकर उपस्थित हुआ करते हैं (1) वास्तविक और सच्चा कल्याण करने वाले पदार्थ और (2) क्षणिक सुख प्रदान करने वाले पदार्थ। इनमें से सच्चा कल्याण प्राप्त कराने वाले पदार्थों अथवा ज्ञान-मार्ग का आश्रय प्राप्त करने वाले व्यक्ति का सदैव कल्याण ही होता है। किन्तु जो क्षणिक सुख प्रदान करने वाले सांसारिक पदार्थों अथवा भोग-मार्ग का अवलम्बन लेकर जीवन को यापन किया करता है वह संसार के आवागमन के (जन्म और मृत्यु के) बन्धन में सदैव बँधा रहा करता है। इन्हीं दो प्रकार के मार्गों (साधनों-ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग अथवा श्रेयमार्ग और प्रेय मार्ग) का वर्णन कठोपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्रों में किया गया है :-

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थास उ प्रेयो वृणीते ।। कठो. 1 |2 |1 |।।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।। कठो. 1 |2 |2 |।।

प्रायः लोगों की प्रवृत्ति भोगों को प्राप्त करने की ही और रहा करती है। विरला ही कोई व्यक्ति होता है कि जो ज्ञानमार्ग का पथिक बनकर उस आत्मतत्त्व की प्राप्ति का इच्छुक हुआ करता है। अनेक व्यक्ति आत्म-ज्ञान विषय उपदेशों का श्रवण मात्र ही करते हैं अतः वे वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि नहीं कर पाते। इस ज्ञान का योग्य उपदेष्टा तथा श्रोता कठिनता से ही प्राप्त होता है अर्थात् कोई विरला ही हुआ करता है।

7.6 आत्मस्वरूप विवेचन -

यम ने नचिकेता से कहा कि न तो यह आत्मा उत्पन्न होता है और न ही मरता है। उत्पन्न होने वाली

अनित्य वस्तु के अनेक विकार होते हैं। कभी लुप्त न होने वाले चैतन्य रूप स्वभाव के कारण आत्मा विपश्चित् यानि मेधावी है। यह आत्मा अजन्मा, नित्य और शाश्वत है। यह तो शाश्वत है, अतः पुराण भी है, अर्थात् प्राचीन होकर भी नवीन ही है। अतः शस्त्रादिद्वारा शरीर के मारे जाने पर भी वह नहीं मरता—उसकी हिंसा नहीं होती। यह आत्मा न तो मरता है और न मारता है और न ही मारा जाता है।

अणोरणीयन्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।।

सूक्ष्म से भी सूक्ष्म महान से भी महान् यह आत्मा जीव के (हृदय) गुफा में निहित है। ब्रह्म की कृपा से ही उस आत्मा की महिमा को निष्काम कर्म करने वाला वीतरागी व्यक्ति देखता है।

आत्मा तो अणु से भी छोटा और महान् से भी महान् है। नाम रूपवाली सभी वस्तुएँ इसकी उपाधि हैं। वह आत्मा ही ब्रह्मा से लेकर स्तम्भपर्यन्त (जड़ वस्तुएँ) इस सम्पूर्ण प्राणिसमुदाय की गुहाहृदय में निहित है। देखना, सुनना, मनन करना और जानना— ये जिसके लिंग है उस आत्मा की महिमा को निष्काम पुरुष अपनी इन्द्रियों के प्रसाद से देखता है और शोकरहित हो जाता है।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।

अशरीरी (एवं) अन्य शरीरों का अवलम्बन लेकर नहीं रहने वाले (फिर भी व्यापक होने के कारण उन जीवों के) शरीरों में स्थित विभु एवं महान् आत्मा को जान कर धीर व्यक्ति शोक नहीं करता।

वह जो शरीरों में शरीररहित तथा अनित्यों में नित्यस्वरूप है उस महान् और सर्वव्यापक आत्मा को जानकर धीमान् व्यक्ति शोक नहीं करता।

7.7 आत्मज्ञान का अनधिकारी—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।।

दुश्चरित्र से विरत न रहने वाला, अशान्त रहने वाला, असावधान तथा चंचल मन वाला भी केवल प्रजा के बल पर इस आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

जो व्यक्ति श्रुति स्मृति से अविहित पापकर्म से अनुपरत है वह इस आत्मा को नहीं जान सकता, जो इन्द्रियों की चंचलता के कारण अशान्त है, जिसका चित्त एकाग्र नहीं है, जो विक्षिप्तचित्त है तथा जिसका चित्त निरन्तर व्यापार करता रहता है, वह पुरुष भी इस प्रस्तुत आत्मा को केवल आत्मज्ञानद्वारा नहीं प्राप्त कर सकता। केवल आचार्यवान् साधक ही ब्रह्मज्ञानद्वारा उपर्युक्त आत्मा को प्राप्त कर सकता है।

सम्पूर्ण धर्मों को धारण करने वाले और सबके रक्षक होने पर भी ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दोनों वर्ण जिस आत्मा के भोजन के लिए पर्याप्त नहीं है, उस आत्मा को कौन साधनों से रहित और साधारण बुद्धिवाला पुरुष है जो साधनसम्पन्न पुरुष के समान जान सके? अर्थात् कोई नहीं।

7.8 आत्मा के भेद

आत्म—विद्या और अविद्या नाना प्रकार के विरुद्ध धर्मों वाली है। इसी प्रकार प्राप्त होने वाले और प्राप्तव्य स्थान तथा गमन करने वाले और गन्तव्य लक्ष्य का विवेक करने के लिये दो प्रकार की आत्माएं बतलाई गई हैं। ब्रह्मवेता लोग कहते हैं कि—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।

छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।।

गृहस्थाश्रम में निवास करने वाले या पंचाग्नि के उपासक, ब्रह्मवादी एवं नाचिकेतस अग्नि का तीन प्रकार से अनुष्ठान करने वाले या तीन बार अनुष्ठान करने वाले विद्वान्, धूप एवं छाँव की तरह जीवात्मा एवं परमात्मा को अपने पुण्य का फल-भोग कराते हुए इस शरीर की बुद्धि रूपी गुफा में प्रविष्ट बताते हैं।

शरीर में बुद्धिरूप गुहा के भीतर प्रकृष्ट ब्रह्मस्थान में प्रविष्ट हुए अपने कर्मफल को भोगने वाले छाया और घाम (धूप) के समान परस्पर विलक्षण दो तत्व हैं। वे दोनों संसारी और असंसारी होने के कारण छाया और धूप के समान हैं। जिन्होंने तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन किया है। वे पंचाग्नि की उपासना करने वाले गृहस्थ भी ऐसा ही करते हैं। जो यजन करने वालों के लिये सेतु के समान है उस नाचिकेत अग्नि को तथा ब्रह्म को जानने में हम समर्थ हो जावें।

7.9 रथादि रूपकों की सिद्धि—

यद्यपि यह आत्मा नित्य एवं प्रकाशरूप है तथापि इसके दर्शन सहज नहीं हैं, क्योंकि यह बुद्धिरूपी गुफा में छिपा रहता है। जब कोई धीर पुरुष सांसारिक विषयों से ऊपर उठकर देखता है तभी उसे इसका साक्षात्कार होता है। आत्मा के स्वरूप को जानने से पूर्व उसके साधन-प्रणव का ज्ञान आवश्यक है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं महान् से भी महान् आत्मा है। इसे पाने के लिये न तो विशाल बुद्धि की आवश्यकता है और न ही असीम ज्ञानराशि की, क्योंकि इस आत्मतत्व को जानने के लिये निर्मल मन तथा लगन की आवश्यकता है। यहाँ ब्रह्म-प्राप्ति के साधन को रथ और रथी के रूपक द्वारा समझाया गया है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

आत्मा को रथी जानो, शरीर को रथ समझो। बुद्धि को सारथि एवं मन को (रथ में योजित अश्वों की) लगाम समझो।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

विद्वानों ने (इन) इन्द्रियों को विषयरूपी मार्ग पर (दौड़ने वाले) अश्व (एवं) इन्द्रिय तथा मन से संयुक्त आत्मा को भोक्ता के रूप में माना है।

शरीर रथ है, आत्मा रथी है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ अश्व(घोड़े) हैं, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द ही इन घोड़ों के मार्ग हैं और मन से युक्त आत्मा ही भोक्ता है। जिस साधक की मनरूपी लगाम बुद्धिरूपी सारथि के कब्जे में है और इन्द्रियाँ रूपी घोड़े नियन्त्रण में हैं उसे परमपद की प्राप्ति होती है, उसे ही 'तद्विष्णोः परम पदम्' कहा गया है और इस पुरुष से परे और कोई नहीं, उसे ही 'सा काष्ठा सा परा गतिः' कहा गया है। मृत्यु के पश्चात् प्राणी की क्या गति होती है? इस प्रश्न का उत्तर यम ने देते हुए कहा-कर्मफल के अनुसार जीव विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है और कर्मफल के त्याग से उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। ब्रह्म सर्वव्यापक है, वह दुःखों से लिप्त नहीं होता। उसी परम ब्रह्म द्वारा ही यह सब कुछ प्रकाशित होता है। कठोपनिषद् की अन्तिम वल्ली में संसार को अश्वत्थ (पीपल वृक्ष) के रूप में वर्णित किया गया है जिसका मूल (ब्रह्म) ऊपर कहा गया है। सम्पूर्ण स्थावर और जंगम जगत् इसी में आश्रित है। इस प्रकार बड़ी सूक्ष्मता से ब्रह्म, जीव एवं जगत् की स्थिति को स्पष्ट किया गया है।

7.10 आत्मज्ञान से अमृतत्व प्राप्ति

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा रसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

जो (आत्मतत्त्व) शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूप रहित, गन्धरहित तथा रस रहित है, उस अव्यय (भयरहित) आदि-अन्तरहित, महत् तत्त्व से भिन्न, अनन्त (रूप आत्मतत्त्व) को जानकर (जीव) मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है। (अर्थात् मृत्यु को भी उस आत्मतत्त्व में स्थित देखकर आत्ममय स्वरूप हुआ वह मृत्युभय से विमुक्त हो जाता है)।

जो परमात्मा अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय तथा अरस, नित्य और गन्धहीन है, वह अविनाशी है, क्योंकि जो पदार्थ शब्दादियुक्त होता है, उसी का व्यय होता है, किन्तु यह ब्रह्म तो अशब्द होने के कारण अव्यय है, इसका व्यय-क्षय नहीं होता, इसीलिये यह नित्य भी है, क्योंकि जिसका व्यय होता है वह अनित्य है। इसका व्यय नहीं होता इसलिये यह नित्य है। यह आत्मा तो सबका कारण होने से अकार्य है और अकार्य होने के कारण नित्य है। इसका कोई कारण नहीं है। जिसमें यह लीन हो।

इसी प्रकार यह आत्मा अनन्त भी है। जिसका अन्त अर्थात् कार्य अविद्यमान् हो उसे अनन्त कहते हैं। जिस प्रकार फलादि कार्य उत्पन्न करने से भी कदली आदि पौधों की अनित्यता देखी गयी है उस प्रकार ब्रह्म का अन्तवत्त्व नहीं देखा गया। इसलिये भी वह नित्य है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाद्वापि विचाल्यते।

भगवद्गीता में यही कहा गया है।

नित्यविज्ञप्तिस्वरूप होने के कारण बुद्धिसंज्ञक महत्तत्त्व से भी पर अर्थात् विलक्षण है, ब्रह्म सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा होने के कारण सबका साक्षी है। उस ब्रह्म-आत्मा को जानकर पुरुष मृत्यु मुख से अविद्या, काम और कर्मरूप मृत्यु के पंजे से मुक्त हो अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।

7.11 सारांश

कठोपनिषद् का आरम्भ वाजश्रवा के पुत्र वाजश्रवस नामक ऋषि के विश्वजिन्नामक यज्ञ से होता है जिसमें उन्होंने अपना सर्वस्व ऋत्विजों को दान कर दिया। उनका एक नचिकेता नाम का पुत्र था। बाल्यावस्था में ही अत्यन्त विलक्षण बुद्धि होने के कारण उसके मन में आशंका उठी कि यदि मेरे पिताजी ऐसी वृद्ध, असमर्थ गायों का दान करेंगे तो उन्हें नरक में जाना पड़ेगा। ऐसा विचार कर उसने पिता से पूछा आप मुझे किसको दान करेंगे? पिता ने क्रुद्ध होकर कहा यमराज को। तदुपरान्त नचिकेता यमराज के पास जाते हैं अपने द्वार पर तीन दिन विना अन्न जल ग्रहण किए हुए रहने के कारण यम प्रसन्न होकर तीन वर देने का उद्यत हो गये पिता की प्रसन्नता प्राप्ति का प्रथम वर मांगा। द्वितीय वर के रूप में स्वर्ग प्राप्त कराने वाली अग्नि विद्या का उपदेश प्राप्त किया। अग्निविद्या के उपदेश को वैसे का वैसे सुनाने के कारण यमदेवता अतीव प्रसन्न होकर नचिकेता के नाम पर उस अग्नि विद्या का नामकरण कर देते हैं। तृतीय वर के रूप में आत्मरहस्य जानने के लिये प्रार्थना करने पर यम ने पहले स्वर्गादि भोगों का प्रलोभन दिया परन्तु बालक नचिकेता की मानसिक दृढ़ता के कारण उसे आत्मतत्त्व का ज्ञान दिया।

प्रथमाध्याय की द्वितीय वल्ली में सम्यक्तया आत्मतत्त्वज्ञान का विवेचन किया गया है। श्रेयमार्ग तथा आश्रयण लेने से उत्तमगति तथा प्रेयमार्ग का आश्रयण लेने से अधोगति की प्राप्ति होती है। विवेकी व्यक्ति श्रेय का तथा मन्दबुद्धि प्रेय का आश्रय लेता है। नचिकेता की प्रशंसा करते हुये अविद्या और विद्या तत्त्व का उपदेश दिया। जो अविद्या में निमग्न बड़े बड़े पण्डित मानी लोग अविद्या को ही विद्या मानकर उपदेश देते हुए देखे जाते हैं वे अन्धों को मार्ग दिखाने वाले अन्धों के जैसा कार्य करते हैं। यम ने कहा कि इस आत्मतत्त्व को जानने वाला कोई विरला ही होता है। प्रवचन, योगाभ्यास दान, अध्ययनादि से इसे जान पाना असम्भव है। उस अजर, अमर, अविनाशी, पुरातन आत्मा को अनित्य सांसारिक वस्तुओं के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। उस आत्मज्ञान से सुखदुःखादि का नाश हो जाता है और परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

इसके बाद यमराज ने ऊँकार प्रणव की महिमा का वर्णन किया तथा इसको प्राप्त करने के बाद कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता है। वह आत्मा न कभी मरता है और न ही जन्म लेता है।

कठोपनिषद की प्रथमाध्याय की तृतीय वल्ली में परमात्मा की प्राप्ति के साधनों का वर्णन किया गया है।

परमात्मतत्त्व ही सर्वश्रेष्ठ है। वह ही सबके लिए परमाराध्य तथा परमप्रापणीय है जिसको पाकर फिर और कुछ लाभ बाकी नहीं रहता। क्रमशः इन्द्रियों से उनके विषय श्रेष्ठ हैं। विषयों से मन मन से मति तथा मति से भी श्रेष्ठतर महत्त्व है। उस महत्त्व से मूल प्रकृति श्रेष्ठ है और अव्यक्त से भी पुरुष पर है परन्तु उस पुरुष से परे और कुछ नहीं है। वही पराकाष्ठा तथा परागति है। आत्म स्थूल बुद्धिग्राह्य नहीं है वह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जा सकता है। क्योंकि वह सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ होने के कारण सरलता से प्रकाशमान नहीं होता। उस परमात्मा की प्राप्ति के लिये अज्ञान निद्रा से जागकर ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। परमात्माप्राप्ति का ज्ञानमार्ग तलवार की धार के समान अति तीक्ष्ण और दुस्तर हैं। उस ब्रह्म को जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से दूर जाता है। जो इसे श्रद्धा भक्तिभाव से सुनकर सुनाकर इसका अनुसरण करता है वह ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है और जो इसे श्राद्धकाल में अथवा ब्राह्मणों की सभा में सुनाता है उसका वह श्राद्ध अनन्त फलवाला होता है।

7.12 पारिभाषिक शब्दावली

निबोधत	—	उनसे अपने को जानो
निशिता	—	अत्यन्त तेज
दुरत्यया	—	अत्यन्त कठिन
क्षुरस्य	—	तलवार
निचाय्य	—	जानकर
मृत्युना प्रोक्तम्	—	यम द्वारा उपदिष्ट
नाचिकेतम	—	नाचिकेता द्वारा सुने गये
उपाख्यानम्	—	उपदेश कथा
प्रयतः	—	जितेन्द्रिय
आनन्त्याय	—	ब्रह्मप्राप्ति के लिये
कल्पते	—	समर्थ होता है।

7.13 बोधप्रश्न

- 1 आत्मतत्त्व का निरूपण करो।
- 2 कठोपनिषद के प्रथमाध्याय की तृतीयवल्ली में क्या वर्णन किया गया है?
- 3 आत्मा का शरीर के अन्य अंगों से सम्बन्धित रूपक क्या है?

7.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- 1 कठोपनिषद्— डॉ. रामरंग शर्मा, भारतीय विद्या प्रकाशन।
- 2 ईशादि नौ उपनिषद् — शांकरभाष्यसहित, गीताप्रेस, गोरखपुर।
- 3 कठोपनिषद् — व्याख्या — डॉ. देवेन्द्रनाथ पाण्डेय, हंसा प्रकाशन।
- 4 कठोपनिषद् — डॉ. आचार्य सुरेन्द्रदेव शास्त्री. चौखम्बा विद्याभवन।

7.15 बोधप्रश्नोत्तर

- 1 आत्मा ज्ञान रूप है, यह जन्म-मृत्यु से परे एक नित्य तत्त्व है। अणु से भी सूक्ष्म व महान् से भी महान् तत्त्व है। इसका उपदेश से ज्ञान प्राप्त नहीं होता, यह अपना स्वरूप स्वयं प्रकट करता है, अथवा आत्म साक्षात्कार से ही इसका ज्ञान सम्भव है।
- 2 कठोपनिषद् के प्रथमाध्याय की तृतीयवल्ली में आत्मा का वर्णन है।
- 3 देखें इकाई 7.9।

कार्यकारणवाद

इकाई की रूपरेखा

- 8.0 उद्देश्य
- 8.1 प्रस्तावना
 - 8.1.1 सामान्य स्वरूप
 - 8.1.2 दार्शनिक पृष्ठभूमि
 - 8.1.3 कारणवाद के प्रकार
- 8.2 सत्कार्यवाद
- 8.3 असत्कार्यवाद (आरम्भवाद)
 - 8.3.1 पूर्वपक्ष
 - 8.3.2 समवाय सम्बन्ध, समवायि कारण और असमवायि कारण
 - 8.3.3 अवयव और अवयवी का भेद
- 8.4 विवर्तवाद
 - 8.4.1 माया
- 8.5 प्रतीत्यसमुत्पाद
- 8.6 सारांश
- 8.7 पारिभाषिक शब्दावली
- 8.8 बोध-प्रश्न
- 8.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 8.10 बोध-प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

आप बी.ए. अन्तिम वर्ष के भारतीय दर्शन में कार्यकारणवाद द्वितीय प्रश्नपत्र की आठवीं इकाई का अध्ययन करने जा रहें हैं। इस इकाई को पढ़कर आप—

- † भारतीय दर्शन की महत्ता जान सकेंगे।
- † भारतीय दर्शन में कार्यकारणवाद को जानेंगे।
- † भारतीय दर्शन के विभिन्नवादों को जानेंगे।
- † दर्शन के षड् सम्प्रदायों को पढ़ेंगे।
- † सांख्य-दर्शन के सत्कार्यवाद को जानेंगे।
- † न्यायवैशेषिक दर्शन के असत्कार्यवाद को जानेंगे।
- † बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद के विषय में अध्ययन करेंगे।
- † अद्वैत दर्शन के विवर्तवाद को जानेंगे।

8.1 प्रस्तावना

‘दर्शन’ शब्द का व्युत्पत्ति— लभ्य अर्थ है— दृश्यते अनेन इति दर्शनम्— जिसके द्वारा वस्तु का सत्यभूत तात्विक स्वरूप देखा जाय। हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं? इस सर्वतो दृश्यमान जगत् का सच्चा स्वरूप क्या है? इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई? इसकी सृष्टि का कारण कौन है? जीवन को सुचारु रूप से बिताने के लिये कौन—सा सुन्दर साधन—मार्ग है? दर्शन को शास्त्र कहते हैं। शास्त्र का अर्थ क्या है? इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना ‘दर्शन’ का प्रधानयेय है।

पाश्चात्य विचारशास्त्र की सामान्य संज्ञा Philosophy है। यह शब्द दो ग्रीक शब्दों के सम्मिश्रण से बना है— Philos प्रेम या अनुराग तथा Sophia विद्या। अतः Philosophy शब्द का अर्थ है विद्या का प्रेम — विद्यानुराग। आरम्भ में Philosophy के अन्तर्गत विज्ञान भी आता था, पर आजकल पाश्चात्य देशों में दर्शन तथा विज्ञान का पार्थक्य स्पष्ट कर दिया गया है। इस जगतीतल के विभिन्न विषयों के विशिष्ट अध्ययन तथा वर्णन को ‘विज्ञान’ कहते हैं, जैसे भौतिक विज्ञान, रसायन, ज्योतिःशास्त्र आदि। परन्तु इन विभिन्न विज्ञानों के द्वारा उद्भावित सत्यों का एकीकरण Philosophy है।

भारतीय दर्शन में मुख्यतया षड् सम्प्रदाय माने गये हैं। प्रत्येक दर्शन के एक—एक संस्थापक महापुरुष हुए हैं तथा एक—एक सम्प्रदाय के बहुत से अनुयायी तथा व्याख्याकार भी हुये हैं वे छः सम्प्रदाय हैं।

- (1) अद्वैतवेदान्त (शांकर दर्शन)
- (2) सांख्य दर्शन (कापिलेय दर्शन)
- (3) मीमांसा दर्शन (जैमिनी दर्शन)
- (4) वैशेषिक दर्शन (औलूक्य दर्शन)
- (5) न्याय दर्शन (अक्षपाद दर्शन)
- (6) योग दर्शन (पातंजल दर्शन)

यह जगत् परमार्थ—दृष्टि से सत्य हो या मिथ्या, इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि इसका सबको अनुभव होता है। अतः सभी दार्शनिकों के लिए यह आवश्यक है कि वे इस प्रत्यक्ष जगत् की तर्कसंगत व्याख्या करें। परिवर्तन, अर्थात् प्रति क्षण किसी वस्तु की उत्पत्ति और किसी का विनाश, इस जगत् का अनुभव—सिद्ध स्वभाव है। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि इस जगत् में होने वाला उक्त परिवर्तन कैसे होता है। दूसरे शब्दों में, यह परिवर्तन आकस्मिक है, बिना किसी कारण के हो जाता है, या इसका कुछ न कुछ कारण है? चिरकाल से इस प्रश्न के विषय में विचार—विमर्श होते आ रहे हैं। विभिन्न विचारक अपने अपने दृष्टिकोण से समाधान प्रस्तुत करते रहे हैं। श्वेताश्वतर, उपनिषद् में (1.2) में इस प्रश्न के समाधान के रूप में ‘कालवाद’, ‘स्वभाववाद’, ‘नियतिवाद’, ‘यदृच्छावाद’, ‘भूतवाद’, ‘पुरुषवाद’ का उल्लेख मिलता है। न्यायसूत्र में गौतम ने भी अनेक वादों का निर्देश किया है।

इन वादों में ‘स्वभाववाद’, जिसे न्यायसूत्र में ‘अनिमित्तवाद’ कहा गया है, चार्वाकों का सिद्धान्त है। इसके अनुसार उक्त परिवर्तन स्वभावतः, अपने आप हो जाता है, इसका कोई कारण नहीं है। अन्य वाद भी किसी न किसी रूप में कार्य—कारण—सिद्धान्त से दूर ही हैं। कार्य की उत्पत्ति में नियमितता दिखाई देती है। मिट्टी से घड़ा, धागे से वस्त्र, दूध से दही बनता है; इस प्रकार संसार में निश्चित कारण से ही निश्चित कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। इस आधार पर कार्य—कारण—सिद्धान्त की अनिवार्यता सुस्पष्ट है। इसलिए दार्शनिकों ने कार्य—कारण—सिद्धान्त पर आश्रित पक्षों का अवलम्बन अपने—अपने तर्क के आधार पर किया है।

8.1.1 सामान्य स्वरूप

इस संसार में दिखाई देने वाले कारण कार्य सम्बन्ध को आधार बनाकर प्रत्येक दर्शन अपनी तत्त्व मीमांसा के अन्तर्गत कारणवाद की विवेचना अवश्य करता है। कार्य की सत्ता ही उसके कारण की सूचक होती है। यह संसार और इसके समस्त पदार्थ कार्य हैं और वे अपने किसी न किसी कारण से उत्पन्न हैं। जगत् के मूल तत्त्व की खोज के अन्तर्गत दर्शन इस संसार में दिखाई देने वाले कार्य-कारण-सम्बन्ध की मीमांसा करते हैं और उसके आधार पर जगत् के मूल कारण का स्वरूप निश्चित करते हैं। जैसे सांख्य दर्शन के अनुसार संसार में दिखाई देने वाले सभी कार्यों व उनके कारणों में निश्चित रूप से पाया जाने वाला गुण है— सुख, दुःख और मोह/उदासीनता। इसलिए उन सभी के मूलभूत कारण में भी इन गुणों का होना आवश्यक है और ये सुख, दुःख, मोह त्रिगुण सत्त्व, रज व तम के धर्म हैं और इन तीन गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है जो सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् का मूल कारण है।

8.1.2 दार्शनिक पृष्ठभूमि

किन्तु दार्शनिक सम्प्रदायों में भी कार्य-कारण-सिद्धान्त की एकरूपता नहीं है। कार्य-कारण का सम्बन्ध क्या है? क्या कार्य कारण से पूर्ण रूप में अभिन्न है या दोनों परस्पर भिन्न हैं? कार्य किसी भावात्मक कारण से उत्पन्न होता है या अभावात्मक कारण से। कार्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया क्या है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान में मतभेद के आधार पर दार्शनिकों के कार्य-कारण-सिद्धान्त में विभिन्नरूपता आ गई है। दार्शनिकों में सांख्य, वेदान्त, बौद्ध (माध्यमिक) और न्याय-वैशेषिक मुख्य हैं जिन्होंने इस जटिल समस्या का तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास है। सांख्य का सिद्धान्त 'परिणामवाद', वेदान्त का 'विवर्तवाद', बौद्ध का 'शून्यवाद' और न्याय-वैशेषिक का 'आरम्भवाद' नाम से प्रसिद्ध है।

8.1.3 कारणवाद के प्रकार

प्रत्येक दर्शन अपनी तत्त्व मीमांसा के विवेचन के अंतर्गत कारणवाद के सिद्धान्त की स्थापना करता है। उसके द्वारा मान्य तत्त्वों के स्वरूप के आधार पर कारणवाद का स्वरूप आश्रित होता है। बौद्ध दर्शन प्रतिक्षण परिवर्तनशील तत्त्व को मानता है और कारण के नाश से कार्य की उत्पत्ति की बात करता है, इसलिए इनका सिद्धान्त असत्कारणवाद कहलाता है। न्यायदर्शन कार्य को एक सर्वथा नवीन उत्पत्ति मानता है। वह कार्य का कारण में अभाव मानता है। न्याय का कारणवादी मत असत्कार्यवाद कहलाता है। जबकि सांख्य दर्शन कार्य को कारण में पूर्वतः विद्यमान मानकर सत्कार्यवाद की स्थापना करता है।

प्रत्येक दर्शन अपनी तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत कारणवाद की विवेचना अवश्य करता है। कार्य की सत्ता ही उसके कारण की सूचक होती है। यह संसार और उसके समस्त पदार्थ कार्य हैं और वे अपने किसी न किसी कारण से उत्पन्न हैं। जगत् के मूल तत्त्व की खोज के अंतर्गत दर्शन इस संसार में दिखाई देने वाले कार्य-कारण-सम्बन्ध की मीमांसा करते हैं और उसके आधार पर जगत् के मूल कारण का स्वरूप निश्चित करते हैं। जैसे सांख्य दर्शन के अनुसार संसार में दिखाई देने वाले सभी कार्यों व उनके कारणों में निश्चित रूप से पाया जाने वाला गुण है— सुख, दुःख और मोह/उदासीनता। इसलिए उन सभी के मूलभूत कारण में भी इन गुणों का होना आवश्यक है और ये सुख, दुःख, मोह त्रिगुण सत्त्व, रज व तम के धर्म हैं और इन तीन गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है जो सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् का मूल कारण है। इसका विस्तृत विवेचन प्रकृति के स्वरूप के अंतर्गत किया जाएगा। यहाँ कारणवाद के सिद्धान्त को समझाने के लिए यह उदाहरण दिया गया है।

कार्यकारणवाद के विषय में चार सिद्धान्त प्रमुख हैं:-

इह कार्यकारण भावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति।

असतः सज्जायत इति सौगताः संगिरन्ते ।
 नैयायिकादयः सतोऽसज्जायत इति ।
 वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजातं न तु वस्तुसदिति ।
 सांख्या पुनः सतः सज्जायत इति ।

सर्वदर्शन संग्रह

1. बौद्धों का असत्कारणवाद
2. वेदान्तियों का विवर्तवाद
3. नैयायिकों का असत्कार्यवाद
4. सांख्य दर्शन का परिणामवाद

‘सतः सज्जायते’ सत् से सत् की उत्पत्ति (आविर्भाव) होती है यह सांख्य का सिद्धांत है। ‘असतः सज्जायते’ असत् से सत् की उत्पत्ति होती है, वह बौद्धों का सिद्धांत है। ‘एकस्य सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तु सत्’ यह समस्त कार्य एक सत् वस्तु का विवर्त है; वास्तविक नहीं, यह वेदान्तियों का सिद्धांत है। ‘सतोऽसज्जायते’ सत् से असत् की उत्पत्ति होती है, है, यह नैयायिक और वैशेषिकों का सिद्धांत है।

8.2 सत्कार्यवाद

कार्यकारण के विषय में सांख्यों का एक विशिष्ट मत है जो सत्कार्यवाद के नाम से विख्यात है। मार्मिक प्रश्न यह है कि नाना प्रकार की सामग्री तथा प्रयत्न से उत्पन्न होने के पूर्व कार्य कारण में विद्यमान रहता है या नहीं ? अर्थात् कुम्भकार दण्ड की सहायता से घड़ा बनाता है, तब क्या उत्पन्न होने से पहिले घड़ा मिट्टी में विद्यमान था या नहीं ? या कि घड़ा बनाने के लिए कुम्भकार मिट्टी का ही ग्रहण क्यों करता है, बालू अथवा अन्य किसी उपादान का क्यों नहीं।

सांख्य दर्शन का कहना है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारण में अवश्यमेव अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है । इस प्रकार कार्य तथा कारण में वस्तुतः अभिन्नता है। कार्य की अव्यक्तावस्था का ही नाम कारण है और कारण की व्यक्तावस्था की संज्ञा कार्य है, अर्थात् कार्य जब तक प्रकट नहीं होता, तब तक वह वस्तु का कारण है, किन्तु जब वह प्रकट हो जाता है तब कार्य कहलाता है। इस प्रकार कार्य-कारण का भेद व्यावहारिक है। कार्य को अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान सत् मानने के कारण इस सिद्धान्त को सत्कार्यवाद के नाम से पुकारते हैं।

उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारण में सत् था इस हेतु सांख्यकारिकाकार प्रमाण देते हुए कहते हैं—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ सांख्यकारिका—9

इसकी पुष्टि मे सांख्याचार्यों ने निम्नलिखित युक्तियां दी है :-

- 1 **असदकरणात्**— अविद्यमान वस्तु कथमपि उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि कारण में कार्य की सत्ता वस्तुतः नहीं होती, तो कर्ता के कितना भी प्रयत्न करने पर यह कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। नील वस्तु सहस्त्रों शिल्पियों के उद्योग करने पर भी कथमपि पीत रंग की नहीं बनाई जा सकती।
- 2 **उपादानग्रहणात्**— किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए केवल विशिष्ट साधनों का उपयोग किया जाता है, दही चाहने वाला दूध को ही ग्रहण करता है; तन्तुओं से ही कपड़ा बुना जाता है। इन व्यावहारिक

दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि कार्य-कारण का सम्बन्ध नियत है। यदि ऐसा न होता तो कोई भी कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न होता दिखाई पड़ता। क्या कारण है कि तेल के लिए सरसों या तिलों को ही कोल्हू में पैरा जाता है, क्यों नहीं मिट्टी या कंकड़ को कोल्हू में डालने से तेल निकलता? उत्तर यह है कि कार्य तेल रूप सरसों या तिल रूप कारण मे पहले से ही विद्यमान है। इसीलिए इस कार्य के वास्ते उसी विशेष उपादान (सामग्री) को हम ग्रहण करते हैं।

- 3 **सर्वसम्भवाभावात्**— इतना ही नहीं, अगर पूर्व स्थिति को नहीं मानते तो सबसे सब चीजें पैदा हो जाती। मिट्टी से कपड़ा भी बनता और कम्बल भी तैयार होता, परन्तु ऐसा तो कभी नहीं होता। सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति कभी नहीं दिखलाई पड़ती। निश्चित कारणों से ही निश्चित कार्य की उत्पत्ति होती है। जुलाहा कपड़ा तैयार करने के लिए जो तन्तुओं को ही लेता है, इसका कारण उसे ज्ञात है। वह जानता है कि कारण में किसी विशेष कार्य को पैदा करने की शक्ति है। सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति कभी दृष्टिगोचर नहीं होती। यह भी कार्य कारण के पूर्वस्थित सम्बन्ध का नियामक है।
- 4 **शक्तस्य शक्यकरणात्**— कारण जिस शक्ति से युक्त है उस पदार्थ को वह पैदा करता है, अन्य को नहीं। इसीलिए तेलहन से तेल निकलता है, तथा मिट्टी से घड़ा बनता है, दूसरी कोई चीज नहीं। शक्त (शक्ति-सम्पन्न) कारण से शक्य वस्तु की उत्पत्ति होते देखे यही कहा जा सकता है कि कारण में कार्य की सत्ता अव्यक्त रूप से अवश्य विद्यमान है।
- 5 **कारणाभावात्**— कार्य तथा कारण की एकता वास्तविक है। वस्तुतः कार्य और कारण एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाओं के भिन्न नाम हैं—व्यक्त दशा का नाम कार्य है और अव्यक्त दशा का प्रचलित अभिधान कारण है। संसार का प्रतिदिन अनुभव इसी सिद्धान्त को पुष्ट करता है। इन सब प्रमाणों के आधार पर हम इसी सिद्धान्त पर पहुंचते हैं कि कारण व्यापार से पहले भी कारण में कार्य की सत्ता रहती है। इसी कारण सांख्य के मत से न तो किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है और न विनाश। कर्ता के व्यापार से वस्तु का आविर्भाव मात्र होता है— अव्यक्त वस्तु व्यक्त रूप में प्रकट हो जाती है। इस प्रकार कार्य की अव्यक्त अवस्था कारण और कारण की व्यक्त अवस्था कार्य कहलाती है।

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।

सत्कार्यवाद के दो रूप होते हैं— (1) परिणामवाद और (2) विवर्तवाद। वस्तु का तत्त्वतः विकार परिवर्तन रूप अथवा परिणाम वहाँ होता है जहाँ कारण से उत्पन्न कार्य वास्तव होता है, जैसे दूध से दही की उत्पत्ति। यहां दही वस्तुतः सच्ची चीज है। वह आकार में, रूप में तथा फल में भिन्न होता है। दही जमा हुआ होता है तथा स्वाद में मीठापन लिए होता है, जो दूध के मिठास से भिन्न होता है। अतः कार्यों को वास्तव, सच्चे रूप से बतलाने वाला सिद्धान्त परिणाम कहलाता है और सांख्यों का यही मत है।

8.3 असत्कार्यवाद (आरम्भवाद)

नैयायिक अपने असत्कार्यवाद के सिद्धांत के अनुसार— 'सतः असज्जायते। सत् से असत् कार्य की उत्पत्ति होती है। अर्थात् कारण के व्यापार से पूर्व कार्य असत् हृद्वै। जैसे— सद् रूप मृत्तिका से असत् (उसमें न रहने वाला) घट उत्पन्न होता है।

इन के अनुसार कार्य और कारण स्वभावतः भिन्न होते हैं। कार्य किसी भी रूप में कारण नहीं रहता। मिट्टी से अधिक बड़े आकार वाला घड़ा मिट्टी में कैसे रह सकता है और यदि दोनों में कोई एकरूपता है, तो फिर दो अलग-अलग वस्तुएँ मानने की क्या आवश्यकता है। कार्य का कारण में प्रागभाव (उत्पत्ति से पूर्व अभाव)

और नष्ट होने पर ध्वंसाभाव (नाश) होता है न कि वह पुनः कारण में विलीन होता है। दधि नष्ट हो कर दूध नहीं बनता। यह अवश्य है कि घट मिट्टी से और दधि दूध से ही बनता है किन्तु यह कार्य और कारण (अवयव और अवयवी) के बीच में होने वाले समवाय सम्बन्ध की वजह से होता है। समवाय सम्बन्ध उन दो वस्तुओं में होता है जिन्हें एक दूसरे से अलग करना संभव नहीं होता। वे अयुतसिद्ध कहलाती हैं और अयुत सिद्धों का सम्बन्ध समवाय होता है।

नित्यसम्बन्धः समवायः। अयुतसिद्धवृत्तिः।

ययोर्द्वयोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावेवायुतसिद्धौ विज्ञातव्यौ।

नैयायिकों के अनुसार कार्य का स्वरूप ही कारण में अपने पूर्व स्थित अभाव का प्रतियोगी होना है— ‘कार्य प्रागभावप्रतियोगी’। इसलिए पूर्वतः अविद्यमान (वस्तु) ही कार्य रूप में उत्पन्न होती है। यह कार्य एक सर्वथा नवीन उत्पत्ति होती है (पूर्व स्थित की अभिव्यक्ति नहीं)।

8.3.1 पूर्वपक्ष

कार्यरूप ग्रहण करने से पूर्व उस कार्य की कारण में सत्ता विद्यमान रहती है। मिट्टी, स्वर्ण आदि जब कारण के रूप में होने हैं तो उनसे अनेक कार्यों के उत्पन्न होने की सम्भावना होती है, किन्तु कारण व्यापार होने पर वे सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। जैसे मिट्टी से घड़ा बन जाने पर उसकी गमला, सुराही आदि की सम्भावना समाप्त हो जाती है। इसी बात को शंकराचार्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् (1.2.1) के भाष्य में कहा है— ‘सर्वं हि कारणं कार्यमुत्पादयत् पूर्वोत्पन्नस्य कार्यस्य तिरोधानं कुर्वत् कार्यान्तरंमुत्पादयति, एकस्मिन् कारणे युगपदनेककार्यविरोधात्।’ एक कारण में एक साथ अनेक कार्य सम्भव नहीं हैं। साथ ही कार्य की उत्पत्ति का अर्थ उसका अभिव्यक्त होना ही है। असत् की कभी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। प्रकाश के न रहने पर घट का दिखाई नहीं देना उसके अनस्तित्व का निश्चित नहीं करता, इसी प्रकार सूर्य के उदित होने पर अविद्यमान घट प्रकाशित नहीं हो सकता, क्योंकि असत् की कभी प्रतीति नहीं होती—

“कार्यस्य चाभिव्यक्तिलिंगत्वात्।

अभिव्यक्तिः साक्षाद्विज्ञानालम्बनत्वात् प्राप्तिः।

न हि अविद्यमानो घट उदितेऽप्यादित्य उपलभ्यते।

इस प्रकार प्रत्येक कार्य अपने कारण में पूर्वतः विद्यमान रहता है। निमित्त कारणादि की सहायता से निश्चित देश और काल में वह जो स्वरूप और आकार ग्रहण करता है उसे हम कार्यरूप में विशेष नाम दे देते हैं जैसे घट—पट आदि।

दूसरे शब्दों में कार्य अपने कारण से सर्वथा भिन्न होता है। सत्कार्यवादी सांख्य के अनुसार कारण और कार्य अभिन्न हैं। उदाहरणार्थ तन्तु और पट का तादात्म्य है अर्थात् तन्तु ही पट रूप में परिणत हो जाते हैं। पर तन्तुओं से भिन्न कोई नवीन वस्तु नहीं है परन्तु न्याय वैशेषिक के अनुसार तन्तुओं से उत्पन्न होने वाले पट तन्तुओं से सर्वथा भिन्न हैं और एक नई वस्तु है। तन्तु और पट दोनों का तत्त्व अलग—अलग है। न्याय वैशेषिक के अनुसार तन्तु तो पहले के समान पट के उत्पन्न होने पर भी ज्यों के त्यों बने रहते हैं किन्तु तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला ‘पट’ नामक एक नया द्रव्य उत्पन्न हो जाता है।

सांख्य के परिणामवाद के अनुसार यह पट कोई नई वस्तु नहीं है प्रत्युत अव्यक्त अवस्था में ‘पट’ तन्तुओं में पहले से ही विद्यमान था तन्तु और पट का तत्त्व एक ही है इस प्रकार का सिद्धान्त मनुष्य की सामान्य बुद्धि के अधिक अनुकूल है। परन्तु ध्यान से देखने से पता लगेगा कि बाह्यार्थवाद की रक्षा की दृष्टि से न्याय वैशेषिक का यह सिद्धान्त कि तन्तु पट से सर्वथा भिन्न है आवश्यक है क्योंकि यदि सांख्य के अनुसार तन्तु और पट को

तत्त्वतः एक ही मान लिया जाय तो स्वभावतः यह प्रश्न होता है कि यदि तन्तु और पट सर्वथा एक ही हैं तो पट में नये धर्म कहाँ से आ गये। तन्तु यदि पट के रूप में परिणत होते हैं तो इस वाक्य में परिणति का क्या अर्थ है? साथ ही तन्तु और पट दो भिन्न-भिन्न वस्तु तो दिखती नहीं, तो न्याय वैशेषिक का उत्तर है कि समवाय सम्बन्ध के द्वारा वस्तुतः दो भिन्न वस्तु एक ही प्रतीत होने लगती है इसलिए न्याय वैशेषिक यह मानता है कि कारण में कार्य समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न हो कर रहता है। इस प्रकार 'तन्तु और पट' दो भिन्न वस्तु हैं, जिनमें से 'तन्तु' कारण है और 'पट' कार्य जो, उन तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता है उत्पन्न होने से पूर्व पट अर्थात् कार्य सर्वथा असत् था इसलिए इस सिद्धान्त को असत्कार्यवाद' कहते हैं।

साथ ही क्योंकि कार्य पट सर्वथा एक नई वस्तु के रूप में जिसका तत्त्व कारण तन्तु के तत्त्व से सर्वथा भिन्न है उत्पन्न होता है इसीलिए इस सिद्धान्त को 'आरम्भवाद' भी कहते हैं।

8.3.2 समवाय सम्बन्ध, समवायि कारण और असमवायि कारण

समवाय सम्बन्ध, समवायि कारण और असमवायि कारण के स्वरूप को स्पष्टतया समझने पर न्याय वैशेषिक के असत्कार्यवाद को सरलता से समझा जा सकता है। यत्समवेत कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम् जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है वह समवायिकारण कहलाता है।

असमवायिकारण— कार्येण कारणेन वा एकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति यत्कारणम् तदसमवायिकारणम्। कार्य अथवा कारण के साथ एक अर्थ में समवेत रहने वाला असमवायिकारण होता है जैसे पट के प्रति तन्तु संयोग व पट—रूप के प्रति तन्तु रूप। असमवायिकारण सदैव गुण और कर्म होता है जबकि समवायिकारण सदैव द्रव्य होता है। इन दोनों से भिन्न चेतन कर्ता और कार्य निर्माण के लिए आवश्यक यन्त्रादि निमित्त कारण कहलाते हैं।

8.3.3 अवयव और अवयवी का भेद

न्याय वैशेषिक के कारणवाद का आधार है अवयव और अवयवी का सिद्धान्त जिसके अनुसार अवयवी पट तन्तुओं का समूह मात्र नहीं है प्रत्युत तन्तुओं से भिन्न सर्वथा एक नई वस्तु है। न्याय वैशेषिक के इस सिद्धान्त पर सभी अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों ने अर्थात् सांख्य वेदान्त और बौद्ध ने आक्षेप किया। परन्तु यह स्पष्ट है कि न्याय वैशेषिक का कारणवाद ही इस 'अवयव—अवयवी के भेद' सिद्धान्त पर निर्भर है। कारण रूप तन्तु अवयव है जिनमें पट नामक कार्य अवयवी के रूप में होता है और यह अवयवी अपने अवयवों से सर्वथा भिन्न वस्तु है, अर्थात् कार्य कारण से सर्वथा भिन्न वस्तु है।

प्रत्येक दर्शन का अपना अपना कार्य कारण सिद्धान्त होता है। कार्यकारण सिद्धान्त बिना जगत् की उत्पत्ति का विचार नहीं किया जा सकता। न्याय और वैशेषिक दर्शन समान तन्त्र है अतः दोनों का कार्यकारण सिद्धान्त एक ही है जिसको आरम्भवाद अथवा असत्कार्यवाद संज्ञा से विवृत किया जाता है। न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार कारण कार्य के रूप में नहीं बदलता अपितु कारण में एक नई वस्तु उत्पन्न होती है जो कि कारण में समवाय सम्बन्ध से रहती है। इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है तन्तु पट के रूप में नहीं बदलते अपितु तन्तु स्वयं भी बने रहते हैं और उन तन्तुओं में उनके संयोग के साथ रहने वाली एक नई वस्तु उत्पन्न होती है जिसे पट कहते हैं और पट तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता है। जब यह कहा जाता है कि तन्तुओं से पट उत्पन्न हुआ तो न्याय वैशेषिक के अनुसार इसका यह अर्थ होता है कि तन्तुओं में पट उत्पन्न हुआ न कि तन्तुओं के द्वारा पट उत्पन्न हुआ। अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि तन्तु पट के रूप में बदल गये; क्योंकि पट के उत्पन्न होने के बाद तन्तु भी विद्यमान है। इस प्रकार पट एक नई वस्तु के रूप में उत्पन्न होता है। न्याय वैशेषिक सिद्धान्त में एक नई वस्तु उत्पन्न होती है जो पहले नहीं थी। इसलिए इस सिद्धान्त को 'आरम्भवाद' (नई वस्तु के उत्पन्न होने का मत) अथवा 'असत्कार्यवाद' (जो सर्वथा नहीं थी उसके उत्पन्न होने का मत) कहते हैं।

यह शंका होती है कि कारण से सर्वथा असत्कार्य की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है क्योंकि जिस प्रकार

सर्वथा असत् नृशृंग की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार सर्वथा असत् कार्य की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। न्याय वैशेषिक की ओर से इस शंका का समाधान यह है कि नृशृंग और उत्पत्ति से पहले असत् कार्य में असत्त्व की समानता होने पर भी नृशृंग उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि वहां कारण सामर्थ्य नहीं है। घटादि असत् कार्यों की उत्पादन के लिए कारणों में सामर्थ्य होता है अतः वे उत्पन्न हो जाते हैं। पुनः यह शंका हो सकती है कि असत्कार्य से उत्पन्न होने के कारण जब कारण और कार्य का घट और पट की तरह देश भेद क्यों नहीं होता है अर्थात् वे घट पट की तरह पृथक् देश में विद्यमान प्रतीत क्यों नहीं होते हैं। इस समस्या के समाधान के लिए न्याय वैशेषिक में कारण व कार्य के बीच समवाय सम्बन्ध की परिकल्पना की गई है जिसके कारण मृत्तिका और घट अन्य होने पर भी पृथक् देश में स्थित नहीं होते हैं। प्रतीति का भेद होने से कार्य व कारण में भेद होने पर भी देश भेद अभीष्ट नहीं है। समवाय सम्बन्ध न्याय वैशेषिक के आरम्भवाद या असत्कार्यवाद का आधार स्तम्भ है। इस समवाय के आधार पर ही न्याय वैशेषिक में असत्कार्यवाद में साधक समवायिकारण तथा असमवायिकारण के सम्प्रत्यय माने गए हैं। अतः आरम्भवाद या असत्कार्यवाद का स्पष्टीकरण समवायिकारण तथा असमवायिकारण के स्वरूप को समझने पर सरलता से हो जाता है।

8.4 विवर्तवाद

विवर्तवाद को समझने के लिए अद्वैत वेदान्त में माने गए सत्ता के तीन स्तरों को समझना आवश्यक है।

- 1 पारमार्थिक सत्ता जिसका तीनों कालों में कभी बाध न हो, अर्थात् ऐसी सत्ता जिसके स्वरूप में कभी भी कोई परिवर्तन न हो, केवल ब्रह्म ही ऐसी सत्ता का उदाहरण है।
- 2 व्यावहारिक सत्ता— जिन वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, कालान्तर में उनका नाश भी होता है। ये वस्तुएं अनुभूति से पूर्व और बाद तक बनी रहती हैं, किन्तु तीनों कालों में सदैव वैसी ही नहीं रहती। संसार की समस्त वस्तुएं सत्ता की इसी कोटि में आती हैं।
- 3 प्रातिभासिक सत्ता— केवल प्रतीति के समय दिखाई देने वाली वस्तुएं जैसे स्वप्न, रज्जुसर्प, मृगतृष्णा का जल आदि वस्तुएं प्रातिभासिक सत्ता की कोटि में आती हैं।

अद्वैतवादियों का मानना है कि सच्चिदानन्द अनन्त, अद्वय ब्रह्म ही एकमात्र वस्तु है, जिसमें जीवन को वैविध्य से परिपूर्ण इस सम्पूर्ण संसार की प्रतीति होती है। यह प्रतीति अध्यारोप के कारण होती है— “वस्तुन्यवस्वारोपः अध्यारोपः” ब्रह्मरूप वस्तु पर अवस्तुभूत जगत् का आरोप ही अध्यारोप है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अंधेरे में व्यक्ति रस्सी के स्थान पर सर्प समझ लेता है और उसके कारण भय कम्पन आदि विकारों से ग्रस्त होकर तदनुरूप व्यवहार ही करता है, उसी प्रकार परम सत्ता ब्रह्म पर माया के कारण संसार का आरोप होता है अर्थात् संसार की प्रतीति होती है। इस पांच भौतिक संसार में जितनी भी वस्तुएं, प्राणी, वनस्पति आदि दिखाई देते हैं वे सभी व्यावहारिक सत्य हैं; क्योंकि ये नश्वर हैं। इनकी उत्पत्ति और विनाश निश्चित है। साथ ही गुरु के उपदेश और स्वाध्याय के माध्यम से परम सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले मुमुक्षु के लिए इनकी सत्ता का बाध उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार रज्जु के सर्प समझने वाले व्यक्ति के सामने प्रकाश उत्पन्न कर देने पर उसे रज्जु का बोध हो जाता है और सर्प की अवास्तविकता का भी ज्ञान हो जाता है।

इस संसार के समस्त पदार्थ नाम और रूप की दृष्टि से भिन्न-भिन्न है जैसे स्वर्ण से बने हुए विभिन्न आभूषण नाम और आकार में अलग-अलग होते हैं और उनका आधारभूत स्वर्ण एक ही वस्तु सत्य है अथवा मिट्टी के बने हुए सुराही, दीपक आदि बर्तन भिन्न हैं और वस्तुभूता मिट्टी ही सत्य हैं— “वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्”।

इस युक्ति से विचार करने पर जगत् के समस्त आकार मिथ्या ही प्रतीत होते हैं, समस्त गुण असत्य

सिद्ध होते हैं; तब प्रश्न यह है कि वह कौनसी वस्तु है जो सर्वत्र विद्यमान रहती है। हमने देखा कि 'घड़ा' नामक कोई वास्तविक पदार्थ नहीं होता, वस्तुतः मृत्तिका ही सत्य है, परन्तु यह भी ठीक नहीं; घड़े की अपेक्षा मृत्तिका अवश्यमेव विशेष स्थायी है, परन्तु फिर भी वह एकान्त पदार्थ नहीं जो सब जगह समान रूप से विद्यमान रहे। अंगूठी की अपेक्षा सुवर्ण अवश्य ठोस तथा चिरस्थायी है, परन्तु फिर भी वह मूल वस्तु नहीं हो सकता। मूल वस्तु वही हो सकती है, जो सब पदार्थों का अधिष्ठान हो; सब पदार्थों में समान रूप से सम्बद्ध (अनुस्यूत) हो और जिसे छोड़कर ये पदार्थ क्षण भर के लिए भी जीवित न रह सके। ऐसी वस्तु को खोजने पर हमें 'सत्ता' ही एक ऐसी वस्तु मिलती है जो समग्र पदार्थों में विद्यमान रहती है। 'सत्ता' से हमारा तात्पर्य किसी विशिष्ट सत्ता से नहीं है, बल्कि 'शुद्ध सत्ता' से ही है। यह सत्ता प्रत्येक पदार्थ में समभाव से रहती है। अतः 'सत्ता' को जगत् की मूल वस्तु या उपादान—कारण मानना चाहिए। वह भौतिक पदार्थों में ही नहीं बल्कि मानसिक व्यापारों में भी विद्यमान रहती है। भ्रम भी तो एक 'प्रत्यय' (आइडिया) है, चाहे उसका विषय असत्य भले हो परन्तु वह भी 'सत्ता' रूप है। इस प्रकार सत्ता समस्त पदार्थों में चाहे वे भौतिक जगत् के हों या मानस व्यापार—अनुगत रहती है। इस तथ्य पर हम युक्ति के द्वारा पहुँचते हैं। इसी शुद्ध सत्ता को, जो संसार का मूल कारण है, जो नाना रूपों में प्रकट होने पर भी स्वयं निराकार तथा निरवयव है, 'ब्रह्म' की संज्ञा दी गई है। यही ब्रह्म है। वह एक है। अनेक नहीं युक्तियों से पुष्ट अद्वैतवाद का यही आधार है।

8.4.1 माया

निर्विशेष निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष लक्षण जगत् की उत्पत्ति क्यों कर हुई? एक ब्रह्म से नानात्मक जगत् की सृष्टि कैसे हुई? इस प्रश्न के यथार्थ उत्तर के लिए 'माया' के स्वरूप को जानना आवश्यक है। शंकराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप में किया है, परन्तु परवर्ती दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों में सूक्ष्म अर्थ—भेद की कल्पना की है। परमेश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती और न वह जगत् की सृष्टि करता है। अविद्यात्मिका बीजशक्ति 'अव्यक्त' कही जाती है। यह परमेश्वर में आश्रित होने वाली महासुप्तिरूपिणी है, जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन किया करते हैं। अग्नि की दाहिका शक्ति के अनुरूप ही माया भी ब्रह्म के साथ संग रहने वाली शक्ति है। त्रिगुणात्मिका माया ज्ञान—विरोधी भावरूप पदार्थ है। भावरूप कहने का अभिप्राय यह है कि वह अभावरूपा नहीं है। माया न तो सत् है, न असत्। इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे 'अनिर्वचनीय' कहा गया है जो पदार्थ सद्रूप से वर्णित न किया जा सके, उसकी शास्त्रीय संज्ञा 'अनिर्वचनीय' है जगत् के पदार्थों का रूप दो प्रकार का होता है— सत् या असत्। 'सत्' उसे कहते हैं जो सर्वदा एक ही प्रकार का हो और किसी ज्ञान से भी उसका विरोध न हो, अर्थात् 'बाध' न हो। निर्बाध वस्तु सत् होती है, परन्तु यदि अन्य ज्ञान के द्वारा पूर्व वस्तु बाधित हो जाती है, तो उसे 'असत्' कहना पड़ता है। माया के विषय में ये दोनों प्रकार असंगत हैं। माया को 'सत्' कैसे माना जाय? ब्रह्म का ज्ञान होने पर माया का ज्ञान बाधित हो जाता है। ब्रह्मज्ञानी को माया का ज्ञान कभी नहीं होता, केवल अज्ञानी ही माया के पचड़े में फिरता रहता है। यदि माया 'सत्' होती, तो वह कभी बाधित नहीं होती और उसकी प्रतीति सर्वदा होती रहती, परन्तु ऐसा न होने वह 'सत्' नहीं कही जा सकती। तो माया 'असत्' कही जाय यह भी पक्ष ठीक नहीं क्योंकि असत् पदार्थ की कभी प्रतीति नहीं होती, परन्तु माया की प्रतीति तो हमें अवश्यमेव होती है। अतः उसे 'असत्' कही जाय यह भी पक्ष ठीक नहीं क्योंकि असत् पदार्थ की कभी प्रतीति नहीं होती, परन्तु माया की प्रतीति तो हमें अवश्यमेव होती है। अतः उसे 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार 'माया' में बाध प्रतीति दोनों प्रकार के विरुद्ध धर्मों के कारण उसे अनिर्वचनीय कहना पड़ता है।

तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अन्धकार की सहायता से अन्धकार का ज्ञान प्राप्त करना है। सूर्योदय काल में अन्धकार की भाँति ज्ञान के उदय—काल में माया टिक नहीं सकती। अतः नैष्कर्म्यसिद्धि का कहना है कि 'यह भ्रान्ति आलम्बन हीन तथा सब न्यायों से नितान्त विरोधिनी है। जिस प्रकार अन्धकार सूर्य को

नहीं सह सकता, उसी प्रकार माया विचार को नहीं सह सकती। इस प्रकार प्रमाण को न सहने और विचार को न सहने पर भी इस जगत् की उत्पत्ति के लिए माया को मानना तथा उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करना नितान्त युक्तियुक्त है। इसीलिए शंकराचार्य ने माया का स्वरूप दिखलाते समय लिखा है कि माया भगवान की अव्यक्त शक्ति है जिसके आदि का पता नहीं चलता, वह गुणत्रय से युक्त अविद्यारूपिणी है। उसका पता उसके कार्यों से चलता है। वही इस जगत् को उत्पन्न करती है।

माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और उभय रूप भी नहीं है। वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभय रूप है। न अंगसहित है, न अंगरहित है और न उभयात्मिका ही है, अपितु वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीया है— वह ऐसी है जो कही न जा सके।

माया की दो शक्तियां होती हैं। **आवरण तथा विक्षेप**। इन्हीं की सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तव रूप को ढक कर उसमें अवस्तु रूप जगत् की प्रकृति का उदय होता है। लौकिक भ्रान्तियों में भी प्रत्येक माया की शक्तियां विचारशील पुरुष को इन दोनों शक्तियों का अनुभव हुए बिना रह नहीं सकता। अधिष्ठान के सच्चे रूप को जब तक ढक नहीं दिया जाता और नवीन पदार्थ की स्थापना उस पर नहीं की जाती, तब तक भ्रान्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जादू के खेल पर विचार कीजिये। जादूगर दर्शकों के सामने एक जादू का खेल दिखला रहा है। वह कंकड़ों को आकाश में ऊपर उछालता है और वे सफेद चमकते हुए सिक्कों के रूप में जमीन पर गिरते हैं। यहाँ जादूगर अपने जादू के बल पर कंकड़ के असली रूप को ढक देता है, परन्तु इतने से भी उसके अभिप्राय की सिद्धि नहीं होती। वह उनको सिक्कों के रूप में जो दिखलाता है वही नवीन वस्तु की कल्पना है। अतः वस्तु के असली रूप को छिपा देना पहली सीढ़ी है और फिर उसी वस्तु में नवीन वस्तु को उत्पन्न कर देना अन्तिम सीढ़ी है। जब तक ये दोनों कार्य सिद्ध नहीं होते जादू का खेल बन नहीं सकता। ठीक इसी तरह माया भी ब्रह्म के असली रूप को ढक लेती है और फिर उसमें आकाश, पृथ्वी आदि नाना पदार्थों का आरोप कर लेती है। ब्रह्म तो ज्यों का त्यों बना रहता है। उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता, परन्तु माया—शक्ति की कृपा से उसी से आकाश, जल, अग्नि तथा पृथ्वी आदि पदार्थों के उत्पन्न होने की धारणा हमारे सामने आती है। यह माया का ही विलास है तथा उसकी दोनों शक्तियों का सामूहिक व्यवसाय है।

विक्षेपशक्ति— विक्षेपशक्तिस्तु यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयति, एवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्या आकाशादि— प्रपंचमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम्।

आवरण शक्ति— आवरण—शक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायत— मादित्यमण्डलमवलोकयितृनयन पथपिधायकतया यथाच्छादयतीय तथाज्ञानं परिच्छिन्नमसांसारिणमवलोकयितृ बुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीय तादृशं सामर्थ्यम्।

आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को मानो ढक लेती है और **विक्षेप** शक्ति उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपंच को उत्पन्न कर देती है। जिस प्रकार एक छोटासा मेघ दर्शकों के नेत्र को ढक देने के कारण अनेक योजन—विस्तृत आदित्यमण्डल को ढकता मालूम होता है उसी प्रकार परिच्छिन्न अज्ञान अनुभवकर्ताओं की बुद्धि को ढक देने के कारण अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित—सा कर देता है। इसी शक्ति की संज्ञा 'आवरण' है, जो शरीर के भीतर द्रष्टा और दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को ढक देती है। जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान रज्जु में अपनी शक्ति से साँप को उत्पन्न करता है, ठीक उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित आत्मा में शक्ति के बल पर आकाशादि जगत् प्रपंच को उत्पन्न करती है। इस शक्ति का अभिधान 'विक्षेप' है।

'आवरण' का अर्थ है असली स्वरूप पर परदा डाल देना तथा 'विक्षेप' का तात्पर्य है उस पर दूसरी वस्तु का आरोप कर देना। इन दोनों शक्तियों के बल पर माया भी ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति करती है। एक बात

विचारणीय है। जादू के पूर्वोक्त खेल में जादू का प्रभाव दर्शकों पर पड़ता है, स्वयं जादूगर के ऊपर नहीं। वह तो अपने जादू के रहस्य को जानता है कि वह दूसरों को भ्रम में डालने के लिए है। वह इससे अछूता बचा रहता है। माया में भी यही बात होती है। ईश्वर के लिए माया केवल एक इच्छामात्र है। वह इससे प्रभावित नहीं होता। परन्तु हम अज्ञानियों की दृष्टि में ईश्वर के बदले नाना प्रकार के पदार्थ दिखने लगते हैं। इस प्रकार माया हम लोगों के लिए भ्रम का कारण होती है। इसीलिए हम उसे अज्ञान या अविद्या भी कहते हैं। उसकी दो शक्तियाँ हैं – आवरण तथा विक्षेप। सृष्टि अनादि है। इस प्रकार माया भी अनादि है। माया के कारण ब्रह्म के स्थान पर जगत् की प्रतीति होती है। वस्तु का कार्य के रूप में वास्तविक परिवर्तन नहीं मानने के कारण यह सिद्धान्त विवर्तवाद कहलाता है।

8.5 प्रतीत्यसमुत्पाद

क्षणिकवादी बौद्ध दर्शन के अनुसार इस संसार में सापेक्ष कारणतावाद ही सम्भव है। एक वस्तु से दूसरी की उत्पत्ति मानने की परिस्थिति में वस्तुओं का अस्तित्व अधिक काल तक मानना होगा; जबकि क्षणभंगवादी बौद्ध दर्शन के अनुसार किसी भी पदार्थ का अस्तित्व एक क्षण से अधिक नहीं रहता। इस लिए बौद्ध दर्शन में कारण का मतलब कार्य को उत्पन्न करना न होकर, कार्य से पूर्ववर्ती होना है। पूर्ववर्ती क्षण अथवा उसमें स्थित वस्तु कारण और पश्चाद्वर्ती क्षण या वस्तु कार्य कहलाती है। यही 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धान्त है, जिसके अनुसार एक के होने पर दूसरे की उत्पत्ति होती है— 'अस्मिन्सति इदं भवतीति।

प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर गौतम बुद्ध ने यह प्रतिपादित किया कि अविद्या के प्रत्यय से ही संस्कार उत्पन्न होता है। संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान उत्पन्न होता है, विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप, नामरूप से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति, जाति से जरामरण शोक परिवेदना दुःख और परेशानियाँ उत्पन्न होती हैं। भगवान बुद्ध ने इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहा है। इसी प्रकार अविद्या न होने पर संस्कार का निरोध, संस्कार के निरोध से विज्ञान का निरोध, विज्ञान के निरोध से नामरूप, नामरूप से षडायतन का निरोध, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, तृष्णा से उपादान का निरोध, उपादान से भव का निरोध, भव के निरोध से जाति का निरोध, जाति के निरोध से जरामरण दुःखादि का निरोध हो जाता है। इसी को मध्यमा प्रतिपदा भी कहा गया है।

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्षते।

सा प्रज्ञप्तिरूपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा।। (मा. का. 24/18)

- 1 पूर्व जन्म – अविद्या से संस्कार
संस्कार से विज्ञान
विज्ञान से नामरूप
- 2 वर्तमान जीवन – स्पर्श से वेदना
वेदना से सतृष्णा
तृष्णा से उपादान
उपादान से भव
भव से जाति
- 3 भविष्य जीवन – जाति से जरा
जरा से मरण

वास्तव में इस प्रकार का कारणकार्य सम्बन्धी ज्ञान ही भगवान् के उपदेशों का सार है। प्रतीत्यसमुत्पाद का महत्त्व न केवल स्थविरवादी बौद्धधर्म के लिए ही है अपितु समग्र बौद्ध दर्शन के विकास और बुद्ध के मूल उपदेशों को समझने के लिए अत्यन्तोपयोगी है। शून्यवाद के आचार्य नागार्जुन ने भगवान् बुद्ध को प्रतीत्यसमुत्पाद के उपदेष्टा के रूप में ही स्मरण किया है और प्रतीत्यसमुत्पाद के उपदेष्टा के रूप में ही स्मरण किया है और प्रतीत्यसमुत्पाद पर ही उन्होंने शून्यवादी दर्शन की स्थापना की है इसी प्रकार अन्य बौद्ध आचार्यों ने भी प्रतीत्यसमुत्पाद को अपने दर्शनिक चिन्तन में स्थान दिया है।

यदि चार आर्य सत्यों को बौद्ध धर्म के मूल उपादान माने और अनात्मवाद के सिद्धान्त को बौद्ध दर्शन की वास्तविक प्रतिष्ठा स्वीकार करें तो यह कहा जा सकता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त इन दोनों की मध्यस्थता करना है। प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर ही दुःख के कारण और दुःख निरोध के उपाय को खोजा जाता है अपने दूसरे रूप में यह प्रतीत्यसमुत्पाद सभी बाह्य आन्तरिक धर्मों को क्षणिक अनित्य प्रत्युत्समुत्पद्य दिखाकर उनमें अनात्मबुद्धि को स्मरण स्वीकार करता है, जो दुःख और वेदना को निरोध का उपाय बनता है।

धर्म का उपदेश देते हुए भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा था 'भिक्षुओं! मैं तुम्हें धर्म कहता हूँ ऐसा कहकर भगवान् ने 'ऐसा उत्पन्न होने यह उत्पन्न होता है' जैसे अविद्या के कारण संस्कारादि के रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद का ही उपदेश दिया था। प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा मध्यमप्रतिपदा अत्यन्त उच्च कोटि का दार्शनिक सिद्धान्त है। कारण कार्य के सम्बन्ध में दो अतिवादी मान्यताएं हैं उनमें यह एक है जो कर्ता है वही फलोपभोग करता है। दूसरी यह कि करने वाला अन्य है व फल भोगने वाला अन्य है इन दो अतिवादी मान्यताओं से प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्धमत को बचा लेता है।

8.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में हमने विभिन्न दर्शनों के आधार पर कार्य एवं कारण सम्बन्धों के विषय में जाना। सांख्य के सत्कार्यवाद, वेदान्त के विवर्तवाद, न्यायवैशेषिक के असत्कार्यवाद एवं बौद्धदर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्तों के मूल मतों को हमने पढ़ा।

इसके आधार पर हम यह समझ सकते हैं कि कारणवाद का सिद्धान्त प्रत्येक दर्शन की धुरी होता है। उस दर्शन की तत्त्व मीमांसा व अन्य सिद्धान्त उससे प्रभावित होते हैं। दूसरे शब्दों में कारणवाद का सिद्धान्त वह नींव है जिस पर दर्शन सम्प्रदाय का सम्पूर्ण भवन खड़ा है।

परिणामवादी सांख्य दर्शन प्रकृति का परिणाम इस संसार को मानता है, जबकि विवर्तवादी वेदान्त दर्शन इस संसार को ब्रह्म का विवर्त मानता है। ब्रह्म के स्वरूप में कोई विकृति लाए बिना संसार की इससे अच्छी व्याख्या सम्भव नहीं है। परमाणुवादी न्याय-वैशेषिक संसार की व्याख्या अवयव-अवयवी की दृष्टि से करते हैं और असत्कार्यवाद की भी। क्षणभंगवादी बौद्धदर्शन संसार के समस्त पदार्थों को क्षण भंगुर मानने की वजह से कारणवाद के लिए प्रतीत्यसमुत्पाद नामक एक स्वतन्त्र सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। संक्षेप में प्रत्येक दर्शन का कारणवाद का सिद्धान्त उसकी तत्त्वमीमांसा से सीधे सम्बन्धित होता है।

8.7 पारिभाषिक शब्दावली

दर्शन	—	जिससे देखा जाये।
सत्	—	अविनाशी
असत्	—	नश्वर
विवर्त	—	माया
अनिर्वचनीय	—	जिसको कहा नहीं जा सके

जगत्	—	संसार
प्रतीति	—	आभास
वाद	—	मत
ब्रह्म	—	परमात्मा
सत्कार्यवाद	—	सत् कारण में विद्यमान सत् कार्य की उत्पत्ति
असत्कार्यवाद	—	असत् कार्य की उत्पत्ति
प्रतीत्यसमुत्पाद	—	प्रतीति से उत्पत्ति का नियम अर्थात् इसके होने पर यह उत्पन्न होता है।
विवर्तवाद	—	मायावाद।

8.8 बोध प्रश्न

- 1 सत्कार्यवाद क्या है? विस्तार से समझाइये।
- 2 बौद्धदर्शन किस वाद का प्रवर्तक माना जाता है? प्रकाश डाले।
- 3 “ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः”। इस उक्ति के प्रवर्तकाचार्य कौन हैं? तथा इस उक्ति को विशदरूपेण स्पष्ट कीजिये।
- 4 आरम्भवाद के समर्थक व प्रतिपादिक दर्शन का नाम लिखकर इस वाद पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
- 5 सुमेलित कीजिये

1 सत्कार्यवाद	बौद्धदर्शन
2 असत्कार्यवाद	अद्वैतवेदान्त दर्शन
3 विवर्तवाद	सांख्यदर्शन
4 प्रतीत्यसमुत्पाद	न्यायवैशेषिकदर्शन

8.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- † भारतीय दर्शन – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी।
- † श्रीमन्माधवाचार्यकृत सर्वदर्शन संग्रह – प्रो. उमाशंकरशर्मा ‘ऋषि’, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- † भारतीय दर्शन— डॉ० नन्द किशोर देवराज, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
- † भारतीय दर्शन— उमेश मिश्र हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, तृतीय संस्करण, 270।
- † सांख्यकारिका— डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी।
- † सांख्यकारिका— डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी।
- † सांख्यकारिका— डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र।
- † सांख्यकारिका— डॉ० रमाशंकर भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली।
- † सांख्यदर्शन का इतिहास— पं० उदयवीर शास्त्री, विजय कुमार गोविंद राम हासानन्द 4408, नई सड़क, दिल्ली।

8.10 बोध-प्रश्नों के उत्तर

- 1 उत्तर के लिये इकाई 8.2 "सत्कार्यवाद" देखें।
- 2 इस प्रश्न का उत्तर जानने हेतु इकाई 8.5 "प्रतीत्यसमुत्पाद" देखें।
- 3 उत्तरार्ध देखिये इकाई 8.4 "विवर्तवाद"।
- 4 उत्तरार्ध इकाई 8.3 "असत्कार्यवाद" देखिये।
- 5 इस प्रश्न का उत्तर विद्यार्थी स्वयं खोजें।

इकाई 9

भारतीय दर्शन में आत्मा तथा मोक्ष का स्वरूप

इकाई का स्वरूप

- 9.0 उद्देश्य
- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 भारतीय दर्शन में आत्मा का स्वरूप
- 9.3 चार्वाक दर्शन में आत्मस्वरूप
 - 9.3.1 धन ही आत्मा है
 - 9.3.2 पुत्र ही आत्मा है
 - 9.3.3 देहात्मवाद
- 9.4 जैनदर्शन में आत्मस्वरूप
- 9.5 बौद्धदर्शन में आत्मस्वरूप
- 9.6 न्यायवैशेषिक में आत्मस्वरूप
- 9.7 सांख्ययोगदर्शन में आत्मस्वरूप
- 9.8 पूर्वमीमांसा में आत्मस्वरूप
- 9.9 अद्वैतवेदान्त में आत्मस्वरूप
- 9.10 भारतीय दर्शन में मोक्ष का स्वरूप
- 9.11 चार्वाक दर्शन में मोक्ष का स्वरूप
- 9.12 जैनदर्शन में मोक्ष का स्वरूप
 - 9.12.1 सम्यक् दर्शन
 - 9.12.2 सम्यक् ज्ञान
 - 9.12.3 सम्यक् चरित्र
- 9.13 बौद्धदर्शन में मोक्ष का स्वरूप
 - 9.13.1 निर्वाण का स्वरूप
 - 9.13.2 निर्वाण अवर्णनीय है
- 9.14 न्यायवैशेषिक में मोक्षस्वरूप
- 9.15 सांख्ययोग में मोक्ष का स्वरूप
- 9.16 पूर्वमीमांसा में मोक्ष का स्वरूप
- 9.17 अद्वैतवेदान्त में मोक्ष का स्वरूप
 - 9.17.1 मोक्ष कूटस्थ नित्य
 - 9.17.2 मोक्ष सभी विकारों से रहित

- 9.18 बोध प्रश्न
 9.19 कतिपय उपयोगी पुस्तकें
 9.20 बोध प्रश्नोत्तर

9.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप –

1. आत्म तत्त्व तथा मोक्ष भारतीय दार्शनिकों का केन्द्र बिन्दु रहा है। भारतीय दर्शन का आत्म चिन्तन उसके मोक्षवाद से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है।
2. आत्मवादी दर्शनों की आत्मविषयक धारणाओं से परिचित होंगे।
3. "अपने आप को जानों" इस वाक्य से आत्मतत्त्व को जानने की प्रेरणा मिलती है।
4. भारतीय दर्शन का चरम लक्ष्य मोक्ष है। मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार होती है और क्या साधन है ? इससे आप परिचित होंगे।

9.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन का मुख्य आधार आत्मवाद है। न्यायदर्शन के अनुसार आत्मा एक द्रव्य है। आत्मा नित्य, विभु है। प्रत्येक शरीर में एक आत्मा का निवास रहता है। आत्मा के गुण हैं – "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गानि" न्यायदर्शन के अनुसार ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व तथा कर्तृत्व आत्मा के धर्म हैं।

According to Ananmbhatta - "Soul is the substratum of knowledge. It is of two kinds, supreme soul and individual soul. Of them the supreme soul is God, who is omniscient and one only. The individual soul is different in each body all pervading and eternal.

महर्षि कणाद ने आत्मा की सिद्धि में प्रमाण देते हुए कहा – "प्राणापान निमेषोन्मेष-जीवन-मनोगति-इन्द्रियान्तर विकार सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि" (वैशेषिक सूत्र 3.2.4) अर्थात् प्राण देह के भीतर गतिशील प्राणवायु, उदान, अद्योवायु निमेषोन्मेष-नेत्रों का बन्द होना, खुलना, आँखें झपकना जीवन, मन की गति, इन्द्रिय सम्बन्धी विकार परिणमन सुख दुःख इच्छा द्वेष तथा प्रयत्न आत्मा के लिङ्ग चिह्न हैं।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा या जीव का लक्षण उपयोग है – "उपयोगो लक्षणम्" (तत्त्वार्थ सूत्र 2/8)

अद्वैत वेदान्त में आत्मा को ब्रह्म या परम तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। "मैं हूँ" यह प्रतीति हर किसी को होती है यही आत्म तत्त्व का बोध है।

मीमांसा दर्शन के आचार्य प्रभाकर आत्मा को शरीर बुद्धि तथा इन्द्रियों से अलग नित्य सत्ता है। आत्मा अनेक है। आत्मा प्रत्येक शरीर में रहता है। आत्मा को ज्ञाता मानते हैं। प्रभाकर आत्मा के नौ विशेष गुण मानते हैं – बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न धर्म, अधर्म और संस्कार। इन गुणों की उत्पत्ति तब होती है जब आत्मा का संयोग मन से होता है।

कुमारिल भट्ट के अनुसार ज्ञान आत्मा का परिणाम है। ज्ञान क्रिया है, ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु ज्ञान का अनुमान होता है। कुमारिल आत्मा के दो अंश मानते हैं – जड़ और चेतन। चेतन अंश से आत्मा ज्ञात होता है और अचेतन अंश से ज्ञान का विषय बनता है।

भारतीय दर्शन में मोक्ष जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है। उसका अर्थ है मुक्ति। जैन दर्शन के अनुसार समग्र कर्मों का क्षय मोक्ष है – "कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः" (तत्त्वार्थसूत्र 10/3) संवर द्वारा नये कर्मों का निरोध तथा निर्जरा द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय जैन दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्ति का साधन है।

बौद्धदर्शन में मोक्ष को 'निर्वाण' कहा गया है। बुद्ध ने तृतीय आर्य सत्य में बताया है कि दुःख है, दुःख का कारण है तो दुःख निरोध भी है। यह दुःख निरोध ही निर्वाण है। धम्मपद में निर्वाण पूर्ण शान्ति की अवस्था को कहा गया है। बौद्धधर्म में निर्वाण की प्राप्ति हेतु आष्टांगिक मार्ग को चतुर्थ आर्य सत्य में बतलाया है।

न्यायदर्शन के अनुसार दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को 'अपवर्ग' कहा गया है – "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" (न्यायसूत्र 1/1/22)। अपवर्ग मोक्ष का पर्यायवाची है। अपवर्ग के दो भेद माने गये हैं – पर निःश्रेयस् तथा अपर निःश्रेयस्। अपर निःश्रेयस् जीवन्मुक्ति की दशा है तथा पर निःश्रेयस् विदेह मुक्ति की दशा है। जब प्रारब्ध कर्म मुक्त हो जाता है तो जीवन्मुक्ति विदेह मुक्ति में परिणत हो जाती है। वैशेषिक दर्शन में मोक्ष का स्वरूप वही है जो न्यायदर्शन में है।

सांख्यदर्शन में आध्यात्मिक आधिभौतिक तथा आधिदैविक दुःख से आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति को मोक्ष कहा गया है। मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति विवेक ज्ञान से होती है। अविवेक ही सभी दुःखों का कारण है। सांख्यदर्शन में जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति दोनों को स्वीकार किया गया है।

मीमांसा दर्शन में प्रपंच विलय को मोक्ष कहा गया है – "प्रपंच सम्बन्धविलयो मोक्षः"। प्रपंच का अर्थ है जगत्। जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध का विनष्ट हो जाना मोक्ष है। प्रपंच तीन प्रकार का है – भोगायतन शरीर, भोग साधन इन्द्रिय तथा शब्द आदि भोग्य विषय। इन तीनों बन्धनों का आत्यन्तिक विलय सर्वथा नाश मोक्ष है।

अद्वैत वेदान्त में मोक्ष 'अवच्छेदवाद' कहलाता है। अर्थात् अविधामूलक उपाधियों को तोड़कर निरुपाधिक ब्रह्म स्वरूप हो जाना मोक्ष है। यही अवच्छेदवाद है। शंकर के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के दो साधन हैं – बहिरंग साधन और अन्तरंग साधन। बहिरंग साधन चार प्रकार के होते हैं जिसे साधन चतुष्टय कहते हैं – 1. नित्यानित्यवस्तुविवेक 2. इहामुत्रार्थभोगविराग 3. शमदमादिसाधनसम्पत् 4. मुमुक्षुत्व।

अन्तरंग साधन भी चार हैं – 1. श्रवण 2. मनन 3. निदिध्यासन 4. समाधि।

अद्वैत वेदान्त में मुक्ति के दो भेद हैं – जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति।

9.2 भारतीय दर्शन में आत्मा का स्वरूप

जड़ और चेतन के संघातरूप इस जगत् के स्वरूप तथा उसकी कारणता के विचार के लिए भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा तथा अनात्मभूत पदार्थों के स्वरूप का गहन विवेचन किया है। चेतन तत्त्व को 'ब्रह्म', 'आत्मा' तथा 'रसादि' शब्दों से व्यवहृत किया है। आत्मा शब्द अन्य शब्दों की अपेक्षा व्यापक रूप में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक वाङ्मय में कहीं आत्मा और ब्रह्म का भेद माना गया है तथा कहीं अभेद का भी वर्णन प्राप्त होता है। शरीर से सम्बद्ध आत्मा जीवात्मा अथवा कर्मात्मा कहलाता है। संसार में कारण के रूप में आत्मा को परमात्मा या ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार चेतन तत्त्व के सभी स्वरूपों के लिए आत्मा मौलिक शब्द है। आत्मस्वरूप विषयक चिन्तन की भूमिका संहिता ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में प्राप्त होती है और उसका सूक्ष्मतम और विस्तृत चिन्तन उपनिषदों में प्राप्त होता है। जीव मात्र दुःख की निवृत्ति के लिए, आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति के लिए या आत्मा के दर्शन के लिए ही व्याकुल है। एक मात्र उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जीव की सभी क्रियाएँ होती हैं। आत्मा के दर्शन से दुःख की निवृत्ति होती है यही वेद और शास्त्रों का कथ्य है तथा ऋषियों का अनुभव भी है अतएव सभी जीव आत्मा की खोज में अपनी बुद्धि के अनुसार लगे रहते हैं। जहाँ तक आत्मा के अस्तित्व का प्रश्न है उसको नास्तिक भी नकार नहीं सकते इसलिए आचार्य शङ्कर ने कहा है –

"सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति यदि,

नात्मत्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्।"

पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा के स्वरूप में मतभेद हो नहीं सकता परन्तु भिन्न-भिन्न दर्शनप्रस्थानों के

आचार्यों ने अपनी बुद्धि के अनुसार आत्मस्वरूप का चिन्तन किया है जिसके कारण स्पष्ट मतभेद प्रतीत होता है। उनकी पूर्वग्रहग्रस्त मान्यता भी इस मतभेद की प्रयोजक है।

9.3 चार्वाक दर्शन में आत्मस्वरूप

भारतीय दर्शन प्रस्थानों में चार्वाक दर्शन भौतिकतावादी दर्शन है। उनके अनुसार आत्मा कोई भूत या भूतों के संघटन से बना हुआ पदार्थ ही हो सकता है। चार्वाक प्रस्थान में आत्मा के स्वरूप के बारे में अनेक सिद्धान्तों का विकास हुआ है। चार्वाकमत में आस्तिकों के आगम और तर्क का कोई स्थान नहीं है, फिर भी लोग आगम और तर्क को मानते हैं। उन्हें समझाने के लिए उनके ही आगम और तर्कों की सहायता चार्वाकों ने अपने मत के स्थापन के लिए स्वीकार की है।

9.3.1 धन ही आत्मा है –

चार्वाक दर्शन प्रस्थान के एक सम्प्रदाय का यह मत है कि धन ही आत्मा है क्योंकि जीवन का सुख-दुःख धन के होने और न होने पर ही निर्भर होता है।

9.3.2 पुत्र ही आत्मा है –

अन्य चार्वाकों का यह मत है धन तो जड़ है उसमें चैतन्य नहीं है वह स्वयं कुछ हीं कर सकता इसलिए वस्तुतः पुत्र ही आत्मा है।

9.3.3 देहात्मवाद –

घर में आग लगने पर पुत्र को छोड़कर अपने को लोग बचाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पुत्र से भी अधिक अपने शरीर को लोग प्रिय मानते हैं। सभी क्रियाएँ और चैतन्य शरीर ही में है इसीलिए चार्वाक सूत्र में कहा गया है – “चैतन्य विशिष्टः कायः पुरुषः”। भूतों में चैतन्य की उत्पत्ति कैसे हुई – इसका उत्तर चार्वाक लोग लोक प्रसिद्ध अनुभव के आधार पर देते हैं। जिस प्रकार मदिरा के साधक द्रव्यों में मादक शक्ति नाम मात्र भी नहीं होने पर मादकता का आविर्भाव हो जाता है तथा जिस प्रकार पान खैर चूना तथा सुपारी में अलग-अलग ललाई नहीं दीख पड़ने पर भी इनके संयोग से खाने वाले के मुँह में लाल पीक की उत्पत्ति हो जाती है, इसी प्रकार पृथ्वी आदि भूतों के विकार शरीर में चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। कुछ चार्वाक दार्शनिकों ने इन्द्रियात्मक, प्राणत्मवाद तथा आत्ममनोवाद की भी स्थापना की है। इस प्रकार स्थूलभूत से सूक्ष्मभूत तक इनका आत्म चिन्तन प्रवृत्त हुआ है। भूतों के परे ये लोग नहीं जा सके।

9.4 जैनदर्शन में आत्मस्वरूप

जैन दर्शन में आत्मा जीव अथवा जीवास्तिकाय संज्ञा से व्यवहृत किया गया है। चेतन द्रव्य को जीव कहते हैं। चैतन्य जीव का सामान्य लक्षण है। इसमें प्राण है, इसमें शारीरिक मानसिक तथा इन्द्रियजन्य शक्ति होती है। शुद्ध नय के अनुसार जीव में विशुद्ध ज्ञान दर्शन तथा निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान रहता है किन्तु व्यवहारदशा में कर्मगति के प्रभाव से जीव का परिशुद्ध रूप आच्छादित हो जाता है और वह जीव संसारी कहलाता है। जीव की सभी क्रियाएँ उसके अपने किये कर्मों के फलस्वरूप हैं। जीव अमूर्त है, कर्ता है, अपने स्थूल शरीर के समान लम्बा चौड़ा है, अपने कर्मफलों का भोक्ता है सिद्ध है तथा ऊपर की ओर गतिशील है, जैसा कि द्रव्यसंग्रह में कहा गया है –

जीवो उवओगमगो अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो ।

भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ।।

अनादि अविद्या के कारण कर्म जीव में प्रवेश करता है और इसी कर्म के सम्बन्ध से जीव बन्धन में रहता

है। बन्धन की दशा में जीव में चैतन्य रहता ही है। यह “नित्य परिणामी” है। इसमें संकोच विकास ये दो गुण हैं अतएव एक ही जीव हाथी के शरीर में प्रवेश करने से उसके परिणाम का होता है और वही चींटी के शरीर में प्रवेश करने पर वह, चींटी के समान छोटा भी हो जाता है। इसमें रूप नहीं है इसलिए कोई चक्षु से नहीं देख सकता, किन्तु इसका ज्ञान तो लोगों को होता ही है। जीव में सम्यक् दर्शन सदा न रहे किन्तु किसी न किसी प्रकार का ज्ञान उसमें रहता ही है। बन्धन से मुक्त होने पर जीव का सम्यक् ज्ञान अभिव्यक्त होता है। सम्यक् ज्ञान से युक्त होने ही के कारण जीव मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। दिव्य मानुष नारकीय तथा तिर्यक ये चार जीव के परिणाम हैं जिन्हें पर्याय कहते हैं। दिव्य रूप या नारकीय रूप या मानुष रूप कोई भी रूप धारण कर ले फिर भी वह जीव तो रहता ही है। साधारणतया बद्ध और मुक्त के भेद से जीव दो प्रकार का है। बद्ध या संसारी जीव पुनः त्रस (जंगम) तथा स्थावर भेद से दो प्रकार का होता है।

9.5 बौद्धदर्शन में आत्मस्वरूप

बौद्धदर्शन के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध पक्के अनात्मवादी थे। अपने उपदेशों में उन्होंने आत्मवाद के अनुनायियों की कड़ी आलोचना की है। यह अनात्मवाद बौद्ध धर्म की दार्शनिक भित्ति है जिस पर समग्र आचार और विचार अवलम्बित है। बुद्ध ने आत्मवाद का खण्डन बड़े अभिनिवेश के साथ किया है। उनके खण्डन का मूल आधार यह है कि समस्त आत्मवादी पुरुष आत्मा के स्वरूप को बिना जाने उसके मंगल के लिए नाना-प्रकार के सत्कर्म तथा दुष्कर्म किया करते हैं। उनके अनुसार आत्मा का अस्तित्व मानना ही सब अनर्थों का मूल है। आत्मा का अस्तित्व मानने से ही अहंकार, सुखप्राप्ति की इच्छा, राग और काम उत्पन्न होते हैं।

बौद्ध दर्शन में आत्मा का यह निषेध पारमार्थिक दृष्टि से किया गया है, व्यावहारिक दृष्टि से नहीं। लोक व्यवहार के लिए आत्मा की सत्ता है जो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान – इन पञ्च स्कन्धों का समुदाय मात्र है, परन्तु इनके अतिरिक्त आत्मा कोई स्वतन्त्र परमार्थ भूतार्थ नहीं है। आत्मा केवल नाम है, परस्पर सम्बद्ध अनेक धर्मों का एक सामान्य नामकरण आत्मा या पुद्गल है। आत्मा के लिए बौद्ध दार्शनिक “सन्तान” शब्द का भी प्रयोग करते हैं। आत्मा मानसिक तथा भौतिक आभ्यन्तर तथा बाह्य, इन्द्रिय तथा इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थों का सन्तान रूप है। अठारह धातु (इन्द्रिय, विषय तथा सम्बन्धित विज्ञान) परस्पर मिलकर इस सन्तान को उत्पन्न करते हैं। प्रतीत्यसमुत्पादवादी बुद्ध ने एक क्षण के लिए भी आत्मा की परमार्थ सत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है। बौद्ध दर्शन में आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का तो निषेध कर दिया गया है परन्तु मन और मानसिक वृत्तियों की सत्ता सर्वथा स्वीकृत है। आत्मा का पता भी तो हमें मानसिक व्यापारों से ही चलता है। आत्मा नामरूपात्मक है।

9.6 न्यायवैशेषिक में आत्मस्वरूप

यद्यपि न्याय और वैशेषिक दर्शनप्रस्थान क्रमशः महर्षि गौतम और कणाद के द्वारा प्रवर्तित होने के कारण मूलतः भिन्न थे और दोनों दर्शनप्रस्थानों में सिद्धान्त भेद भी हैं तथापि मौलिक सिद्धान्त साम्य के कारण ये भाष्यकारों के समय समान तन्त्र के रूप में प्रसिद्ध हो गये। दोनों दर्शनप्रस्थान एक-दूसरे के पूरक हैं। परवर्ती काल में तो इनकी समानतन्त्रता इतनी अधिक बढ़ गई है कि एक ग्रन्थ में दोनों दर्शनों के सिद्धान्त का सम्मिलित प्रतिपादन किया गया। इसका कारण यह है कि दोनों शास्त्रों का मुख्य प्रमेय आत्मा है। आत्मा का स्वरूप दोनों दर्शनों में एक ही सा है। अतः यहाँ दोनों दर्शन के आत्मस्वरूप का विवेचन सम्मिलित रूप से किया जा रहा है।

दोनों ही दर्शनप्रस्थानों में शरीरात्मवाद इन्द्रियात्मवाद और मनात्मवाद का युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है। इन दर्शन प्रस्थानों में आत्मा को ज्ञानाधिकरण माना जाता है। आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीनों प्रमाणों का आश्रय लिया जाता है। “अहं सुखी” “अहं दुःखी” “अहं जानामि” इत्यादि प्रकार से जीवात्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है। मानस प्रत्यक्ष के द्वारा अपने ही आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है दूसरों के आत्मा का नहीं। अपना आत्मा भी शुद्ध रूप में मानस प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। वह जब

ज्ञात होता तब सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न या ज्ञान के आधार रूप में ही अर्थात् योग्य विशेष गुण से संयुक्त "अहम्" का भी भान होता है। न्याय-वैशेषिक के कुछ आचार्यों का मत है कि शुद्ध आत्मा का भी यौगिक प्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात्कार हो सकता है। आत्मा का अस्तित्व मुख्यतः अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध किया जाता है। आत्मा का प्रमाण श्रुति में भी मिलता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीनों प्रमाण आत्मा के अस्तित्व के साधक होते हैं।

आत्मा रूपादि गुणों से रहित है अतः उसका बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता है। वह देश काल के बन्धनों से सीमित नहीं है इसलिए वह विभु और नित्य कहलाता है। वह आकाश की तरह सर्वगत और सर्वव्यापी है। आत्मा निरवयव है। आकाश की तरह वह परम महत् परिमाण वाला होता है। आत्मा नित्य पदार्थ है। नित्य का अर्थ है – उत्पत्ति और विनाश से शून्य। आत्मा के बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना संस्कार ये नो विशेष गुण माने जाते हैं तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये सामान्य गुण होते हैं। इस प्रकार आत्मा चौदह (14) गुणों का अधिकरण माना जाता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि आत्मा देशकाल से परे अर्थात् असीम है तब फिर ससीम शरीर के साथ उसका संयोग कैसे होता है इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है – "पूर्व फलानुबन्धात्" अर्थात् पूर्व कर्म का फलभोग करने के निमित्त ही आत्मा को भौतिक शरीर का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है, इसलिए शरीर आत्मा का भोगायतन कहा गया है। नैयायिक और वैशेषिक आत्मा के दो भेद मानते हैं –

1. जीवात्मा और
2. परमात्मा।

जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है तथा परमात्मा एक ही है। महर्षि कणाद ने जीवात्मा की अनेकता के बारे में कहा है – "व्यवस्थातो नाना" अर्थात् यह देखने में आता है कि कोई सुखी है और कोई दुःखी है एक विद्वान् है तो दूसरा मूर्ख है। इस व्यवस्था से सिद्ध होता है कि भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न आत्मा है, एक ही आत्मा नहीं। जीव अनित्य ज्ञान का अधिकरण होता है किन्तु परमात्मा नित्यज्ञान का आश्रय। केवल आत्मा शब्द से मुख्यतः जीवात्मा का ही ग्रहण होता है। महर्षि कणाद ने प्राण-अपान, निमेष-उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर-विकार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न को आत्म साधक लिङ्गों के रूप में माना है।

9.7 सांख्ययोगदर्शन में आत्मस्वरूप

सांख्य और योगदर्शन प्रस्थान भी समानतन्त्र है और एक दूसरे के पूरक भी। इन दोनों में भी आत्मा का स्वरूप समान ही है अतः पृथक् निरूपण की आवश्यकता नहीं है। सांख्य दर्शन में पच्चीस तत्त्वों का व्यक्त अव्यक्त और ज्ञ इस प्रकार त्रिधा विभाग किया गया है। व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ के विवेक ज्ञान से ही दुःख त्रय की निवृत्ति रूप मोक्ष होता है। यह ज्ञ तत्त्व ही आत्मा है। यह ज्ञ तत्त्व परोक्ष है इसे बुद्धि के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में कोई नहीं देख सकता। यह त्रिगुणातीत है और निर्लिप्त है। सांख्य दर्शन में आत्मा के लिए पुरुष शब्द बहु प्रयुक्त है इसके अस्तित्व की सिद्धि शब्द और अनुमान प्रमाण से होती है। पुरुष अत्रिगुणात्मक, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन और अप्रसवध र्मी है। यही पुरुष का व्यक्त तथा अव्यक्त से वैधर्म्य है। पुरुष में साक्षित्व द्रष्टृत्व और अकर्तृभाव है। बुद्धि और पुरुष के संयोग के कारण अचेतन बुद्धि भी चेतन सी प्रतीत होती है तथा वस्तुतः गुणों में कर्तृत्व होने पर भी उदासीन पुरुष कर्ता की तरह प्रतीत होता है। पुरुष और प्रकृति का पङ्गु अन्ध की तरह संयोग होता है। सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने पुरुष के अस्तित्व साधक हेतुओं का प्रयोग करते हुए कहा है –

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च।।

अर्थात् संघातपदार्थों की परार्थता, त्रिगुणादि के विपर्यय, अधिष्ठातृ भाव भोक्तृभाव (साक्षित्व) तथा मुक्ति के लिए प्रवृत्ति के कारण पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होता है। उन्होंने पुरुष बहुत्व साधक हेतुओं का प्रयोग करते हुए कहा है—

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥

अर्थात् जन्म, मरण और इन्द्रियों की व्यवस्था, प्रवृत्ति भेद तथा त्रैगुण्यविपर्यय के कारण पुरुष बहुत्व सिद्ध होता है।

यह उल्लेखनीय है कि सुप्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक उमेश मिश्र ने सांख्य के ज्ञ और पुरुष में भेद माना है उनके अनुसार शुद्ध आत्म तत्त्व के लिए ज्ञ शब्द प्रयुक्त हुआ है। और वह एक है, अनेक नहीं। पुरुष शब्द बद्ध पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है। ईश्वरकृष्ण ने सत्रहवीं और अठारहवीं कारिका में बद्ध पुरुष अर्थात् संसारी जीवात्मा के ही अस्तित्व तथा बहुत्व की सिद्धि की है, न कि ज्ञ की। ज्ञ की सिद्धि केवल आगम प्रमाण से होती है।

योगदर्शन में बुद्धि के प्रतिसंवेदी पुरुष के लिए द्रष्टा शब्द का प्रयोग किया गया है। द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही दुःख का हेतु है। वह पुरुष शुद्ध है तो भी बुद्धि के साथ अविवेक के कारण बुद्धि में रहने वाले प्रत्यय नामक वृत्ति ज्ञान को अपने में देखता है।

9.8 पूर्वमीमांसा में आत्मस्वरूप

मीमांसा दर्शन के दो सम्प्रदाय हैं 1. भाट्ट मीमांसक 2. प्रभाकर मीमांसक। आत्मा के स्वरूप के विषय में मीमांसा के दोनों सम्प्रदायों में कतिपय भेद हैं। भाट्ट मीमांसकों के अनुसार प्रत्येक वस्तु ज्ञान में आत्मा का ज्ञान नहीं अपितु "आत्मसंविती" में आत्मा का ज्ञान होता है। कुमारिल आत्मा को ज्ञान का कर्ता और कर्म दोनों एक साथ मानते हैं परन्तु प्रभाकर के मत में यह मान्यता यथार्थ नहीं है एक ही पदार्थ एक समय में कर्ता तथा कर्म नहीं हो सकता। प्रभाकर के मत में मैं बड़े को जानता हूँ मैं लेखनी से लिख रहा हूँ। इन समस्त अनुभवों में क्रिया के कर्ता के रूप में आत्मा ही आलोचित होता है।

निष्कर्ष यह है कि कुमारिल आत्मा को ज्ञान का कर्ता तथा ज्ञान का विषय दोनों मानते हैं परन्तु प्रभाकर आत्मा को अहं-प्रत्यय-वेद्य स्वीकार करते हैं।

9.9 अद्वैतवेदान्त में आत्मस्वरूप

अद्वैत वेदान्त में आत्मा के स्वरूप का विशद (विस्तृत) रूप से विवेचन किया गया है। आत्मा के स्वरूप का कथन करते हुए सच्चिदानन्द पद का प्रयोग किया गया है इस लक्षण में तीन पद प्रयुक्त हुए हैं — 1. सत् 2. चित् 3. आनन्द। तीनों कालों में जिसका बाध नहीं होता वह सत् कहलाता है "कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति सत्" चित् से तात्पर्य है कि आत्मा चैतन्य स्वरूप है अर्थात् चैतन्य आत्मा का गुण नहीं है अपितु स्वभाव है और आत्मा को आनन्द रूप कहा गया है। श्रुति भी इसका समर्थन करती हुई कहती हैं — "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते"

वेदान्त दर्शन में आत्मा को स्वयं प्रकाश कहा गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया "अत्रायं पुरुषोः स्वयं ज्योतिः"। मुण्डकोपनिषद् में भी आत्मा की स्वयं प्रकाशता का सुन्दर निरूपण प्राप्त होता है अर्थात् उस आत्मा के प्रकाश स्वरूप होने के कारण संसार के समस्त पदार्थ उससे प्रकाशित होते हैं।

आत्मा को अछेद्य, अग्राह्य, अक्लेद्य, अशोच्य, नित्य, सर्वव्यापी, अचल और सनातन आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा इन्द्रियों मन और बुद्धि से परे है।

आत्मा के विषय में नानात्व का निषेध किया गया है अर्थात् आत्मा एक ही है कहा गया है – “एको देवःसर्वभूतेषु गूढः ...।” एकत्व की व्याख्या करते हुए सुन्दर उपमान द्वारा कहा गया है जैसे एक ही अग्नि नाना स्थानों एवम् पदार्थों में अनेक रूप से उद्भासित होता है उसी प्रकार सर्वभूतः अन्तः आत्मा बाहर और भीतर एक ही रूप से व्याप्त है। “एकमेवाद्वितीयम्” आदि श्रुति वाक्य भी आत्मा के एकत्व का समर्थन करते हुए आत्मा को एक तथा अद्वितीय निर्दिष्ट करते हैं इसके अतिरिक्त आत्मा के लिए कठोपनिषद् में कहा गया है

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

अर्थात् यह आत्मा न तो उत्पन्न होता है न ही मृत्यु को प्राप्त होता है यह अजन्मा, नित्य शाश्वत और पुराण है। शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह नष्ट नहीं होता। वेदान्तदर्शन की आत्मा विषयक अवधारणा अन्य दर्शनों की अपेक्षा विशेषता लिए हुए हैं।

9.10 भारतीय दर्शन में अनुसार मोक्ष का स्वरूप

भारतीय दर्शन की लगभग प्रत्येक शाखा में चरमलक्ष्य के रूप में मोक्ष को स्वीकार किया गया है। इस संसार में समस्त प्राणी आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक इन तीन प्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं और इन दुःखों से निवृत्ति चाहते हैं। इस त्रिविध दुःख से आत्यान्तिक तथा ऐकान्तिक निवृत्ति ही मोक्ष कहलाती है।

यद्यपि मोक्ष की अवधारणा सभी दर्शनों में प्राप्त होती है परन्तु मोक्ष के स्वरूप के विषय में विप्रतिपत्तियाँ हैं। भिन्नभिन्न दर्शन शाखाओं में मोक्ष का स्वरूप तथा उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है।

9.11 चार्वाक दर्शन में मोक्षस्वरूप

चार्वाकों का मोक्ष सम्बन्धी चिन्तन विलक्षण है और इनके अनुसार यह जगत् इन्द्रियगोचर है और यह संसार ही सत् वस्तु है इसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है शरीर के नष्ट हो जाने पर सुख और दुःख प्रदान करने वाला स्वर्ग तथा नरक कुछ भी नहीं है ऐहिक सुख को सर्वोच्च स्वीकार करते हुए कहते हैं—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमतं कृतः।।

समस्त क्लेशों का कारण यह शरीर है। जब तक शरीर है जब तक नाना प्रकार के क्लेशों से सन्तप्त रहता है। देहावसान के अनन्तर ही समस्त दुःखों की आन्त्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है इसलिए चार्वाकदर्शन में “मरणमेवापवर्गः देहोच्छेदः मोक्ष” इस प्रकार के सिद्धान्तों से देहनाश को ही मोक्ष स्वीकार किया गया है स्वर्ग नरक अथवा पुनर्जन्म को चार्वाकदर्शन स्वीकार नहीं करता है।

न स्वर्गो नैव नरकम् पुनर्जन्म न विद्यते।

नास्ति मृत्योः परं किञ्चिद् मोक्षो देहविमोचनम्।।

9.12 जैनदर्शन में मोक्षस्वरूप

जैनदर्शन में बन्धन का मूल कारण क्रोध, मान, माया लोभ ये चार प्रकार के कषाय ही हैं। इन कषयों से आकृष्ट हुआ जीव बन्धन को प्राप्त करता है और इन चार कषयों से मुक्त होना ही मोक्ष कहलाता है।

जैनदर्शन में उमास्वाति ने मोक्ष मार्ग की चर्चा करते हुए कहा – “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः” अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों समुचित रूप से मोक्ष का मार्ग है।

1. तत्त्वार्थ श्रद्धान ही सम्यक् दर्शन है 2. जीव अजीव आदि तत्त्वों का सविशेष ज्ञान सम्यक् ज्ञान कहलाता

है तथा 3. निषिद्ध कर्मों का त्याग और विहित कर्मों का आचरण ही सम्यक् चरित्र है। इन साधनों से मोक्ष लाभ सम्भव हो सकता है। मोक्ष का लक्षण करते हुए उमास्वाति द्वारा कहा गया है— “कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः” अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। जैन दर्शन में मोक्ष दो प्रकार का माना गया है —

1. भाव मोक्ष
2. द्रव्य मोक्ष

कर्म पुद्गलों से विमुक्त हुये जीव की अवस्था भावमोक्ष कहलाती है और यही अवस्था जीवन्मुक्ति है। किए गये कर्मों वाले आत्मा का जीव से सर्वथा पृथक् भाव ही द्रव्य मोक्ष है और मोक्ष की यही अवस्था सर्वोत्कृष्ट है।

प्रो. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य “जैन दर्शन” में लिखते हैं कि आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह — ये चार स्तम्भ हैं जिन पर जैन दर्शन का सर्वोदयी भव्य प्रसाद खड़ा है।

9.12.1 सम्यक् दर्शन —

सम्यक् दर्शन से तात्पर्य है जैन सिद्धान्तों तीर्थंकर उपदेशों और शिक्षाओं में विश्वास। जब तक मनुष्य को विश्वास नहीं होगा, उसे मोक्ष का मार्ग नहीं मिल सकता। सकल कर्मों की निवृत्ति रूप मुक्ति सग्यदर्शन का फल है और इस बीज का फल सम्यग्दर्शन है। सम्यक् दर्शन एक ऐसा गुण है कि इस गुण को प्राप्त आत्मा संसार सुख का सच्चा सुख मानने से विमुख बन जाती है। सम्यक् दर्शन गुण के प्रताप से आत्मा सच्चा परिणामदर्शी बन जाता है। अतः संसार के सुखों को वह दुःख रूप और दुःख का कारण मानता है सुख के लिए वह मोक्ष की इच्छा करता है। सम्यक् दर्शन की प्राप्ति दो प्रकार से होती है — 1. निसर्ग 2. अभिगम

- (i) निसर्ग — अपने आप, बिना गुरु उपदेश, अथवा बिना अन्य की प्रेरणा।
- (ii) अभिगम — गुरु उपदेश तथा अन्य बाह्य निमित्त से।

9.12.2 सम्यक् ज्ञान —

जैन धर्म में सम्यक् ज्ञान का अर्थ है जीव तथा अजीव के मूल तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना। यह सम्यक् दर्शन में श्रेष्ठ मार्ग है। सम्यक् ज्ञान से ही जीव और अजीव में भेद सम्भव है। इसके अभाव में पुद्गल का आस्रव होता है। इस आस्रव को रोकने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। जैन दर्शन में इसे “केवल ज्ञान” के नाम से भी जाना जाता है।

9.12.3 सम्यक् चरित्र —

सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त नहीं होता अपितु उसके लिए सम्यक् चरित्र की आवश्यकता है। ज्ञान और विश्वास सैद्धान्तिक दृष्टि से ठीक है। व्यवहारिक रूप से उन्हें चरित्र और आचरण में उतारना आवश्यक है। जैन धर्म में “पंचमहाव्रत” का पालन आवश्यक है—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

इन पाँच महाव्रतों के अतिरिक्त भी अन्य नियमों का उल्लेख किया गया है।

- (i) समिति — जीवन में कुछ नियमों का पालन आवश्यक है। ये पाँच प्रकार की हैं —
 - (अ) ईया समिति — चलने फिरने का ढंग
 - (ब) भाषा समिति — बोलने के नियमों का पालन
 - (स) एषणा समिति — भिक्षा प्राप्त करने की सावधानियाँ
 - (द) आदान निक्षेपण समिति — भिक्षा का कुछ भाग धर्म के कार्य के लिए बचाना

(य) प्रतिस्थापना समिति – अनुचित ढंग से मिले दान को स्वीकार नहीं करना।

मन, वचन तथा कर्म में गुप्ति (संयम) का अभ्यास करना। दस प्रकार के धर्मों का पालन करना जैसे – क्षमा, शौच, तप संयम, त्याग, सरलता, विरक्ति और ब्रह्मचर्य का अभ्यास करना। जीव तथा जगत् के यथार्थ तत्त्वों के प्रति आस्था रखना। भूख, प्यास शीतोष्ण आदि के कारण उत्पन्न कष्टों को सहन करना।

9.13 बौद्ध दर्शन में मोक्षस्वरूप

बौद्ध मतानुसार मोक्ष निर्वाण नामद्येय है। बौद्ध दर्शन की प्रत्येक सम्प्रदाय में निर्वाण के स्वरूप के विषय में मतभेद प्राप्त होते हैं। निर्वाण का स्वरूप शब्दों के द्वारा वर्णनीय है न तो इसकी उत्पत्ति होती है और नही निरोध होता है और न ही यह परिवर्तित होता है। योगाचार विज्ञानवादी इस निर्वाण को “प्रत्यात्मवेध” कहते हैं। हीनयान मत के अनुयायी “पच्चतं वेदितत्वं च” इन शब्दों के द्वारा निर्वाण का वर्णन करते हैं। बौद्धाचार्य नागार्जुन निर्वाण का स्वरूप बताते हुए कहते हैं –

अप्रहाणम् असंप्राप्तम् अनुच्छिन्नम् अशाश्वतम्

अनिरुद्धम् अनुत्पन्नम् एतन्निर्वाणमुत्ते।।

दुःख निरोध ही निर्वाण है यह भी बौद्धों के द्वारा स्वीकार किया गया है। निर्वाण प्राप्ति जीवन काल में ही सम्भव होती है। राग और द्वेष तथा उनसे उत्पन्न होने वाले दुःखों की नाशावस्था निर्वाण कहलाती है और यह अवस्था निष्क्रिय नहीं है। निर्वाण प्राप्ति का साधनभूत मार्ग आष्टांगिक मार्ग है।

बौद्ध धर्म के अनुसार मानव का परम लक्ष्य “निर्वाण” या मोक्ष है। मनुष्य स्वयं अपने दुःख या बन्धन का कारण है इसलिए बन्धन से मुक्त होने का उपाय भी उसी के अधीन है।

9.13.1 निर्वाण का स्वरूप –

बुद्ध का कहना है कि निर्वाण एक आस्था का नाम है जहाँ पहुंचने पर मनुष्य के सारे दुःखों का पूर्ण नाश हो जाता है। राग द्वेष पर विजय, तृष्णा अभिलाषा पर नियन्त्रण, शुद्ध आचरणशील के साथ जीवन व्यतीत करना तथा ध्यानमग्न, समाधिहीन हो जाना निर्वाण की अवस्था की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इसी अवस्था में ज्ञान का एक अलौकिक रूप देखने को मिलता है, वह “प्रज्ञा” है, इसे “बोधि” के नाम से पुकारते हैं। निर्वाण की अवस्था आने पर मनुष्य “अर्हत अथवा तथागत” कहलाता है।

निर्वाण की अवस्था कैसी होती है उसका क्या स्वरूप है? इस विषय में बुद्ध मौन रहे उनका कहना है कि निर्वाण तो एक अवस्था है, जिसको लोग केवल अनुभव कर सकते हैं।

राजा मिलिन्द ने जब निर्वाण के स्वरूप को जानना चाहा तो नागसेन ने निर्वाण के अवर्णनीय रूप को बतलाने के लिए कहा – “निर्वाण समुद्र की तरह गहरा, पर्वत की तरह ऊँचा और मधु की तरह मीठा है।”

विसुद्धिमग्ग में कहा है – “विसुद्धीति सब्बमलविरहित अच्चन्तपरिशुद्धं निब्बानं वेदितत्वं” अर्थात् सभी मलों से विरहित चित की अत्यन्त परिशुद्ध अवस्था को निर्वाण जानना चाहिए।

मज्झिमनिकाय के “निब्बाण परमं सुख” और थेरीगाथा का “निब्बाण सुखा परं नत्थि” सूत्र निर्वाण के परम सुख को प्रतिपादित करते हैं।

भगवान् बुद्ध ने आष्टांगिक मार्ग को “मध्यम मार्ग” की संज्ञा दी है। निर्वाण प्राप्ति के इस मार्ग में शील, समाधि और प्रज्ञा रूपी त्रिरत्न समाहित हैं। इस प्रकार निर्वाण बौद्ध विचारधारा का सर्वोच्च तत्त्व है।

अंगुत्तरनिकाय के तिकनिपात में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि निर्वाण का साक्षात्कार यही इसी जीवन में होता है। वह कालान्तर में प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। व्यक्ति इसी जन्म में निर्वाण प्राप्त करता है। निर्वाण सभी को

प्राप्त नहीं होता, जो पुण्य कर्म करता है, स्वीकार करने योग्य धर्मों को मानता है, जानने योग्य धर्मों को जानता है, अभ्यास में लाने योग्य धर्मों का अभ्यास करता है और साक्षात्कार करने योग्य का साक्षात्कार करता है।

9.13.2 निर्वाण अवर्णनीय है –

“निब्बानं न अतीतं अनागतं न पच्चुप्पन्नं न उप्पन्नं न अनुप्पन्नं न उप्पादनीयं” निर्वाण भूत भविष्य वर्तमान – इन तीनों कालों से आगे की स्थिति है। निर्वाण सन्मार्ग पर चलकर प्राप्त किया जा सकता है। मज्झिमनिकाय में निर्वाण के रहस्य को तथागत बुद्ध कहते हैं – भिक्षुओं ! जिस प्रकार तेल और बत्ती के रहने से दीपक जलता है और उस तेल, बत्ती के समाप्त हो जाने पर दीपक बुझ जाता है, निर्वाण को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार जीवन में अनुभूत वेदनाएँ, तृष्णाएँ भी शीतल हो जाती हैं। तब निर्वाण होता है वस्तुतः निर्वाण तृष्णा का और जीवन जीने की आकांक्षा का प्रहाण है।

9.14 न्यायवैशेषिक में मोक्षस्वरूप

न्याय और वैशेषिक के मत में दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। सूत्रकार गौतम ने न्यायसूत्र में कहा भी है – “तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः” न्याय के मत में पर तथा अपर भेद से निःश्रेयस दो प्रकार का वर्णित है। अपर निःश्रेयस तत्त्वज्ञान के पश्चात् ही होता है।

“दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरापायादपवर्गः” इस सूत्र का आशय स्पष्ट करते हुए भाष्यकार ने कहा जब तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान नष्ट होता है तो मिथ्या ज्ञान का नाश होने पर दोष नष्ट हो जाते हैं। दोषों का नाश होने पर प्रवृत्ति का नाश होने पर दुःख समाप्त हो जाते हैं और दुःखों का नाश होने पर आत्यन्तिक अर्थात् निःश्रेयस प्राप्त होता है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए वासनाओं का उच्छेद नाश आवश्यक है और वासनाओं का मूल कारण है— मिथ्याज्ञान; इस मिथ्याज्ञान की निवृत्ति तत्त्वज्ञान से ही सम्भव है।

समानतन्त्र वैशेषिक दर्शन में भी इसी प्रकार की मोक्ष-स्वरूप की कल्पना की गयी है। मोक्ष के स्वरूप को सूत्रित करते हुए महर्षि कणाद ने कहा है – “तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः” अर्थात् उस अदृष्ट का अभाव होने पर देहप्रवाह सम्बन्ध का विच्छेद और दुःख की अनुत्पत्ति ही मोक्ष है। न्यायवैशेषिक मतानुसार मोक्ष अवस्था में नौ विशेष गुणों का भी उच्छेद हो जाता है और वह ज्ञानादि गुणों से शून्य अवस्था अविशिष्ट रहती है। अतः उस अवस्था में आनन्दानुभूत शून्य अवस्था अविशिष्ट रहती है।

तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साधन है। जो कि श्रवण मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा सम्भव है। अपवर्ग प्राप्ति के लिए सर्व प्रथम धर्म ग्रन्थों के उपदेशों का श्रवण करना चाहिए। उसके बाद ‘मनन’ के द्वारा अपने आत्म विषयक ज्ञान को परिपक्व करना चाहिए। किसी प्रकार का सन्देह नहीं होना चाहिए तब जाकर निदिध्यासन के मार्ग पर प्रवृत्त होंगे। इसके यथार्थ ज्ञान के द्वारा अज्ञान और वासना, विषय, राग और द्वेष का नाश हो जाता है।

न्याय दर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान होने से मिथ्याज्ञान दूर होता है। मिथ्या ज्ञान के दूर होने पर दोष हटते हैं। दोषों के दूर होने पर प्रवृत्ति नष्ट होती है। प्रवृत्ति के दूर होने पर जन्म का विनाश होता है। जन्म के अपाय (नष्ट) होने के बाद दुःख की पूर्ण रूप से निवृत्ति होती है। दुःख की पूर्ण निवृत्ति ही “अपवर्ग” है।

वैशेषिक दर्शन में “निःश्रेयस्” की प्राप्ति में “अदृष्ट” की चर्चा आती है। अदृष्ट का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि जब तक आत्मा संसार के अन्दर है वह सदा किसी न किसी देह को धारण करता है ऐसी कोई स्थिति नहीं आती जब आत्मा “अदृष्ट” से रहित हो। आत्मा अज्ञान वश (अविद्या वश) कर्म करता है कर्म से धर्म-अधर्म के संस्कार “अदृष्ट” में एकत्रित होते रहते हैं। संचित और प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने पर आत्मा का शरीर से वियोग हो जाता है तब आत्मा अपने शुद्ध रूप में अवस्थित हो जाती है। यही अवस्था मोक्ष की अवस्था

होती है।

9.15 सांख्ययोगदर्शन में मोक्षस्वरूप

सांख्य दार्शनिकों के द्वारा भी कैवल्य का निरूपण किया गया है। अज्ञान से दुःख उत्पन्न होता है और वह दुःख आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक त्रिविध है। इस दुःखत्रय से मुक्ति का उपाय है व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ का ज्ञान और दुःखत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति होना ही अपवर्ग, मुक्ति अथवा कैवल्य है। सांख्य के अनुसार पुरुष यद्यपि स्वभाव से मुक्त है, तथापि अविवेक से उसका संयोग प्र.ति के साथ होता है। इस संयोग के कारण प्र.ति के प्रथम विकार महत् में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है और इसी कारण पुरुष स्वयं को कर्ता भोक्ता आदि मानता है ओइ—उन कार्यों से सुख—दुःख की अनुभूति करता है, जबकि वे वस्तुतः प्रकृति के कार्य हैं। अतः यह कहा जाता है संसार का मूल कारण अविवेक है और दुःख निवृत्ति का साधन विवेकबुद्धि है। सांख्यसूत्र में अपवर्ग का निर्देश करते हुए कहा गया —

“द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यम् अपवर्गः” प्रतिबिम्बरूप आरोपित दुःख का वियोग ही मोक्ष है। पुरुष तो वस्तुतः बन्धमोक्षरहित है। सांख्य के अनुसार मुक्ति दो प्रकार की है — 1. जीवन्मुक्ति 2. विदेह मुक्ति।

पतञ्जलि ने योगदर्शन में मोक्ष के लिए “कैवल्य” शब्द का प्रयोग किया है। कैवल्य का अर्थ है — केवल उसी रूप में होना। “केवलीभावं कैवल्यम्” जब पुरुष केवल रूप में अर्थात् अकेला कुशल रूप में ही अवस्थित होता है उस अवस्था को मुक्ति या कैवल्य कहा है। पतञ्जलि ने “कैवल्य” का विवेचन चारों पादों में एक—एक स्थान पर किया है —

1. समाधिपाद — “तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्” 1/3
2. साधनपाद — “तदभावेसंयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्” 2/25
3. विभूतिपाद — “सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्” 3/55
4. कैवल्यपाद — “पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति” 4/34

समाधिपाद में कैवल्य का स्वरूप और उसकी प्राप्ति के साधनभूत योग का सम्बन्ध बताया गया है। साधन पाद में सम्प्रज्ञातयोग समाधि, विवेकख्याति से अविद्या का नाश होने पर दुःखों का ऐकान्तिक और आत्यन्तिक नाश होता है। यही पुरुष का कैवल्य है। विभूतिपाद में बुद्धि सत्त्व की समान रूप से शुद्धि हो जाने पर कैवल्य सिद्ध होता है। कैवल्य पाद में कैवल्य का स्वरूप इस प्रकार दृष्टिगोचर होता है। जो पुरुष विषयों की शून्यता तथा गुणों के प्रति प्रसव अर्थात् क्रम को समाप्त कर देता है, उसका कोई भी क्रम अवशिष्ट नहीं रहता, वह पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है अर्थात् बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं रहता यही अवस्था “कैवल्य” है। विप्लव—रहित विवेकख्याति के पश्चात् जीवितावस्था में जो कैवल्य होता है, उसको जीवन्मुक्ति कहते हैं। विवेकख्यातिलब्ध योगी के प्रारब्ध भोग के अनन्तर शरीरपात होने पर अथवा असम्प्रज्ञात योग के सिद्ध होने पर गुणों का प्रतिप्रसव हो जाने पर विदेहमुक्ति होती है। जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति तो एक ही है। जब उसका अनुभव जीवित रहते हुए होता है, तब वह जीवन्मुक्ति है और शरीर—त्याग होने पर वह विदेहमुक्ति होती है।

9.16 पूर्वमीमांसा में मोक्षस्वरूप

प्राचीन मीमांसकों के अनुसार जीवन का परम लक्ष्य स्वर्ग प्राप्ति ही था इसलिए उन्होंने कहा “स्वर्ग कामो यजेत” परन्तु धीरे—धीरे अन्य दर्शनों के प्रभाव से मीमांसक भी निःश्रेयस अथवा मोक्ष को स्वीकार करने लगे। प्रपंच सम्बन्ध का विलय ही मोक्ष है। प्रपंच तीन प्रकार का होता है —

1. भोगायतन—शरीर 2. भोगसाधन—इन्द्रिय 3. भोग्यविषय—पदार्थ इस त्रिविध प्रपंच के सम्बन्ध का

आत्यन्तिक विलय ही मोक्ष है – “प्रपंच सम्बन्धविलयो मोक्षः” मोक्ष की अवस्था में सुख की अभिव्यक्ति होती है अथवा नहीं इस विषय में भी मीमांसक भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत करते हैं। प्रभाकर मीमांसकों के अनुसार मोक्ष में आनन्द की अभिव्यक्ति नहीं होती है जबकि भाट्ट सम्प्रदाय में यह मान्यता प्राप्त नहीं है कि मुक्तावस्था में नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है।

कुमारिल मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्म और ज्ञान दोनों को आवश्यक मानते हैं। तभी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। आत्म ज्ञान को मोक्ष का साधन नहीं समझना चाहिए। आत्म ज्ञान के साथ-साथ नित्य कर्म करते रहना आवश्यक है। प्रभाकर ने मोक्ष प्राप्ति के लिए भोग के द्वारा धर्म तथा अधर्म का क्षय करना चाहिए। काम्य और निषिद्ध कर्मों को नहीं करना चाहिए।

9.17 अद्वैतवेदान्त में मोक्षस्वरूप

अद्वैतमत के अनुसार यह जागृत प्रपंच अविद्यारूप है। ब्रह्मज्ञान होने पर अविद्या की निवृत्ति हो जाती है और अविद्या का नाश हो जाने पर जगत् भी निवृत्त हो जाता है। मोक्षावस्था ज्ञान के द्वारा ही आविर्भूत होती है उपनिषदों में कहा गया है – “ऋते ज्ञानान् मुक्तिः” अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती और नित्य ज्ञान ही ब्रह्म है कहा भी गया है –

“ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो कथञ्चन

ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः।।”

वेदान्त के अनुसार यह आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्मभाव ही मोक्ष है। ब्रह्म स्वरूप होने के कारण मोक्ष नित्य है इसलिए मोक्ष 1. घट के समान उत्पाद्य नहीं है 2. दध्यादि में समान विकार्य नहीं है 3. वह प्राप्य भी नहीं है 4. संस्कार्य भी नहीं है। आत्मा सदैव व सर्वत्र विद्यमान होता है, इसलिए उपर्युक्त क्रियाओं का निषेध किया गया है और अपवाद प्रक्रिया के पश्चात् “अहं ब्रह्मास्मि” इस प्रकार की अखण्डाकाराकारिता चितवृत्ति उदित होती है और तदन्तर “ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति” इस प्रकार का चरम बिन्दु प्राप्त करना ही मोक्ष है।

शंकराचार्य ने मोक्ष सम्बन्धी विचार ब्रह्मसूत्र भाष्य (1.1.4) में प्राप्त होते हैं – “यह परमार्थ है, कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है सभी विकारों से शून्य है, नित्य तृप्त है। अवयवों से रहित है, स्वभाव से स्वयं प्रकाश है। वह ऐसी स्थिति में है जहाँ तक पाप और पुण्य अपने फल सहित त्रिकाल में भी नहीं पहुंच सकते।”

9.17.1 मोक्ष कूटस्थ नित्य –

मोक्ष को कूटस्थ नित्य कहा गया है। संसार में कुछ वस्तुएं ऐसी हैं जो परिवर्तित होती रहती हैं फिर भी एकरूपता को बनाये रखती हैं। जैसे – नदी। इसके विपरीत कुछ वस्तुएं अपरिवर्तनशील रहते हुए भी नित्य हैं – पर्वत। ऐसी नित्यता को वेदान्त में कूटस्थनित्यता कहते हैं। शंकर के अनुसार ब्रह्म कूटस्थ नित्य है।

9.17.2 मोक्ष सभी विकारों से रहित –

मोक्ष प्राप्ति में रज्जु सर्प भ्रम के दूर होने के समान केवल ज्ञानगत है, सत्तागत नहीं। रज्जु में सर्प का भ्रम को दूर करने के लिए, रज्जु में किसी प्रकार का परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं, केवल हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन करने की आवश्यकता है ठीक इसी प्रकार मोक्ष को प्राप्त करने में ब्रह्म में किसी प्रकार परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं, परिवर्तन केवल हमारे दृष्टिकोण अर्थात् ज्ञान के जगत् में होता है।

जीवन्मुक्ति – “तत्त्वमसि” वाक्य के द्वारा ब्रह्म और जीव की एकता का ज्ञान हो जाने पर जब परब्रह्म का साक्षात्कार होता है अर्थात् “अहं ब्रह्मास्मि” का ज्ञान होता है तब अज्ञान एवं उसके कार्यों का नाश हो जाने पर संचित संशय, विपर्यय आदि कर्म भी नष्ट हो जाते हैं तब ब्रह्मज्ञानी जीवित रहते हुए भी समस्त सांसारिक

बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इसी अवस्था को "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (छा.उ. 6/14/2) श्रुति के रूप में कहा गया है।

विदेहमुक्ति – जीवन्मुक्त पुरुष का जब देहावसान हो जाता है तब वह विदेहमुक्त कहलाता है। विदेह मुक्ति में जीवन्मुक्त का स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर नहीं रह जाता। जीवन्मुक्त की यही शरीरविहीन अवस्था विदेहमुक्ति के नाम से जानी जाती है।

इस प्रकार भारतीय दर्शनो में सभी शाखाओं द्वारा मोक्ष को तो स्वीकार किया गया है परन्तु मोक्ष की प्राप्ति, मोक्ष का स्वरूप और मोक्ष के साधन इन तीन विषयों में जो भिन्न-भिन्न मत प्राप्त होते हैं उनका संक्षेप में यह विवेचन है।

9.18 बोध प्रश्न

1. न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा का वर्णन कीजिए ?
2. अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा का वर्णन कीजिए ?
3. योग दर्शन के अनुसार मोक्ष का वर्णन कीजिए ?
4. जैन, बौद्धदर्शन के अनुसार मोक्ष के स्वरूप का वर्णन कीजिए?

9.19 कतिपय उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन – उमेश मिश्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ
2. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण – संगमलाल पाण्डेय, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद
3. भारतीय दार्शनिक निबन्ध – डी.डी. बदिष्टे, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
4. भारतीय दर्शन – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी

9.20 बोध प्रश्नोत्तर

1. द्रष्टव्य इकाई 9.6
2. द्रष्टव्य इकाई 9.9
3. द्रष्टव्य इकाई 9.15
4. द्रष्टव्य इकाई 9.12,13

इकाई 10

भारतीय दर्शन में ईश्वर का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

- 10.0 उद्देश्य
- 10.1 प्रस्तावना
- 10.2 भारतीय दर्शन में ईश्वर का स्वरूप
- 10.3 योगदर्शन में ईश्वर का स्वरूप
 - 10.3.1 ईश्वर और मुक्त पुरुषों में भेद
 - 10.3.2 ईश्वर का वाचक शब्द
- 10.4 न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर का स्वरूप
 - 10.4.1 ईश्वर क्या है ?
 - 10.4.2 ईश्वर के गुण
 - 10.4.3 प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ईश्वर सिद्धि
 - 10.4.4 अनुमान प्रमाण द्वारा ईश्वर सिद्धि
- 10.5 वेदान्त दर्शन में ईश्वर की अवधारणा
 - 10.5.1 ईश्वर और जीव की व्यावहारिक सत्ता
 - 10.5.2. ईश्वर की सर्वज्ञता
 - 10.5.3 ईश्वर और ब्रह्म
 - 10.5.4 ईश्वर की जगत्कारणता
 - 10.5.5 ईश्वर की त्रिविध अवस्थाएँ
- 10.6 मीमांसादर्शन में ईश्वर की अवधारणा
- 10.7 बोध प्रश्न
- 10.8 कतिपय उपयोगी पुस्तकें
- 10.9 बोध प्रश्नोत्तर

10.0 उद्देश्य

- प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप –
1. भारतीय दर्शन में ईश्वर के स्वरूप से परिचित होंगे।
 2. न्याय वैशेषिक तथा योग दर्शन में ईश्वर के विषय में क्या-क्या सम्मति दी उसका विवेचन किया जायेगा।
 3. वेदान्त दर्शन में ईश्वर का विवेचन श्रुति प्रमाण के माध्यम से किया गया है।

10.1 प्रस्तावना

इस संसार में नाना दुःखों से युक्त जन्म मरण के आवागमन में घूमते हुए व्यक्ति को दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए किसी परम तत्त्व की आवश्यकता का अनुभव होता है, वही परम तत्त्व ईश्वर है। ईश्वर के स्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं। सामान्यतया जो व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, उन्हें

आस्तिक और जो ईश्वर को नहीं मानते; उन्हें नास्तिक कहा जाता है; किन्तु दर्शन के क्षेत्र में जो वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं वे आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। जो वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते हैं वे नास्तिक दर्शन कहलाते हैं।

न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर जगत् का स्रष्टा है। परमाणु जगत् का उपादान कारण है। परमाणु अचेतन है, जड़ है। वे स्वयं क्रियाशील नहीं हो सकते ईश्वर ही उनमें स्पन्दन क्रिया को उत्पन्न करता है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार निर्विशेष निर्गुण ब्रह्म जब माया से अविच्छिन्न होता है तब वह सगुण ब्रह्म हो जाता है और उसकी ईश्वर संज्ञा होती है।

योग दर्शन में ईश्वर का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। योगसूत्र में महर्षि पतञ्जलि ने ईश्वर का लक्षण इस प्रकार किया है – “क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः” योग के अनुसार ईश्वर नित्य है, सर्वज्ञ है, सर्वव्यापक है, भूत वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों से अतीत है। ज्ञान की उच्चतम कोटि ईश्वर है वह ज्ञान का सर्वोत्तम सर्वातिशायी प्रतीक है।

10.2 भारतीय दर्शन में ईश्वर का स्वरूप

विविध प्रकार के जीव जन्तुओं से परिपूर्ण इस संसार में एक व्यवस्था दिखाई देती है। प्रकृति की विविधताओं और जैविक व्यापारों का सन्तुलन अनायास नहीं हो सकता। जीवन की सर्वप्रथम सृष्टि का हल विज्ञान अभी तक नहीं खोज पाया है। संसार की विभिन्नताओं का आरम्भक कोई एक तत्त्व, जो इन सभी से परे हो, अवश्य होना चाहिए; वह परम तत्त्व ईश्वर ही है। ईश्वर के स्वरूप के विषय में प्रत्येक दर्शन शाखा भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत करती है। योग दर्शन में ईश्वर को सर्वोच्च स्थान दिया गया है, जबकि वेदान्त दर्शन में ब्रह्म की अपेक्षा ईश्वर अवरकोटि का तत्त्व है जबकि सांख्य दर्शन में ईश्वर का संकेत मात्र भी प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार मीमांसा दर्शन में भी एक सम्प्रदाय तो ईश्वर को स्वीकार नहीं करता है। (जबकि सूत्रकार और पारम्परिक टीकाकारों ने स्वीकार नहीं किया है) प्रत्येक दर्शनशाखा में ईश्वर के स्वरूप के विषय में जो विचार-विमर्श किया गया है वह इस प्रकार है –

10.3 योग दर्शन में ईश्वर का स्वरूप

भारतीय दर्शनों में योगदर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही एक ऐसा दर्शन है जो आत्मदर्शन के विशुद्ध व्यावहारिक पद्धति का दिग्दर्शन करता है। इस दर्शन में कैवल्य प्राप्ति के प्रायोगिक पक्ष का विशेष रूप से बल दिया गया है। योगदर्शन द्वारा बतलाये हुए रास्ते पर चलकर साधक ईश्वर के समकक्ष अवश्य पहुँच जाता है। भूत भविष्यत् और वर्तमान के ज्ञान में तथा कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् में समर्थ हो सकता है।

सांख्यदर्शन और योगदर्शन इन दोनों को समान तन्त्र कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सांख्य जिन 25 तत्त्वों अथवा प्रमेयों को स्वीकार करता है योग दर्शन भी उन सभी तत्त्वों को प्रमेय के रूप में स्वीकार करता है। सांख्य से योग की विशेषता इस रूप में है कि इन 25 के अलावा योगदर्शन ईश्वर के रूप में 26 वाँ तत्त्व भी स्वीकार करता है। इसलिए योग दर्शन को ‘सेश्वर’ सांख्य भी कहा जाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्रों के प्रथम समाधि पाद में सूत्र संख्या 24 से लेकर 29 तक लगातार 6 सूत्रों में ईश्वर उसके स्वरूप, प्रमाण आदि का निरूपण किया है –

‘क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः’ । 24 ।।

सांख्ययोग दर्शन में कर्मफलों के भोक्ता के रूप में पुरुष या आत्मा की कल्पना की गई है। सामान्य जीवात्मा क्लेशकर्म विपाक (कर्मफल) और आश्रय (वासना) इन चारों से सस्पृष्ट रहता है लेकिन पतञ्जलि ने प्रयुक्त सूत्र में ईश्वर को इन क्लेश, कर्म, विपाक और आश्रय से सर्वथा असम्पृक्त पुरुष विशेष बतलाया है। वस्तुतः क्लेश, कर्म, विपाक और आश्रय— ये चारों बुद्धि में रहते हैं। पुरुष में तो उनका उपचार से कथन किया जाता है। जैसा कि युद्ध में हार या जीत सैनिकों की होती है लेकिन उपचार से वह हार या जीत राजा की कही जाती है। उसी प्रकार बुद्धिगत फलों का भोग करने वाले के रूप में पुरुष का कथन किया जाता है लेकिन वास्तव में सभी जीव भोक्ता नहीं होते हैं। ईश्वर पुरुष विशेष इस रूप में है कि उसमें भोक्ता आदि का व्यवहार उपचार

से भी नहीं होता है।

10.3.1 ईश्वर और मुक्त पुरुषों में भेद —

वैसे तो मुक्त पुरुष भी क्लेश कर्म आदि से सर्वथा असम्पृक्त है, क्योंकि वे कैवल्य को प्राप्त हो गए हैं लेकिन उनको ईश्वर नहीं माना जा सकता क्योंकि मुक्त पुरुष कैवल्य प्राप्ति के पहले तो बन्धन में थे ही जबकि ईश्वर कभी बन्धन में नहीं आता —

‘स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर’

मुक्त पुरुषों की तरह ईश्वर प्र.तिलीन जीवों से भी भिन्न हैं क्योंकि प्र.तिलीन पुरुष अभी भले ही बन्धन में न हो लेकिन बाद में वे बन्धन में आ सकते हैं। ईश्वर का ऐश्वर्य सर्वाधिक शाही हैं। ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज अपने पराकाष्ठा में होता है। इसलिए महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि —

‘तत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम्’ । 25 ॥

काल की सीमा से परे होने के कारण ईश्वर पूर्ववर्ती ऋषियों गुरुजनों का भी गुरु है। ईश्वर जिस प्रकार सृष्टि के पहले उत्कृष्ट ऐश्वर्य से युक्त था उसी प्रकार विगत सभी सृष्टियों से पहले भी वह विद्यमान था। इसलिए महर्षि पतञ्जलि का कहना है —

‘स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्’ ॥ 26 ॥

10.3.2 ईश्वर का वाचक शब्द —

प्रणव अर्थात् ओङ्कार ईश्वर का वाचक शब्द है। अपने स्वरूप को बोध करने के लिए ईश्वरवाचक ओङ्कार का जप करना आवश्यक है और वह जप भी ईश्वर की भावना के साथ करना चाहिए। पतञ्जलि ने निम्न दो सूत्रों में इसी बात को सिद्ध किया है —

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ 27 ॥

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ 28 ॥

विष्णु पुराण में भी परमात्मा के साक्षात्कार के लिए ओङ्कार जप का विधान बतलाया गया है। वहाँ पर ओङ्कार जप को स्वाध्याय के रूप में बतलाया गया है —

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।

स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

इस प्रकार योग दर्शन में परम पुरुष के रूप में ईश्वर को स्वीकार कर यह भी सिद्ध किया गया है कि ईश्वर प्राणिधान से अर्थात् अपने सभी कर्मों का ईश्वर में समर्पण कर देने से साधक को शीघ्र समाधि लाभ होगा और वह सभी प्रकार के दुःखों से निवृत्त होगा।

10.4 न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर का स्वरूप

भारतीय दर्शनों में न्याय दर्शन का ईश्वर की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। न्यायदर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम विरचित न्यायसूत्र में ईश्वर की चर्चा की गयी है। इसके भाष्यकारों में वात्स्यायन, उद्योतकर का विशेष नाम है। उदयनाचार्य और जयन्तभट्ट ने तो न्यायदर्शन के ईश्वर को मुख्य विषय बनाया है।

10.4.1. ईश्वर क्या है ? —

न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर जगत् का सृष्टा, पालक और संहारक है। वह जगत् का उपादान कारण नहीं अपितु निमित्त कारण है। ईश्वर नित्य, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान, कर्मफलदाता तथा सृष्टि का रचियता है। वह अपने साथ रहने वाली नित्य, सत्ताओं, परमाणुओं, दिक् काल, आकाश, मन तथा आत्माओं से जगत् की सृष्टि करता है। उसी की इच्छा से जगत् स्थिर रहता है।

उद्योतकर के अनुसार ईश्वर निराकार, सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, अनादि-अनन्त न्यायकारी सृष्टि की उत्पत्ति पालन एवं संहार का हेतु है —

ईश्वरौर्व्य निराकारः सर्वज्ञ शक्तिमान्
 अनादि रविकारी चान्यतः सर्वगतो विभुः
 सच्चिदानन्दरूपी य दयालुर्न्याय तत्परः
 सर्गस्थिते लये हेतुः नित्यतृप्तो निर्भयः ॥

10.4.2. ईश्वर के गुण –

न्याय दर्शन में ईश्वर को "षडैश्वर्य" कहा गया है।

- (i) आधिपत्य – ईश्वर विश्व पर शासन करता है। विश्व उसी के द्वारा संचालित और नियमित है। ईश्वर कर्ता है और विश्व कार्य।
- (ii) वीर्य – ईश्वर में इतनी शक्ति है कि वह सम्पूर्ण विश्व को अपने अधिकार एवं संरक्षण में रख सकता है। वह शक्ति का मूर्त रूप है।
- (iii) यश – अपनी अनन्त सत्ता शक्तिमता और दयालुता के कारण ईश्वर यश सर्वत्र व्याप्त है।
- (iv) श्री – धन की देवी लक्ष्मी उसकी सहचरी है वह उससे युक्त होकर विश्व की सुरक्षा करता है।
- (v) ज्ञान – ईश्वर अनन्त ज्ञान धारण करता है। उसी से अन्य लोग ज्ञान प्राप्त करते हैं। वह ज्ञान की अनन्त राशि है और अंश रूप में उस ज्ञान को योगी योगाभ्यास से प्राप्त करते हैं।
- (vi) वैराग्य – ईश्वर समस्त सृष्टि का निर्माण करता है फिर भी उसमें लिप्त नहीं है। वह निर्लिप्त रहता है। वह तटस्थ रहता है। उसमें जगत् के प्रति अनुराग नहीं है।

न्यायसिद्धान्त मुक्तावलीकार विश्वनाथ ने ईश्वर के आठ गुण बताये हैं— संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न।

उदयनाचार्य ने किरणावली में कहा है कि वृद्धि इच्छा और प्रयत्न ईश्वर के विशेष गुण हैं अन्य सामान्य गुण हैं। संख्या गुण का अर्थ है कि ईश्वर एक है। परिमाण गुण का अर्थ है कि ईश्वर परम एवं महत है।

10.4.3. प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ईश्वर सिद्धि –

ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए न्यायदर्शन ही ऐसा अकेला दर्शन है जिसने श्रुति के अतिरिक्त तार्किक प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं। न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का होता है – लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष। अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है – 1. सामान्य 2. ज्ञान 3. योगज प्रत्यक्ष। योगज प्रत्यक्ष के द्वारा जो ज्ञान योगियों को योगाभ्यास द्वारा प्राप्त होता है ऐसे ऋषि भूत भविष्य वर्तमान सभी सूक्ष्म वस्तुओं का अनुभव करते हैं। ऐसा ज्ञान योगज प्रत्यक्ष कहलाता है। ऐसे ऋषि को ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

10.4.4. अनुमान प्रमाण द्वारा ईश्वर सिद्धि –

अनुमान प्रमाण न्यायदर्शन का प्रमुख प्रमाण है। न्यायदर्शन के प्रसिद्ध दार्शनिक उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमांजलि में ईश्वरसिद्धि के लिए नौ अनुमान प्रस्तुत किए हैं –

"कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।

वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविद्वयः" ॥ 5/1

- (i) कार्यात् – यह तर्क कारण कार्य के आधार पर दिया है। जगत् एक सावयव और भावात्मक कार्य है। जगत् का कोई एक निमित्त कारण होना चाहिए। वह चेतन तत्त्व ही हो सकता है, वह चेतन तत्त्व ईश्वर है।
- (ii) आयोजनात् – सर्ग से पूर्ण परमाणु निष्क्रिय रहते हैं। सृष्टि के लिए परमाणुओं का संयोग एवं उनका सक्रिय होना आवश्यक है और चेतन के बिना वे स्वतः क्रियाशील नहीं हो सकते। अतः उन परमाणुओं को क्रियान्वित करने वाला तथा संयुक्त करने वाला जो है वह ईश्वर ही है।
- (iii) धृत्यादेः – जगत् को कोई धारण करने वाला और संहार करने वाला होना चाहिए और संसार की

उत्पत्ति तथा संहार जिससे होता है वह तत्त्व ईश्वर है।

- (iv) **पदात्** — ईश्वर विश्व की समस्त कला कलाओं और विचित्रताओं का पद अर्थात् उद्गम स्थान है। ईश्वर प्रथम शिक्षक है। इसलिए उसे "गुरुणांगुरु" भी कहा जाता है।
- (v) **श्रुतेः** — श्रुति ही ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करती है। हिरण्यगर्भ आदि सूक्त इस सन्दर्भ में उद्धृत किए जा सकते हैं। वेद वाक्य ईश्वर की सत्ता के प्रमाण है।
- (vi) **प्रत्ययतः** — प्रत्यय का अर्थ है प्रामाण्य। वेदों में प्रामाण्य का कारण सर्वज्ञ ईश्वर है।
- (vii) **वाक्यात्** — वेद वाक्य अपौरुषेय है। इनसे अतीन्द्रिय सत्ता एवं वस्तुओं का प्रतिपादन होता है। अतः वेदों के रचयिता के रूप में सर्वज्ञत्व आदि गुणों से युक्त ईश्वर को अस्तित्व सिद्ध होता है।
- (viii) **संख्याविशेषात्** — दो परमाणुओं से द्वित्व संख्या विशिष्ट द्वयणुक की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के समय आत्मा, अणु, अदृष्ट, दिक्, काल, मन आदि सभी अचेतन रहते हैं। इनकी संख्या ईश्वर को ही ज्ञात रहती है और उसी से सृष्टि का आविर्भाव होता है। इससे भी ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।
- (ix) **अदृष्ट** — व्यक्ति अपने कर्मोनुसार फल भोगता है। कर्म एवं फल के बीच कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। शुभ तथा अशुभ कर्मों से उत्पन्न पुण्य तथा पाप के भण्डार को "अदृष्ट" कहा जाता है। यह अदृष्ट स्वतः ज्ञात नहीं होता। इसलिए ईश्वर ही अचेतव दृष्टि का संचालन करता है।

10.5 वेदान्त दर्शन में ईश्वर की अवधारणा

वेदान्त दर्शन में ईश्वर तथा ब्रह्म यह दोनों पृथक् हैं। ब्रह्म तो नित्य, शुद्ध, मुक्त स्वभाव है जबकि ईश्वर सोपाधिक है। तात्पर्य यह है कि निरुपाधिक और निर्गुण ब्रह्म से सृष्टि नहीं हो सकती। जगत् की सृष्टि में मायावच्छिन्न उपाधि से युक्त ईश्वर ही समर्थ हैं। माया ईश्वर की स्वाभाविक शक्ति है जिसके द्वारा वह नाम रूपात्मक अत्यन्त वैचिष्य पूर्ण जगत् की सृष्टि करता है वह ईश्वर ही जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण है।

शंकराचार्य के अनुसार जब निःविशेष ब्रह्म स्वलीला के लिए मायावच्छिन्न होकर इस जगत् की सृष्टि करता है तब ईश्वर कहलाता है। श्रुति भी इस दर्शन का समर्थन करती है — 'एषः सर्वेश्वरः एष सर्वज्ञ, एषोऽन्तर्यामिणः योनिः सर्वस्य'

शंकराचार्य ने पारमार्थिक दृष्टि से जीव, ईश्वर एवं ब्रह्म में भेद नहीं किया है। व्यावहारिक या औपाधिक प्रतीति के आधार पर ही इन तीनों के पार्थक्य की कल्पना की गयी है।

10.5.1 ईश्वर और जीव की व्यावहारिक सत्ता —

शंकर के दर्शन में ईश्वर एक व्यावहारिक सत्ता है। ईश्वर को शासक माना जाता है और जीव को शासित। ईश्वर और जीव का सम्बन्ध स्वामी और सेवक के रूप में है। ईश्वर उपकार करने वाला है और जीव उपकृत होता है सृष्टि का प्रश्न एक व्यवहारिक समस्या है उसी को सुलझाने के लिए ईश्वर को माना गया।

10.5.2. ईश्वर की सर्वज्ञता —

विशुद्ध सत्वप्रधान उपाधि से उपहित होने के कारण ईश्वर सर्वज्ञ कहा जाता है कि इसलिए मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है —

यः सर्वज्ञः स सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।

तस्मादेतद् ब्रह्मनाम रूपमन्नं च जायते। 1/1/9

ईश्वर की ज्ञान क्रिया नित्य मानी गयी है। ईश्वर के नित्य विज्ञान का व्याख्यान करते हुए "ईक्षत्यधिकरण" में भाष्यकार शङ्कर कहते हैं — "यत्प्रसादाद्धि योगिनामपि अतीतानामगतविषयं ज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः किमु वक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धेश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहतिविषय नित्यं ज्ञानं भवतीति।"

ब्र.सू.शा.भा. 1/1/5

अर्थात् योगशास्त्र के ज्ञाता जिसके प्रसाद से अतीत तथा अनागत के ज्ञान का साक्षात्कार करते हैं उस नित्यसिद्ध ईश्वर के सृष्टि स्थिति तथा संहारकविषयक नित्यज्ञान का कहना ही क्या ?

10.5.3. ईश्वर और ब्रह्म –

शंकर के दर्शन के अनुसार निर्गुण ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। ब्रह्म शुद्ध, पारमार्थिक, मुक्त, नित्य और निरपेक्ष है। माया द्वारा आवृत्त ब्रह्म ईश्वर है और वह ब्रह्म का विवर्त है। ब्रह्म निर्वैक्तिक है ईश्वर परम पुरुष है। ब्रह्म अनुभूति का विषय है और ईश्वर की उपासना की जाती है ब्रह्म पारमार्थिक सत्य है। ईश्वर केवल व्यावहारिक सत्य है। पारमार्थिक स्तर पर ईश्वर और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है।

10.5.4. ईश्वर की जगत्कारणता –

“यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” 3/1 यह तैत्तिरीय श्रुति ईश्वर की जगत्कारणता को द्योतित करती है। “जन्माद्यस्य यतः” ब्रह्मसूत्र 1/1/2 ब्रह्म का तटस्थ लक्षण करने वाले शारीरिक सूत्र ईश्वर की जगत्कारणता को प्रमाणित करते हैं।

10.5.5. ईश्वर की त्रिविध अवस्थाएँ –

जीव के समान ईश्वर की भी तीन अवस्थाएँ मानी गयी हैं – 1. जाग्रत 2. स्वप्न 3. सुषुप्ति

(i) सुषुप्त्यवस्था – ईश्वर की सुषुप्त्यवस्था को महाप्रलय कहा जाता है। वाचस्पति मिश्र की भामती टीका में कहा गया है –

यस्य च सुप्तं महाप्रलयः। 3

सुषुप्ति की स्थिति में स्थूल तथा सूक्ष्म जगत् का कारणभूत अज्ञान अव्याकृत अवस्था में रहता है। सुषुप्ति में कारण शरीर उपाधि बनता है जिसे आनन्दमय कोश कहते हैं। इसलिए वेदान्तरसार में कहा गया –

“ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात् कारणशरीरम् आनन्दप्रचुरत्वात् कोशवद् आच्छादकत्वाच्च आनन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिः अतएव स्थूल सूक्ष्मलयस्थानमितिचोयते।”

(ii) स्वप्नावस्था – “सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय” श्रुति के अनुसार जब आनन्दमय ईश्वर सूक्ष्म भूतों की सृष्टि के लिए प्रवृत्त होता है तो उसकी सुषुप्ति स्वप्नावस्था बन जाती है। सूक्ष्म शरीरों की समष्टि से उपहित ईश्वर समस्त प्राणियों के शरीर में ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति से युक्त होने के कारण विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय कोशों के रूप में व्यपदिष्ट होता है।

(iii) जाग्रदवस्था – पञ्चीकरण के उपरान्त स्थूल भूतों से स्थूल शरीरों की उत्पत्ति होने पर स्थूल शरीरों की समष्टि का अभिमानी ईश्वर प्राणियों का अधिष्ठाता होने के कारण वैश्वानर, विराट तथा पूर्ण होने से पुरुष हो जाता है। पञ्चदशीकार लौकिक उदाहरण द्वारा चित्तदीप प्रकाश में कहते हैं – “जिस प्रकार सूर्योदय के अनन्तर सूर्य के आतप से प्रकाशित होने वाला जगत् रंग बिरंगे वस्त्र, सस्य एवं फलों से युक्त दिखाई देता है उसी प्रकार जाग्रदवस्था में विराट रूप ईश्वर भी विशद शरीर वाला होता है।”

सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतोऽकुरितं यथा

कोमलं तद्वदेवैष पेलवो जगदङ्कुरः। 6/203

ईश्वर का यही विराट शरीर लोक में राम, कृष्ण, गणेशादि के रूप में अभीष्ट सिद्धि के लिए भक्तों द्वारा समर्पित होता है।

10.6 मीमांसादर्शन में ईश्वर की अवधारणा

मीमांसा सूत्रकार जैमिनि तथा भाष्यकार शबर स्वामी कर्मफलप्रदाता एवं सृष्टिसर्जक के रूप में ईश्वर की

सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं उनके अनुसार कर्म स्वयं ही फल देने में समर्थ है। मीमांसा दर्शन में अपूर्व की कल्पना की गई है जो कि कर्म एवं कर्मफल के बीच की कड़ी है।

वेदों में कर्ता के रूप में भी ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती; क्योंकि मीमांसा दर्शन के अनुसार वेद अपौरुषेय है।

परन्तु प्रभाकर मीमांसकों ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है। इस विषय में लौगाक्षिभास्कर और आपदेव को उद्धृत किया जा सकता है उन्होंने स्पष्ट रूप से ईश्वर का निरूपण किया है।

10.7 बोध प्रश्न

1. योगदर्शन के अनुसार ईश्वर का निरूपण कीजिए ?
2. न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार ईश्वर का निरूपण कीजिए ?
3. वेदान्तदर्शन के अनुसार ईश्वर का निरूपण कीजिए ?

10.8 कतिपय उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन – उमेश मिश्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
2. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण – संगमलाल पाण्डेय, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद।
3. भारतीय दार्शनिक निबन्ध – डी.डी. बदिष्टे, मध्यप्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
4. भारतीय दर्शन – आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी।

10.9 बोध प्रश्न/उत्तर

1. द्रष्टव्य इकाई 10.3
2. द्रष्टव्य इकाई 10.4
3. द्रष्टव्य इकाई 10.5